श्रील प्रभुपादजीका उपदेशामृत

श्रील प्रभुपाद जी की उपदेशावली

१ श्रीमन्महाप्रभु के शिक्षाष्टक में लिखित 'परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनम्'– ही गौड़ीय मठ का एकमात्र उपास्य है।

२ विषयविग्रह श्रीकृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं, बाकी सब उनके भोग्य हैं।

३ हरिभजनकारी के अतिरिक्त सभी मूर्ख और आत्मघाती हैं।

४ सहनशीलता की शिक्षा प्राप्त करना मठवासी का एक प्रधान कर्तव्य है।

५ श्रीरूपानुग भक्तगण, अपनी शक्ति के प्रति कोई आस्था स्थापित न करके, मूल–कारण पर सारी महिमा का आरोप करते हैं।

६ श्रीहरिनाम–ग्रहण और भगवान् का साक्षात्कार, दोनों एक ही हैं।

७. जो पाँच मिशाल अथवा पंचदेवोपासना करते हैं, वे लोग, भगवान् की सेवा नहीं कर सकते।

८. मुद्रणालय की स्थापना, भक्तिग्रन्थों का प्रचार और नाम के प्रचार से ही, श्रीमायापुर की वास्तविक सेवा होगी।

९. सब परस्पर मिलकर तथा एक उद्देश्य लेकर, हरि–सेवा करें।

१०. जहाँ हरिकथा हो, वहीं तीर्थ है।

११. हम लोग सत्कर्मी, कुकर्मी या ज्ञानी, अज्ञानी नहीं हैं । हम तो, निष्कपट – हरिजनों के पादत्राणवाही, 'कीर्तनीयः सदा हरिः, मंत्र में दीक्षित हैं ।

१२. दूसरे के स्वभाव की निन्दा न करके अपना ही सुधार करना, यही मेरा उपदेश है ।

१३. श्रीमन्महाप्रभु की नीति के अन्दर क्षत्रियनीति, वैश्य, शूद्र और यवननीति नहीं दिखलाई पड़ती । उनके प्रचारित वाक्य से मालूम होता है कि उन्होंने ऋषिनीति का सर्वश्रेष्ठ शृंग (शिखर) अवलम्बन किया था । हम भी उसी पद का अनुसरण करके, ब्रह्मनीति भागवतधर्म का अवलम्बन करेंगे ।

१४. कृष्णविरह – कातर ब्रजवासियों की सेवा करना ही हमारा परम धर्म है ।

१५. महाभागवत, सर्वत्र गुरु दर्शन करता है; इसलिए महाभागवत ही एकमात्र जगद्गुरु है ।

१६. यदि श्रेयःपथ (नित्यकल्याणकारी मार्ग) चाहूँ तो असंख्य लोगों के विचारों का परित्याग करके, श्रौतवाणी का ही, श्रवण करूँगा ।

१७. श्रेयः (नित्यमंगलमय) वस्तु ही प्रिय होनी उचित है ।

१८. रूपानुगजन के दासत्व बिना, अन्तरंगभक्त की और कोई लालसा नहीं है ।

१९. वैष्णवगुरु की आज्ञा – पालन करने पर यदि मुझको 'दाम्भिक' होना पड़े, पशु होना पड़े और अनन्तकाल तक नरक में जाना पड़े तो मैं अनन्तकाल के लिए इस प्रकार के नरक में चला जाऊँगा । दुनियाँ के और सब लोगों के विचारों को श्रीगुरुपादपद्म की शक्ति से मुष्टिकाघात द्वारा विदूरित करूँगा । मैं इतना बड़ा दाम्भिक हूँ ।

२०. निर्गुण–वस्तु का साक्षात्कार करने के लिए एकमात्र कान को छोड़कर और कोई उपाय नहीं है ।

२१. जिस क्षण हमारा रक्षाकर्ता नहीं रहेगा उसी क्षण हमारी निकटवर्तीनी सब वस्तुएँ शत्रु होकर हम पर आक्रमण करेंगी । सच्चे साधु की हरिकथा ही हमारी रक्षक है ।

२२. खुशामद करने वाला गुरु या प्रचारक नहीं होता ।

२३. पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि लाखों योनियों में रहना अच्छा है; तथापि कपट का आश्रय लेना अच्छा नहीं है । कपटरहित–व्यक्ति का ही मंगल होता है ।

२४. सरलता का दूसरा नाम ही वैष्णवता है, परमहंस वैष्णवदासगण सरल होते हैं, इसलिए वे ही सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण हैं ।

२५. जीव की बहिर्मुख रुचि को बदलना ही सर्वापेक्षा दयालु व्यक्तियों का एकमात्र कर्तव्य है । माया के जाल से एक जीव की रक्षा कर सको तो अनन्त कोटि अस्पताल बनाने की अपेक्षा उससे अनन्तगुण परोपकार का कार्य होगा ।

२६. गौड़ीय मठ का निःस्वार्थ–दयाशील प्रत्येक व्यक्ति इस मनुष्य समाज में से प्रत्येक व्यक्ति के चित्शरीर के पोषण के लिए दो सौ गैलन रक्त खर्च करने के लिए प्रस्तुत रहे ।

२७. गौड़ीय मठ के सेवकों के रात–दिन के परिश्रम से जो अर्थ संग्रह होता है, उसकी एक–एक पाई, जगत् का इन्द्रियतर्पण बन्द करके कृष्णइन्द्रियतर्पण की कथा में खर्च होता है ।

२८. जिनकी आत्मविद् के पास, स्वतः भगवत्सेवा की वृत्ति सब समय जाग्रत नहीं हुई, उन सब लोगों का संग कितना ही प्रीतियुक्त क्यों न हो, परित्याग करना चाहिए ।

२९. केवल आचाररहित प्रचार, कर्म के अन्तर्गत है ।

३०. भोगी के भोगों के लिए ईंधन जोड़ने और ज्ञानी के विषय से विदग्ध विचारों का अनुगमन करने के लिए, हमारे मठ की स्थापना नहीं हुई है । केवल एक-दो रुपयों से मठ का उपकार समझना हमारा लक्ष्य नहीं है । परन्तु यदि किसी का भी उपकार कर सको तो तभी वह व्यक्ति कृष्णसेवामय मठ की सेवा करेगा ।

३१. श्रीभक्तिविनोद ठाकुर जी ने 'श्रीनामहट्ट' के झाड़ूदाररूप से अपना परिचय देकर, आप्राकृतलीला को प्रकट किया है । यह ठीक है कि उनकी प्रपंच को मार्जन करने की इस सेवा के उपकरण के रूप में हमारे जैसे सैकड़ों लोगों द्वारा महाजनानुगमन एवं बहिर्मुख संग का परित्याग करने का कार्य, जगत् का अप्रिय होने पर भी, हम लोगों का वास्तविक कल्याण करेगा ।

३२. भगवान् और भक्त की सेवा करने से ही, गृहव्रत-धर्म क्षीण होता है ।

३३. श्रीकृष्ण के अतिरिक्त विषय आदि का संग्रह करना ही, हमारी मूल-व्याधि है ।

३४. हम लोग जगत् में लकड़ी, पत्थर के कारीगर बनने नहीं आये हैं । हम तो श्रीचैतन्यदेव की वाणी के वाहकमात्र हैं ।

३५. हम लोग, इस जगत् में अधिक दिन नहीं रहेंगे, हरिकीर्तन करते-करते हमारा देहपात होने से ही, इस देह-धारण की सार्थकता होगी ।

३६. श्रीचैतन्यदेव के मनोऽभीष्ट संस्थापक, श्रीरूपगोस्वामीके चरण कमलों की धूलि ही, हमारे जीवन की एकमात्र अभिलाषा की वस्तु है ।

३७. निर्भीक होकर जो निरपेक्ष सत्यकथा बोलता है, शत-शत जन्मों के बाद तथा शत-शत युगों के बाद भी कोई न कोई इसका निगूढ़ सत्य तत्त्व समझ सकता है । शत-शत गैलन रक्त खर्च न होने पर्यन्त एक व्यक्ति को भी सत्यकथा समझाई नहीं जा सकती ।

३८. जो लोग नित्यप्रति एक लाख नाम नहीं करते, उसके हाथ से भगवान कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करते ।

३९. अनर्थयुक्त अवस्था में श्रीराधाजी का दासी होने का सौभाग्यलाभ कभी नहीं होगा । जो लोग अनर्थयुक्त अनाधिकारी अवस्था में परमश्रेष्ठ सेविका श्रीराधारानी की अप्राकृत लीलाओं की आलोचना करते हैं, वे लोग इन्द्रियारामी, प्रछन्नभोगी और प्राकृत सहजिया हैं।

४०. श्रीनाम ग्रहण करते-करते अनर्थ निवृत्ति होने पर श्रीनाम के द्वारा ही रूप, गुण और लीला की अपने आप स्फूर्ति प्राप्त होगी। चेष्टा करके कृत्रिम भाव से रूप, गुण और लीला का स्मरण नहीं करना चाहिए ।

४१. दीक्षा का अभिनय करना और दिव्य ज्ञान प्राप्त करना एक नहीं है ।

४२. जो लोग भगवान की सेवा करते हैं, जगत में वे ही धन्य हैं। सभी असुविधाओं, कष्टों और दुःखों के रहने पर भी भगवानकी कथा श्रवण, कीर्तन और स्मरण करते रहना

४३. श्रीगुरुदेव एकान्त रूप से भगवान के सेवक हैं । उनके प्रत्येक कार्य भगवद् सेवा के सर्वोत्तम आदर्श हैं, गुरुदेव के दर्शन में जब तक ऐसी दृष्टि नहीं होगी तब तक मेरी आँखों में बाधा की पट्टी लगी रहेगी । उनकी दया प्राप्त नहीं होने से, दिव्य ज्ञान प्राप्त नहीं होने से, हम गुरुपादपद्म की महिमा को समझ नहीं सकते हैं ।

४४. पैसा होने से ही भगवत् सेवा होगी ऐसा नहीं; परन्तु हरिकथा-प्रचार एवं हरिसेवा के लिए निर्बन्धिनी मति, दृढ़ संकल्प एवं अकपट सेवामय प्राण रहने से ही भगवत् सेवा कार्य होगा । तुम लोग पैसे के लिए चिन्ता मत करना । अर्थ या पैसे के द्वारा मठ आदि की रक्षा नहीं होती, परन्तु विषयों का स्वभाव ही ऐसा है, जो कि हरिसेवा में अयुक्त व्यक्ति को विषय-भोग में ही प्रमत्त करा देता है ।

४५. अनन्त जीवन वेदान्त पढ़ने से मुक्ति नहीं होगी । अनन्त काल नाक दबाकर जमीन से दस बीस हाथ ऊपर उठने पर भी मंगल नहीं होगा, परन्तु स्वयं भागवत स्वरूप भक्तों के मुख से श्रीमद्भागवत कथा श्रवण करने से संसार के सभी जीवों का मंगल निश्चित रूप से होगा ।

1 **प्र० – कीर्तन क्या सर्वश्रेष्ठ अंग है ?**

उ० – भक्ति के जितने अंग हैं, उनमें कृष्णसंकीर्तन ही प्रधान एवं आवश्यक है । श्रीकृष्णसंकीर्तन के द्वारा ही परमार्थ (भक्ति) जीवन में अग्रसर होने की योग्यता प्राप्त होती है । श्रीकृष्ण नाम सर्वशक्तिमान है । उनमें समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने की तथा चरमफल कृष्णप्रेम प्रदान करने की क्षमता है ।

श्रीकृष्ण नाम के द्वारा हमारी भक्ति के अतिरिक्त समस्त प्रकार क्रियाओं से विरक्ति हो जाएगी तथा समस्त प्रकार की जड़ चिन्ताएँ एवं जड़ धारणाएँ दूर हो जाएँगी । यदि सौभाग्य से हमारी जिह्वा पर कृष्ण नाम उदित हो जाए, तभी हम जड़ जगत के प्रति अपने कर्तव्य जैसे – समाजसेवा, देशसेवा, माता – पिता की सेवा आदि को त्याग कर सम्पूर्ण रूप से भगवान की सेवा कर सकते हैं तथा तभी हमारी भोग करने की लालसा भी दूर हो सकती है । कृष्ण नाम के द्वारा ही भक्तिमार्गमें आनेवाली समस्त प्रकारकी विघ्न – बाधाएँ सहज रूपमें ही दूर हो सकती हैं । यह कृष्ण नाम केवल साधन ही नहीं है, अपितु साधन का चरमफल साध्य भी है । ऐसे कृष्णनाम को गुरु के आनुगत्य में पुनः – पुनः श्रद्धा पूर्वक उच्चारण करना चाहिए । श्रीकृष्णनाम से समस्त प्रकार के मंगल उदित होते हैं । अतः ऐसे अद्‌भुत प्रभावशाली श्रीकृष्णनाम के द्वारा ही जीव का कल्याण हो सकता है । एकमात्र श्रीकृष्णनाम ही हमें नित्यानन्द – सागर में डुबा सकता है । यह नाम समस्त रसों का आश्रय है ।

श्रीगौरसुन्दर परम उपास्य वस्तु है । इस जगत में जितने भी उपास्य हो सकते हैं, ये उन समस्त उपास्यों के भी उपास्य हैं । स्वयं कृष्ण हो कर भी श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने भागवत – धर्म का आचरण कर जगत वासियों को दिखलाया कि श्रीकृष्ण – संकीर्तन ही भागवत धर्म की पराकाष्ठा है । श्रीकृष्ण संकीर्तन ही महाध्यान, महायज्ञ एवं महाअर्चण है । कृष्णका ध्यान, कृष्णका यज्ञ तथा कृष्ण का अर्चन साधारण है, परन्तु श्रीकृष्णसंकीर्तन रूप महाध्यान, महायज्ञ एवं महाअर्चण के द्वारा ही वे विषय अर्थात अर्चन, यज्ञ एवं ध्यान परिपूर्णता को प्राप्त कर चरमफलप्रद होते हैं ।

2 **प्र० – गृहस्थों का क्या कर्तव्य है ?**

उ० – यदि हम सर्वदा अपने शारीरिक सुखों के लिए ही चेष्टा करते रहेंगे तो अवश्य ही गृहव्रती हो जाएँगे सदा सर्वदा केवल श्रीकृष्णकी सेवा के लिए ही चेष्टा करने से हमारा कल्याण हो सकता है । जो स्त्री, पुत्र, घर, परिवार

एवं बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे निरन्तर कृष्ण भजन करते हैं, गृहस्थभक्तों को सदा-सर्वदा सब प्रकारसे उनकी सहायता तथा सेवा में लगे रहना चाहिए ।

तभी गृहस्थोंका कल्याण हो सकता है तथा संसार के प्रति उनकी आसक्ति कुछ कम हो सकती है । जो पारमार्थिक गृहस्थ अर्थात् गृहस्थ वैष्णव हैं, वे जिस प्रकार अपने स्त्री-पुत्र, कन्या आदि के लिए अथाह परिश्रम करते हैं, उसी प्रकार उन्हें भगवानकी सेवाके लिए भी करना चाहिए । यदि स्त्री-पुत्र तथा परिवारके अन्य सदस्य भजन करते हैं, तो उनका अच्छी प्रकार से पालन-पोषण करना चाहिए, नहीं तो दूध पिलाकर साँप को पालना उचित नहीं है । उनका संग भजनके प्रतिकूल तथा बाधक जानकर उनसे अलग हो जाना चाहिए ।

हमलोग जैसे ही प्रभु (भोक्ता) सजना चाहते हैं तथा दूसरोंपर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं, वैसे ही हम माया या प्रकृति के वशीभूत हो जाते हैं । वर्तमान समय में दुःखग्रस्त हमलोगोंका एकमात्र कल्याणप्रद कर्तव्य है कि हम संसार के प्रति आसक्ति त्यागकर कृष्णके संसारमें प्रवेश करें । निष्कपट रूपसे श्रीगुरुदेवके श्रीचरणोंका आश्रय लेनेपर ही हमारा संसारसे उद्धार हो सकता है, इस के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है । जिस गुरुकी कृपासे संसारसे किसीका उद्धार हो सकता है, क्या वे गुरु अभक्त, अन्याभिलाशी, कर्मी, कपटी, नास्तिक मायावादी या योगी हो सकते हैं? यदि परम पुरुष भगवानमें किसीकी दृढ़भक्ति न हो तो क्या वह सद्गुरु हो सकता है?

यह बात नहीं है कि केवल त्यागियोंको को ही गुरुसेवा करनी चाहिए, बल्कि गृहस्थ एवं त्यागी दोनोंको ही गुरुसेवा करनी चाहिए । श्रीगुरुदेवके श्रीमुख से निकलनेवाली हरिकथा सेवोन्मुख कर्णोंमें पहुँचकर अज्ञानरूप अन्धकारको दूर करती है । तब हमारे नेत्र निर्मल हो सकते हैं, जिनके द्वारा सहजरूपसे ही कृष्णका दर्शन हो सकता है ।

हमारे सर्वनाशका एकमात्र कारण है, हमारी प्रभु (भोक्ता) होनेकी इच्छा । यदि हम अपनी इच्छासे प्रेयपथ (जागतिक कामना) के मार्गपर चलकर संसार करनेके लिए दौड़ें तथा संसारमें व्यस्त रहें, तो त्रिताप-ज्वाला (आधि दैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक) में हमें निश्चितरूपसे जलना ही पड़ेगा । अतः जो लोग मनकी बात तथा मनोधर्मी लोगोंकी बात सुनकर सदा-सर्वदा

भगवानकी सेवामें लगे रहते हैं, उनके ही उपदेशोंको सम्पूर्णरूपसे निःसंकोचरूपसे ग्रहण करना चाहिए ।

3 **प्र०–सेवा क्या वस्तु है ?**

उ०–सेवा देह तथा मन का धर्म या कार्य नहीं है । सेवा आत्मा का धर्म है । सेवा बनियागिरि नहीं है । कृष्ण के सुख के लिए सेवा ही कृष्णसेवा है । उसमें अपने सुख की कामना लेशमात्र भी नहीं है । सेवा अव्यभिचारिणी, अहैतु की तथा अप्रतिहता आत्मा की वृत्ति है । श्रीगुरुदेव की अव्यभिचारिणी सेवा के बिना वेदान्त को समझना असम्भव है । भगवान के भक्तों के अतिरिक्त कोई दूसरा गुरु नहीं हो सकता– यह हास–परिहासकी बात नही है, बल्कि सत्य बात है । गीता में भगवान स्वयं कह रहे हैं– मेरी जो जिस प्रकार से सेवा करता है, मैं भी उसी के अनुसार उसकी सेवा करता हूँ । कान्तारस (मधुर रस) में सर्वांग से श्रीकृष्ण की सेवा होती है, इसीलिए श्रीकृष्ण भी स्वयं को उसका ऋणी मानते हैं । अतः कान्तारस (मधुर रस) में ही शरणागति की परिपूर्णता और सेवा की पराकाष्ठा है ।

4 **प्र०–हमारी भक्ति कैसे बढ़ सकती है ?**

उ०–सेवा करते–करते सेवा की प्रवृत्ति जागेगी । जहाँ पर गुरुसेवा की इच्छा ही नहीं है, वहाँ पर बढ़ने की बात ही नहीं है । यदि हमारी चित्तवृत्ति गुरु–चरणों में होगी, तो हम कहीं भी क्यों न रहें, हमारी सेवा करने की इच्छा बढ़ेगी । नहीं तो संसार करने की प्रवृत्ति ही बढ़ेगी । सदा–सर्वदा भगवान की सेवा करने से समस्त प्रकार की असुविधाएँ दूर हो जाएँगी । परन्तु यदि हम भगवान की सेवा न कर संसार की सेवा, माया की सेवा में और अपनी भोग की वस्तुओं को ही एकत्रित करने में लगे रहे तो, अवश्य ही नाना प्रकार के अमंगल एवं अशान्ति आकर हमें घेर लेंगे । भक्तों का संग और उनकी सेवा के बिना भक्ति नहीं बढ़ सकती ।

हमने गुरु एवं श्रीकृष्ण के चरणों में आश्रय तो लिया, परन्तु उनकी सेवा में लेशमात्र भी रुचि नहीं है । यदि हम भक्तिमार्ग का आश्रय लेकर भक्ति न करें, विभिन्न प्रकार से उनकी सेवा की चेष्टा न करें, तो हम अपने कल्याण की आशा कैसे रख सकते हैं ?

हमें सर्वप्रथम श्रीगुरुदेव के चरणों का आश्रय लेना होगा । अर्थात् हमें छोटा होना होगा, यही आश्रय का अर्थ है । आश्रित का कार्य है, भृत्य (सेवक)

होकर सेव्य की सेवा करना । परन्तु क्या हम ऐसा कर रहे हैं ? हमें अपना सर्वस्व गुरुपादपद्म में अर्पण करना होगा, तभी हमें पूर्णवस्तु भगवान की प्राप्ति हो सकती है । परन्तु बड़े दुर्भाग्य का विषय है कि गुरुचरणों में सर्वस्व-त्याग तो दूर की बात है, हम लेशमात्र भी (कुछ भी) नहीं देना चाहते तथा मुख ही मुख में कहते हैं- हमें कृपा चाहिए, भगवान चाहिए । परन्तु भगवान तो अन्तर्यामी हैं । उन्हें हम धोखा नहीं दे सकते । गुरुसेवा की प्रवृत्ति न जागने पर कृष्णसेवा की प्रवृत्ति कैसे बढ़ सकती है? गुरुपादपद्म का दर्शन करने पर भी यदि स्त्रीसंग की इच्छा, संसार की प्रवृत्ति बढ़ती है, तो इसका तात्पर्य यह है कि हमारी उन्नति नहीं हो रही है, बल्कि हमारा पतन ही हो रहा है । यदि कोई वास्तव में ही गुरुपदाश्रय कर प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करे, तो उसे अवश्य ही कृष्णसेवा की प्राप्ति होगी, कृष्ण के विषय में दिव्यज्ञान प्राप्त होगा तथा उसकी सेवावृत्ति बढ़ने के कारण उसे सेवानन्द प्राप्त होगा ।

अतः हमें वही कार्य करने चाहिए, जिनके द्वारा विषयों को बढ़ाने की प्रवृत्ति तथा संसार की वासना कम हो । ऐसा होने पर ही कर्त्ताभिमान या भोक्ताभिमान दूर हो सकता है । ऐसी अवस्था में ही जगत को श्रीकृष्ण के भोग्यवस्तु के रूप में अनुभव किया जा सकता है । मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ- यह अभिमान दूर होने पर ही भगवान की सेवा की प्रवृत्ति बढ़ती है । संसार की वासना प्रबल रहने पर, संसार के लिए अधिक व्यस्त रहने पर भगवान की सेवाप्रवृत्ति उदित नहीं हो सकती । भगवान की सेवा के लिए उत्कण्ठा जागने पर मनुष्य स्वयं को गुरु का पुत्र मानता है । जिसके फलस्वरूप जागतिक माता-पिता, बन्धु-बान्धवों से उसका सम्बन्ध नष्ट हो जाता है । तभी उसका मंगल होता है अर्थात् उसका वास्तविक मठवास होता है ।

5 **प्र०- क्या भगवान की सेवा अपने आप नहीं की जा सकती ?**

उ०- यदि भगवान किसी पर कृपा करें, तभी वह भगवान की सेवा कर सकता है । अन्यथा किसी की सामर्थ्य नहीं है कि इस कोलाहलपूर्ण संसार में रहकर भगवान की सेवा कर सके । हरि-सेवा कोई साधारण वस्तु नहीं है ।

जो व्यक्ति जन्म, ऐश्वर्य, पाण्डित्य एवं सौन्दर्य-इन चार मदों एवं विषयों के अधीन है, वह कदापि हरिसेवा नहीं कर सकता । इन चारों मदों को गोपीजनवल्लभ की सेवा में नियुक्त करने पर ही इनके चंगुल से मुक्त होकर हरिसेवा की जा सकती है । तात्पर्य यह है कि जबतक किसी को उच्चकुल में

जन्म, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का अभिमान है, वह कदापि भगवान की सेवा के योग्य नहीं है ।

इन चार मदों के वश में होने के कारण ही जीव स्वयं को जगत का भोक्ता समझ रहा है । वह स्वयं प्रभु होना चाहता है, दास नहीं– यही अवैष्णवता है । सेव्य (भगवान) एवं सेवक का सम्बन्ध ही भक्ति या सेवा है । मैं दूसरों का सेव्य (मालिक) हूँ– ऐसा अभिमान रहने पर सेवा या भक्ति कैसे सम्भव हो सकती है? क्योंकि सेवा तो सेवक ही करता है, सेव्य नहीं ।

मैं कर्त्ता होकर श्रवण, कीर्तन, दर्शन एवं स्मरण करूँगा, यह कर्मियों या अभक्तों का विचार है अर्थात् कर्त्ताभिमान से श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भक्ति नहीं है । जब कोई कर्त्ता–अभिमान त्यागकर अपनी समस्त प्रकार की चेष्टाओं को भगवान की सेवा में नियुक्त करता है, तभी उसकी समस्त प्रकार की असुविधाएँ दूर हो सकती हैं और वह भगवान की सेवा का आनन्द प्राप्त कर सकता है ।

यदि हम स्वयं को भगवान का सेवक मानते हैं तो हमें २४ घण्टे भगवान की सेवा में लगे रहना चाहिए । हमें सम्पूर्णरूप से भगवान के ऊपर निर्भर रहना चाहिए । हमारी समस्त प्रकार की विपत्तियों और समस्याओं का समाधान एक ही प्रकार से दूर हो सकता है, यदि हम भगवान के विधान पर पूर्णरूप से निर्भर रहें, अर्थात् हमें समस्त प्रकार की विपत्तियों को भगवान की कृपा मानकर सहन करना चाहिए ।

इस संसार में हम लोग पति–पत्नी, पिता–पुत्र, मित्र–मित्र, प्रभु–भृत्य (मालिक–नौकर),– इन चार प्रकार के सम्बन्धों में बँधकर सेवा करते हैं । अपने स्वरूप अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्ण का दास है–इसे भूलने के कारण ही हम इस जगत में इन चार प्रकार के अनित्य सम्बन्धों में बँध गये हैं । इस संसार में प्रारम्भ में सब–कुछ अच्छा लगता है, परन्तु उसका अन्त बहुत ही नैराश्यजनक और भयानक होता है । "माधव हाय परिणाम निराशा"– हे माधव मुझे परिणाम में निराशा ही हाथ लगी है । परन्तु इन्हीं चार प्रकार के सम्बन्धों में से कोई एक सम्बन्ध भगवान के साथ हो जाने पर हमारा निश्चित रूप से कल्याण हो सकता है तथा तभी भगवान की सेवा हो सकती है । इसी जड़ जगत में रहकर भगवान की सेवा इन चारों में से किसी एक सम्बन्ध के द्वारा करने पर वैकुण्ठ जाया जा सकता है । परन्तु इस जगत में दूसरों से सेवा

ग्रहण करने की इच्छा रहने पर संसार में आसक्त होना पड़ता है जिसके फलस्वरूप त्रितापों से दग्ध होना पड़ता है ।

हमें सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि हम कृष्ण नहीं हैं, प्रभु नहीं हैं । बल्कि हम कृष्ण के सेवक हैं । कृष्ण ही हमारे नित्य सेव्य तथा नित्य प्रभु हैं । हम कृष्ण के नित्य सेवक हैं, इसे भूलकर कृष्ण की सेवा के विरुद्ध आचरण करने पर ही संसार दशा हो जाती है । तब त्रितापों से ग्रस्त होकर हमारे दुःखों की सीमा नहीं रहती । संसार नरक का द्वार है । वहाँ पर केवल भोग और अपना इन्द्रिय तर्पण है । कृष्ण को भूलने से ही संसार दशा होती है । इसीलिए शास्त्रों में कहा है– **चारि वर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे ।**
स्वधर्म करिलेओ से रौरवे पड़ि मजे ।।

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र– ये चार वर्ण और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास– ये चार आश्रम हैं । इसे वर्णाश्रम धर्म कहते हैं । यदि कोई अच्छी प्रकार से इस वर्णाश्रम धर्म का पालन तो करता है, परन्तु कृष्ण का भजन नहीं करता है, तो वह स्वधर्म (वर्णाश्रम धर्म) का पालन करते हुए भी रौरव नामक नरक में जाता है ।

6 **प्र०– संसार को किस रूप में देखना चाहिए ?**

उ०– हमें इस संसार को तथा विश्व की समस्त वस्तुओं को कृष्ण की सेवा के उपकरण के रूप में देखना चाहिए । इस जगत की सभी वस्तुएँ कृष्णसेवा की सामग्री हैं । जिस दिन गुरु एवं कृष्ण की कृपा से द्वितीयाभिनिवेश (कृष्णसेवा के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के प्रति असक्ति) से बचकर जगत को कृष्णमय दर्शन करेंगे अर्थात् सारा जगत ही कृष्ण का वैभव है, उनकी सेवा की वस्तु है, उसी दिन हमें इस जगत में ही गोलोक के दर्शन होंगे । हमें समस्त नारी जाति को श्रीकृष्ण की भोग्या के रूप में, श्रीकृष्ण की कान्ता (प्रेयसी) के रूप में दर्शन करना चाहिए । उनके प्रति किसी प्रकार की भोगबुद्धि नहीं होनी चाहिए । वे श्रीकृष्ण की भोग्या हैं, जीव की नहीं । हमें माता-पिता को अन्यरूप में दर्शन न कर कृष्ण के पिता-माता के रूप में दर्शन करना चाहिए । हमें अपने पुत्र को अपना सेवक न मानकर बालगोपाल का सेवक मानना चाहिए । तब हमारा जगत दर्शन नहीं होगा । तथा इसी जगत के स्वरूप में ही गोलोक का दर्शन होगा ।

7 **प्र०– श्रीगुरुदेव का साक्षात् संग तथा सेवा की क्या विशेष**

आवश्यकता है ?

उ०–अवश्य ही । श्रीगुरुदेव के साथ साक्षात् सम्बन्ध होना चाहिए । जो गुरुसेवा साक्षात् रूप में नहीं करना चाहते, वे वञ्चित हो जाते हैं । Direct communication with guru is the first step on the path of divine service. Guru is to be served in every entity. If Guru is not served no one can be really served. I must not hear anything till I am authorised to hear by my divine master Sri Gurudev.

8 **प्र०–क्या हम श्रीरूपानुगवर श्रीगुरुपादपद्म के दास हैं ?**

उ०–हाँ । श्रीचैतन्यदेव के मधुर-रस आश्रित भक्तवृन्द स्वयं को श्रीरूपानुगदास या श्रीरूपानुगवर श्रीगुरुपादपद्म के दास के रूप में अभिमान करते हैं ।

9 **प्र०–सर्वश्रेष्ठ उपकार क्या है ?**

उ०–श्रीकृष्ण के चरणकमलों में मति हो– ऐसा आशीर्वाद या शुभाकांक्षा ही जगत के लिए कल्याणकारी है । श्री कृष्ण से विमुख जीवों की बुद्धि को श्रीकृष्ण की ओर लगा देना ही सबसे बड़ा उपकार है । सबको कृष्णभक्ति दान करना ही सर्वश्रेष्ठ दान है । भक्तों का हृदय सर्वदा ही ऐसा परोपकार करने के लिए उत्कण्ठित रहता है । भगवान को जानना ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है । रायरामानन्द संवाद में स्वयं महाप्रभु रामानन्दजी पूछ रहे हैं–

कौन विद्या विद्या–मध्ये सार ।
रायकहे–कृष्णभक्ति बिना विद्या नाहि आर ।।

अर्थात् प्रभु ने पूछा–विद्याओं में कौन-सी विद्या सार (श्रेष्ठ) है? रायरामानन्दजी ने उत्तर दिया– कृष्णभक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई विद्या नहीं है । आजकल सर्वत्र ही निरीश्वर शिक्षा (Godless education) का ही प्रचार हो रहा है, जिससे जगतवासियों का किसी भी प्रकार का कल्याण नहीं हो रहा है और न होगा । श्रीचैतन्य महाप्रभु की दया का वितरण करने से ही मनुष्य जाति का सर्वश्रेष्ठ उपकार हो सकता है ।

10 **प्र०–किसका भाग्य अच्छा है ?**

उ०–मनुष्य का भाग्य दो प्रकार का होता है–अच्छा और मन्द (खराब)। जिसका भाग्य अच्छा है, वही हरिभजन की चेष्टा करता है और वह

इसी जन्म में ही हरिभक्ति प्राप्त कर लेता है । उसे अगला जन्म नहीं लेना पड़ता । यदि हम सम्पूर्ण रूप से श्रीचैतन्यदेव के श्रीचरण में आश्रय ग्रहण करें, तो अवश्य ही इसी जन्म में हमारा कल्याण हो जाएगा । इस कल्याण के पथ में आकर भी यदि असत्संग होता है, तो पुनः पतन भी हो सकता है । अतः हमें सर्वदा कनक-कामिनी-प्रतिष्ठा की आशा के लोभ से दूर रहना चाहिए । भक्ति की बातों को पुनः-पुनः श्रवण करने से समस्त प्रकार की असत् चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं । श्रीचैतन्य महाप्रभु की बातें इतनी सत्य एवं इतनी सुन्दर हैं कि उसके सामने अन्य किसी भी प्रकार की बातें टिक नहीं सकती । धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष को भी धिक्कार करनेवाली श्रीचैतन्यमहाप्रभु की कथाओं के सेवक ही वास्तविक उदार हैं । महाप्रभु के भक्तवृन्द कितने बुद्धिमान, कितने चिन्ताशील और कितने परोपकारी हैं, निरपेक्ष होकर इसका विचार करना चाहिए । मैं सबपर शासन करूँगा और सभी लोग मेरा शासन स्वीकार करें- ऐसी दुर्बुद्धि से हमें श्रीचैतन्यमहाप्रभु की दया ही बचा सकती है ।

11 **प्र०-किसे दान देना चाहिए ?**

उ०-यदि उपकार करने की या दान देने की इच्छा हो तो, केवल गुरु एवं वैष्णवों को ही देना चाहिए । जो २४ घण्टे भगवान का भजन करते हैं, केवल उन्हीं पर विश्वास और उनकी सेवा करनी चाहिए । जो व्यक्ति भगवान की सेवा नहीं करता, बल्कि स्वयं दूसरों की सेवा ग्रहण करने में लगा है, उस पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए तथा न ही उसे कुछ दान देना चाहिए ।

12 **प्र०-शुद्धभक्तों का विचार कैसा होता है ?**

उ०-शुद्धभक्तों का विचार है कि जगत की वस्तुएँ मेरे भोग के लिए नहीं, बल्कि भगवान की सेवा के लिए हैं । समस्त चेतन और अचेतन वस्तुएँ श्रीकृष्ण की सेवा के लिए ही हैं । All our activies should tend to his unalloyed service."**हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरूच्यते ।"** अर्थात् अपनी इन्द्रियों से इन्द्रियों के पति श्रीकृष्ण की सेवा ही भक्ति कहलाती है । वे हमारी सेवा ग्रहण करें, यही हमारी प्रार्थना हो । यदि ईंटों को अपने घर के लिए प्रयोग करें, तो तब हम विपत्ति में फँस सकते हैं । यदि भगवान के मन्दिर के लिए करें तो किसी प्रकार की विपत्ति नहीं आ सकती । यदि अचेतन अर्थात् जड़ पदार्थ भगवान की सेवा में लग जाए तो यह उनका सद्-व्यवहार होता है, यदि हमारे इन्द्रिय-तर्पण के लिए होता है, तो यही उनका असद्

व्यवहार है । जगत में जितनी भी अचेतन वस्तुएँ हैं, भगवान की सेवा में लगने पर ही उनकी सार्थकता है । भक्तों की प्रत्येक क्रिया हरि-गुरु एवं वैष्णवों को सुख प्रदान करने के लिए ही होती है । शुद्धभक्त अपने लिए या अपने बन्धु-बान्धवों के लिए कोई भी कार्य नहीं करते, बल्कि केवल भगवान के लिए ही करते हैं ।

13 **प्र०-किसकी सेवा करनी चाहिए ?**

उ०-गुरु और भगवान अधोक्षज वस्तु हैं । Absolute person के साथ में जिनका सम्बन्ध है, वे गुरु को ईश्वर रूप में दर्शन करते हैं । गुरु सेवक भगवान या आश्रय भगवान हैं । इसलिए गुरु भक्त भी हैं, भगवान भी । गुरु भगवान होने पर भी भगवान के प्रिय हैं । गुरु पूर्ण शक्ति हैं तथा श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान हैं । शास्त्रों के अनुसार दोनों में कोई भेद नहीं है । जो सदा-सदैव भगवान की सेवा करते हैं, ऐसे भगवान के भक्त श्रीगुरुदेव की सेवा करनी चाहिए । गुरुसेवा के साथ-साथ गुरुनिष्ठ वैष्णवों की सेवा भी करनी चाहिए । साधारण मायाबद्ध जीव को भक्त मानकर उसकी सेवा करने से कोई लाभ नहीं है । आजकल वैष्णव के नाम पर अनेक ढोंग चल रहे हैं । इसलिए कहा जा रहा है कि गुरु एवं वैष्णवों की सेवा ही करनी चाहिए । परन्तु यदि कोई भविष्य में अवैष्णव हो जाये, तो उसकी सेवा में समय व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए । श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय लेकर दृढ़ विश्वासपूर्वक गुरुसेवा करनी चाहिए । शास्त्रों में वर्णन है-**'विश्रम्भेण गुरोः सेवा'** -अर्थात् विश्रम्भपूर्वक गुरुसेवा करनी चाहिए । विश्रम्भ का अर्थ है-दृढ़विश्वासपूर्वक या प्रीतिपूर्वक । दृढ़प्रीतिपूर्वक गुरु एवं वैष्णवों की सेवा करने से मंगल अवश्य ही होगा, श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे । गुरु के प्रति मनुष्य-बुद्धि नहीं होनी चाहिए । सद्गुरु निर्दोष हैं, अतः उनमें दोष-दर्शन नहीं करना चाहिए ।

उचित समय तथा समस्त प्रकार की सुविधाएँ सब समय नहीं मिलतीं । अतः हमें समय रहते हुए ही साधुसंग में हरिभजन कर अपना कल्याण कर लेना चाहिए ।

14 **प्र०-क्या इस जगत मे शुद्ध साधु का आदर है ?**

उ०-कपटतापूर्ण जगत में कपट का ही आदर है । जो साधु जीवों को विपथगामी नहीं करते, ऐसे शुद्ध साधुओं का जगत में आदर नहीं होता । जो साधु हरिकथा के नाम पर लोगों को विपथगामी करते हैं, ऐसे साधुओं की सेवा

ही आजकल कपटी समाज का धर्म बन चुका हैं । अर्थात् जो साधु स्वयं विषयों में प्रमत्त हैं तथा लोगों को भी विषयभोग की शिक्षा देते हैं, उनका तो बहुत सम्मान है, परन्तु जो स्वयं विषयों से विरक्त हैं तथा लोगों को भी विषय-भोगों को त्यागकर भगवान की सेवा की शिक्षा देते हैं, दुर्भागे लोग उनका सम्मान नहीं करते । जब कपटी साधुओं की कपटता को लोगों को बताकर शुद्ध साधु उन्हें सावधान करने की चेष्टा करते हैं, तो उस समय वे कपटी साधु उल्टा उन्हें ढोंगी एवं कपटी इत्यादि बताते हैं और लोगों का भी दुर्भाग्य ही है कि उन्हें ऐसे ढोंगी साधुओं की बातों पर ही विश्वास हो जाता है तथा वे शुद्ध साधुओं को दुत्कार देते हैं। यह माया का ही प्रभाव है कि वह जीव को निष्कपट नहीं होने देती, इसीलिए वह जीवों को शुद्ध साधुओं से दूर रखने की भरसक चेष्टा करती है ।

15 **प्र०-यदि गुरुदर्शन न हुआ तो क्या भगवान का दर्शन भी नहीं होगा ?**

उ०-नहीं । श्रीगुरुदेव चिन्मय मन्दिर हैं । उस मन्दिर में भगवान विराजमान हैं । भगवान तो प्रेम के वशीभूत हैं । इसलिए वे अपने प्रेमी गुरु एवं वैष्णवों के हृदय में ही निवास करते हैं । शास्त्र कहते हैं-

श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः ।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ।।

(चै. च. म. १९-९६)

अर्थात् इस संसार से भयभीत होकर कोई श्रुतियों की, कोई स्मृतियों की तो कोई महाभारत की उपासना करते हैं, परन्तु मैं उन नन्दमहाराज की वन्दना करता हूँ जिनके आँगन में परब्रह्म श्रीकृष्ण क्रीड़ा करते हैं ।

अनेक लोग ऐसा अभिनय करते हैं कि जैसे वे भगवान के दर्शनों के लिए बहुत उत्कण्ठित हैं । परन्तु उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि गुरु के दर्शनों से ही भगवान के दर्शन होते हैं । गुरु के चरणों में आश्रय लिये बिना तो भक्ति ही प्रारम्भ नहीं होती ।

गुरु ही भगवान के चरणों से हमारा सम्बन्ध जोड़ते हैं । श्रीकृष्ण अपने सर्वश्रेष्ठ सेवक या सर्वश्रेष्ठ वैष्णव को इस जगत में भेजते हैं, इससे श्रीकृष्ण की करुणा का ही परिचय मिलता है । भगवान की अनन्त शक्तियाँ हैं । उनमें एक शक्ति करुणाशक्ति है, जिसके माध्यम से वे जीवों पर कृपा करते हैं । उनकी इस करुणाशक्ति का अवतार ही हैं श्रीगुरुदेव । जो श्रीविग्रह एवं श्रीनाम

की सेवा की शिक्षा देते हैं, वे ही गुरु हैं । केवल ऐश्वर्यभाव से गुरु से दूर रहकर उनकी सेवा करने से ही काम नहीं चलेगा । दृढ़ विश्वास एवं प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा करनी चाहिए, जिस प्रकार श्रीलरघुनाथ दास गोस्वामी ने श्रीस्वरूपदामोदर की सेवा की ।

16 **प्र०–क्या गुरु को भूलने से विपत्तिमें पड़ना पड़ेगा ?**

उ०–अवश्य ही । जो प्रतिक्षण हमें अपने श्रीचरणों में आकर्षित करके रखते हैं, ऐसे गुरु के चरणकमलों से हम जिस क्षण अलग हो जायेंगे या उन्हें भूल जायेंगे, गुरु से अलग होते ही अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाएँ हमें ग्रास कर लेंगी । हमारा दुर्भाग्य है कि हमलोग शारीरिक सुख-सुविधाओं के लिए गुरुसेवा को भी त्याग देते हैं । जो गुरुदेव सांसारिक विषयों से सर्वदा हमारी रक्षा करते हैं, ऐसे गुरुदेव का स्मरण यदि हम प्रतिमुहूर्त न करें तो अवश्य ही हमें विपत्ति में पड़ना पड़ेगा । उस समय हम स्वयं ही गुरु होना चाहेंगे । दूसरे सभी लोग मेरी पूजा करें, हमारी ऐसी दुर्बुद्धि हो जायेगी ।

17 **प्र०–वैष्णवों के दोष कौन देखता है ?**

उ०–जो भगवान से विमुख हैं, जिनकी इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों में लगी हुई हैं, वही वैष्णवों का दोष देखते हैं । गीता में भगवान कहते हैं कि मेरे भक्त का कभी भी विनाश नहीं होता, उसका कभी भी अकल्याण नहीं होता–'**न मे भक्तः प्रणश्यति ।**' जो अनन्यभाव से भगवान का भजन करते हैं, क्या कभी उनका अमंगल हो सकता है? हमारी दृष्टि में दोष है, इसीलिए हमें वैष्णवों में भी दोष दिखायी पड़ते हैं । यही कारण है कि सब कुछ करने पर भी हमारा कल्याण नहीं होता ।

18 **प्र०–क्या श्रीगुरुदेव प्रत्येक वस्तु में ही विराजमान हैं ?**

उ०–हाँ । आश्रयजातीय गुरुवर्ग विभिन्न स्वरूपों में हमपर कृपा करने के लिए उपस्थित हैं । ये सभी दिव्यज्ञानदाता दीक्षा गुरु के ही प्रकाश हैं । विभिन्न दर्पणों में जगद्गुरु का बिम्ब ही प्रतिबिम्बित हो रहा है । प्रत्येक वस्तु में मेरे श्रीगुरुदेव ही प्रतिफलित हो रहे हैं । विषयजातीय कृष्ण आधे तथा आश्रयजातीय कृष्ण (श्रीगुरुदेव) आधे हैं । इन दोनों के मिलने पर ही पूर्ण विचित्रता प्रकट होती है । विषयजातीय पूर्ण प्रतीति कृष्ण और आश्रयजातीय पूर्ण प्रतीति श्रीगुरुदेव हैं । सर्वक्षण भगवान की सेवा की जो शिक्षा प्रदान करते हैं, वे ही श्रीगुरुदेव हैं । वे सभी जीवों के हृदय में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं । वे

आश्रयजातीय के रूप में प्रत्येक वस्तु में ही विराजमान हैं ।

19 **प्र०–संसार में हमारी जो आसक्ति लगी है, उससे हमारी रक्षा कौन करेगा ?**

उ०–श्रीचैतन्यमहाप्रभु के प्रियजन श्रीगुरुदेव ही संसाररूप मृत्यु से हमारी रक्षा कर सकते हैं । गुरु कौन हैं ? इस विषय पर हमें विचार करना चाहिए । जो समस्त गुरुओं के एकमात्र आराध्य हैं, ऐसे पूर्णवस्तु भगवान की सेवा में जो नियुक्त हैं, वे ही गुरु हैं । वैसे तो गुरु बहुत होते हैं । जैसे– कुश्ती सिखानेवाले, तैराकी सिखानेवाले, खेल सिखानेवाले या स्कूल-कालेजों में जागतिक शिक्षा देने वाले । परन्तु इनमें से एक भी गुरु ऐसा नहीं हैं, जो हमें मृत्यु से बचा सके, अर्थात् इस दुःखमय संसार में हमारे आवागमन को रोक सके । क्योंकि वे तो स्वयं ही अपने को बचाने में असमर्थ हैं । अतः यहाँ पर ऐसे गुरुओं की बात नहीं कही गयी है । भागवत में भी कहा गया है । वह गुरु, गुरु नहीं हैं; वे मातापिता, मातापिता नहीं हैं; वह देवता, देवता नहीं हैं; वे बन्धु-बान्धव, बन्धु-बान्धव नहीं हैं; जो हमें भक्ति का उपदेश प्रदान कर हमारी मृत्यु अर्थात् संसार में हमारे आवागमन को न रोक सके, इस जड़जगत के प्रति आविष्टतारूपी मृत्यु से हमारी रक्षा कर सके । अज्ञान के कारण ही अर्थात् भगवान को भूलने के कारण ही हमें मृत्यु के मुख में जाना पड़ता है अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है । ज्ञान होने पर सहजरूप में ही हम मृत्यु के मुख में जाने से बच जाते हैं । इस संसार में हम जो विद्या ग्रहण करते हैं, यदि किसी कारण से हम पागल हो जाएँ, हमें पक्षाघातग्रस्त (लकवा) हो जाये या हमारी मृत्यु हो जाये, तो उस समय इस विद्या का कुछ भी मूल्य नहीं रहता । जो गुरु हमें मृत्यु के मुख से बचा नहीं सकते, वे कुछ दिन तो हमारे लिए विषय-भोगों की व्यवस्था तो कर देते हैं अर्थात् हमें ऐसी शिक्षा प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा हम नाशवान शारीरिक सुख की वस्तुओं को इकट्ठा कर लेते हैं, परन्तु इस संसार के प्रति आसक्ति रूप मृत्यु से बचा नहीं पाते । अतः ये सब वञ्चक हैं ।

20 **प्र०–भगवान को किस प्रकार बुलाना चाहिए ?**

उ०–भगवान श्रीचैतन्य महाप्रभु कह रहे हैं कि भगवान को बुलाने के लिए एक घास के तिनके से भी अधिक सुनीच तथा दीन-हीन होना पड़ेगा । विद्या, रूप, धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य इत्यादि के अभिमान को पूर्णरूप से त्यागना पड़ेगा। क्योंकि जबतक एक व्यक्ति को यह अनुभव न हो कि मैं छोटा हूँ अथवा

असमर्थ हूँ तो वह दूसरे के सामने कैसे झुकेगा तथा अपनी सहायता के लिए उससे प्रार्थना क्यों करेगा? इस संसार में ही हम देखते हैं कि जब बहुत चेष्टा करने पर भी कोई व्यक्ति किसी कार्य को करने में असमर्थ हो जाता है, तो उस समय असहाय होकर सहायता के लिए दूसरों से प्रार्थना करता है। प्रार्थना करने का तात्पर्य है– उसका अभिमान–अहंकार नष्ट हो चुका है । उसी प्रकार जब श्रीगौरसुन्दर भगवान को बुलाने के लिए कह रहे हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि पहले हमें यह अनुभव करना पड़ेगा कि मैं असहाय हूँ तथा अपनी चेष्टा से इस जन्म–मरण के चक्कर से पार नहीं हो सकता, तभी हम सर्वशक्तिमान भगवान को अपनी सहायता के लिए बुला सकते हैं । परन्तु यदि कोई भगवान को सहायता के लिए पुकारता है केवल अपना काम हल करने के लिए, वास्तव में उनसे प्रीति नहीं है, तो यह दीन–हीनता नहीं है, यह कपटता है, स्वार्थ है ऐसी पुकार भगवान तक नहीं पहुँचती । भगवान परम स्वतन्त्र हैं, पूर्ण चेतन वस्तु हैं, सबके अन्तर्यामी है, वे किसी के अधीन नहीं हैं । जबतक हम अपने अहकार को पूर्णरूप से त्यागकर निष्कपट दीनता में प्रतिष्ठित न हो जाएँ अर्थात् वास्तव में ही दीन–हीन न बन जाएँ, तबतक परम स्वतन्त्र भगवान तक हमारी पुकार नहीं पहुँच सकती ।

एक बात और भी है–तृणादपि सुनीच (दीन–हीन) होकर भगवान को पुकारते समय यदि हममें सहनशीलता न हो, तो भी पुकार व्यर्थ हो जायेगी । यदि हम किसी वस्तु के लोभ में पड़कर असहिष्णुता दिखाते हैं, तो यह तृणादपि सुनीच(दीनता)के विरुद्ध है । यदि हमें पूर्ण विश्वास है कि भगवान की कृपा हो जाए तो किसी वस्तु का अभाव नहीं रह सकता, ऐसी अवस्था में तुच्छ वस्तुओं के मोह में पड़कर हम असहिष्णु नहीं बनेंगे अर्थात् यदि कोई हमारी तुच्छ सांसारिक वस्तु को नष्ट भी कर देता है, तो हम उस पर क्रोध नहीं करेंगे ।

अनेक समय हम ऐसा सोचते हैं कि भगवान को पुकारने से क्या होगा? शास्त्रों में और भी अनेक उपायों का वर्णन है जैसे कर्म, ज्ञान, तप आदि । अतः मैं किसी अन्य उपाय को ग्रहण कर सकता हूँ। सहनशीलता के अभाव में ही ऐसी सोचें जन्म लेती हैं । ऐसे कुविचारों से रक्षा के लिए हमें एक रक्षक की आवश्यकता होती है । गुरु ही वे समर्थवान रक्षक हैं । श्रीलनरोत्तम ठाकुर कह रहे हैं–"**आश्रय लइया भजे, तारे कृष्ण नाहि त्यजे, आर सब मरे अकारण ।**" जो गुरु–वैष्णवों के चरणकमलों का आश्रय लेकर भगवान का

भजन करता है, उसे तो कृष्ण कभी भी नहीं छोड़ते । इनके अतिरिक्त सब व्यर्थ ही मारे जाते हैं । कृष्ण उनकी ओर देखते तक नहीं ।

21 **प्र०–क्या गुरु–सेवा की विशेष आवश्यकता है ?**

उ०–श्रीगुरुदेव की सेवा सर्वप्रथम करनी चाहिए । जगत में कर्म, ज्ञान अथवा अन्यान्य जागतिक अभिलाषाओं को भी पूर्ण करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है, किन्तु उन गुरुओं के द्वारा जो विद्या प्राप्त होती है, उसके द्वारा तुच्छ फल ही प्राप्त होता है । पारमार्थिक श्रीगुरुदेव ऐसे तुच्छ फलदाता नहीं हैं । वे वास्तव में ही कल्याण करने वाले होते हैं । आश्रयजातीय भगवान श्रीगुरुदेव की कृपा से जिस क्षण हम च्युत हो जाएँगे, उसी क्षण भगवान की सेवा के अतिरिक्त नाना प्रकार की इच्छाएँ हमारे हृदय में उदित हो जाएँगी । जिसकी गुरु के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न हो चुकी है, ऐसे वैष्णव यदि हमें उपदेश न करें कि हमें किस प्रकार गुरु के श्रीचरणकमलों का आश्रय लेना चाहिए अथवा श्रीगुरुदेव से कैसा व्यवहार रखना चाहिए तो हम हाथ में आया हुआ रत्न भी खो बैठेंगे । पाण्डित्य की महिमा तभी है, जब मूर्ख हों, उसी प्रकार पुण्य की महिमा तभी है, जब पाप हों ।

22 **प्र०–क्या हमारा जीवन आदर्शपूर्ण होना चाहिए ?**

उ०–हमारा जीवन आदर्शपूर्ण होना चाहिए । हमारे चरित्र को देखकर कोई व्यक्ति कुछ विपरीत न सोचे, इसके लिए हमें सावधान रहना चाहिए । कोमल श्रद्धावाले लोगों के लिए कदम–कदम पर विपत्ति ही विपत्ति है । क्योंकि वे अन्तर्दर्शी नहीं हैं, वे केवल बाहरी आचरण को देखकर ही विचार करते हैं । अर्थात् हमारे हृदय में भक्ति है कि नहीं, वे इसका अनुमान नहीं लगा सकते । वे हमारी बाहरी आचरणों को देखकर ही हमें भक्त या अभक्त मानते हैं । अतः हमारे आचरण को देखकर कहीं उसकी श्रद्धा सभी भक्तों से हट न जाए, इसके लिए हमें सावधान रहना चाहिए ।

23 **प्र०–हमें कौन–सा रोग है ?**

उ०–कृष्ण की सेवा की चेष्टा को छोड़कर अपने सुखदायक वस्तुओं का संग्रह करना ही हमारा मूल रोग है । हमें विषयरस अच्छा लगता है, परन्तु सभी विषयों के भी विषय कृष्ण की सेवा हमें अच्छी नहीं लगती यही हमारा दुर्भाग्य है। पीलिये के रोगी को मीठी मिश्री भी कड़वी लगती है, उसी प्रकार विषयों में आसक्त होने से मधुर से भी मधुर कृष्णनाम और कृष्णसेवा में हमारी

रुचि नहीं होती । यदि शरीर में विष चढ़ जाए तो शहद भी कड़वा लगता है ।

मिश्री ही पीलिया रोग की औषधि है । मिश्री खाते-खाते धीरे-धीरे जब रोग दूर होने लगता है, तो क्रमशः वही मिश्री मीठी लगने लगती है । उसी प्रकार अनर्थग्रस्त होने के कारण इच्छा न होने पर भी यदि कृष्णनाम और कृष्ण की सेवा की जाए, तो क्रमशः बहिर्मुखता दूर होने लगती है तथा संसार के प्रति आसक्ति कम होने लगती है । फलस्वरूप भगवान के नाम और उनकी सेवा में रुचि होने लगती है । उस समय कृष्णनाम-माधुर्य स्वयं ही प्रकाशित होकर हमें चिन्मय इन्द्रियों के द्वारा भगवान की सेवा में नियुक्त कर देते हैं ।

24 **प्र०-जागतिक असुविधा उपस्थित होने पर भक्त को क्या करना चाहिए ?**

उ०-सब भगवान की इच्छा है । अतः असुविधा होने पर उन्हें सहन करते हुए भगवान की कृपा की प्रतीक्षा करनी चाहिए । नृसिंहदेव सर्वदा ही अपने भक्तों की समस्त प्रकार के कष्टों में सहायता करते हैं । अतः भक्ति करते हुए हमें अपने पालन एवं रक्षा की चिन्ता नहीं करनी चाहिए । भगवान के शरणागत हो जाने से भक्तों के सभी प्रकार के कष्ट दूर हो जाते हैं ।

25 **प्र०-क्या श्रीगुरुदेव सम्पूर्णरूप में निरपेक्ष होते हैं ?**

उ०-अवश्य । मेरे गुरुदेव सम्पूर्णरूप से निरपेक्ष हैं । इस संसार में वे किसी की अपेक्षा नहीं रखते । अर्थात् वे जगत में किसी से कुछ नहीं चाहते । उनकी एकमात्र इच्छा होती है कि सभी लोग निष्कपटरूप से भगवान का भजन करें । किसी को कृष्ण की सेवा में लगाने को ही वे सबसे अधिक दया मानते हैं । परन्तु किसी की रुचि संसार में लगा देने को या विषय-भोगों के प्रति किसी को प्रोत्साहन देने को सबसे बड़ी हिंसा मानते हैं ।

26 **प्र०-क्या भगवान की कृपा से ही सद्गुरु प्राप्त होते हैं ?**

उ०-हाँ । यदि हमारा ऐसा सौभाग्य हो कि हमें भगवान के भक्तों का संग प्राप्त हो, तो उसकी व्यवस्था भी भगवान ही करते हैं । वे गुरु के द्वारा ही हमें अभय अर्थात् हमारे समस्त प्रकार के भयों का नाश कर देते हैं । जिनका ऐसा भाग्य नहीं है, उन्हें अनेक प्रकार की असुविधाओं का सामना करना पड़ता है । जिसका जैसा अधिकार अथवा भाग्य है, उसको उसके अनुरूप ही गुरु की प्राप्ति होती है ।

27 **प्र०-क्या पूर्णरूप से आत्मसमर्पण करने पर ही कल्याण**

सम्भव है ?

उ०–अवश्य ही । श्रीगुरुदेव मेरी मूर्खता, मेरी असम्पूर्णता, मेरी असद् विचार-प्रणाली, मेरे अस्थिर सिद्धान्त इत्यादि को पूर्णरूप से जानते हैं। इसलिए वे मेरे रोग के अनुरूप ही व्यवस्था करते हैं । जिनके निकट उपस्थित होने से अन्य किसी के निकट जाने अथवा कुछ सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती, वे ही सद्गुरु हैं । समस्त मंगलों के भी मंगलस्वरूप भगवान ने मेरा मंगल जिनके हाथों में सौंपा है, मैं यदि ऐसे सद्गुरु के चरणों में पूर्णरूप से समर्पण करूँ तो वे भी पूर्णरूप से मेरा कल्याण करेंगे । परन्तु यदि मैं कपटता करूँगा तो वे मेरी वञ्चना कर देंगे । वे कहते हैं–तू न मेरा शिष्य बना और न तूने मेरा शासन स्वीकार किया और कपटी लोगों के विचारो को सुनने के कारण मेरी बातों को सुनने के योग्य तेरे पास कान ही नहीं हैं । अतः तू वञ्चित हो गया । अतः वे मेरे कल्याण के लिए निष्कपटरूप से जो व्यवस्था करते हैं, उसे मुझे सिर झुकाकर आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए । यही शरणागत का लक्षण है ।

28 **प्र०–हमें कहाँ पर असुविधा हो रही है ?**

उ०–मैं अपना मंगल चाहता हूँ, परन्तु अमंगल को ही मंगल मान रहा हूँ । मैं अपने रोग को दूर करने के लिए डाक्टर को बुलाता हूँ, परन्तु जब डाक्टर आकर कहता है कि तुम यह औषध खाओ तथा यह परहेज करो, तो मैं कहता हूँ कि आप मेरी इच्छा के अनुसार चलिए । तो क्या यह डाक्टर से इलाज कराना हुआ? क्या इस प्रकार मेरा रोग दूर हो सकता है ? उसी प्रकार यदि मैं गुरु के पास आकर उनकी बातों को न सुनकर अपनी इच्छानुसार चलूँ तो मेरा मंगल कैसे हो सकता है ? इसलिए जो वैद्य रोगी के इच्छानुसार इलाज करता है, उसे वैद्य नहीं कहा जा सकता । जिस औषधि के द्वारा वास्तव में ही मेरा रोग दूर हो सकता है, वह औषधि न देकर यदि वैद्य मेरा मन रखने के लिए मेरी इच्छा के अनुसार औषधि देता है तथा फीस लेकर चला जाता है, उससे मुझे क्षणिक सुख तो प्राप्त होगा, परन्तु क्या रोग दूर होगा ?

29 **प्र०–भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ?**

उ०–भक्तों के संग से ही भक्ति प्राप्त होती है । अन्य किसी उपाय से नहीं । कृष्णप्राप्ति ही जीवों का सर्वश्रेष्ठ मंगल है । परम सौभाग्य से ही उसकी प्राप्ति होती है । ब्रह्माण्ड भ्रमण करने की इच्छा समाप्त होने पर जीव

भाग्यवान हो जाता है । गुरु की कृपा के बल से ही आत्मधर्म प्रकाशित होने पर जीव को भक्तिलता का बीज प्राप्त होता है । गुरु की कृपा और कृष्ण की कृपा भिन्न नहीं है । अर्थात् प्रकृष्टरूप से आनन्दित होकर जो दिया जाता है–यही प्रसाद का अर्थ है । महाप्रभु ने कहा है–

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव ।
गुरुकृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज ।।

सेवक होकर प्रभु की सेवा करना ही भक्ति है । भक्ति का तात्पर्य है–प्रभु का सुखविधान । अपने सुख के लिए प्रभु की सेवा भक्ति नहीं कही जा सकती ।

गुरु से ही भक्ति का बीज प्राप्त होता है । माली होकर हमें इस बीज को हृदयरूपी क्षेत्र में आरोपणकर उसे श्रवण-कीर्तनरूपी जल से सींचना पड़ेगा । मैं सेवक हूँ, सेवा ही मेरा धर्म है–इन विचारों में प्रतिष्ठित होना ही माली होना है । भक्तिलता का बीज जो कि गुरु के निकट से प्राप्त होता है, कृष्ण ही अहैतु की कृपा के कारण स्वयं गुरुरूप में उसे प्रदान करते हैं । उस बीज को प्राप्त करके हमें कृष्णसेवा ही करनी चाहिए । ऐसा न कर यदि मैं सेवा से उदासीन रहूँ, तो अनेक प्रकार की विपत्तियाँ मुझे घेर लेंगी । गुरुदेव की कृपाके बल से भजन की समस्त प्रकार की बाधाएँ अवश्य दूर हो जाएँगी । भजन की बाधा दूर होने पर ही हमारे लिए सुविधा होगी । गुरु के मुख से तथा साधुओं के मुख से ही श्रवण होता है । गुरु-वैष्णवों के निर्देशानुसार कीर्तन इत्यादि भी श्रवण के अन्तर्गत हैं । श्रीगुरुदेव के चरणकमलों से एक क्षण के लिए भी च्युत हो जाने पर हमारे सिर पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ेगा । श्रवण-कीर्तन ही जल है । सींचनेवाला गुरु का आश्रित भक्त है । विश्रम्भ अर्थात् प्रगाढ़ निष्ठा एवं प्रीतिपूर्वक सर्वदा गुरु की सेवा करना ही एकमात्र कर्तव्य है । गुरु-वैष्णवों का संग करना ही हमारा कर्तव्य है । हमें भक्तिलता को यत्नपूर्वक पालन करना चाहिए । हमें अच्छी प्रकार से भगवान की सेवा करनी चाहिए । यदि हम इन सबका पालन करेंगे तो कभी भी विपत्ति में नहीं पड़ेंगे । नहीं तो हमारे मार्ग में असुविधाएँ निश्चितरूप से आएँगी ।

30 **प्र०–हम जीवित हैं या मृत ?**

उ०-जीव भगवान का सेवक है, भगवान की सेवा करना उसका धर्म है । सेवा ही चेतन की जीवित अवस्था है । अतः हम भगवान की सेवा

करने पर ही जीवित है । सेवाविमुख व्यक्ति मृत है । कृष्ण एवं भक्तों की सेवा छोड़कर किसी का कोई अन्य कर्तव्य नहीं है । जीव गुरु एवं कृष्ण का दास है । अपनी स्वतन्त्रता से चलने पर जीवन का सद्व्यवहार नहीं हो सकता । केवल जीवन्मृत अवस्था ही प्राप्त होती है । अर्थात् जो भगवान की सेवा नहीं करता, वह जीवित होते हुए भी मरे के समान है । कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति ही मृत है । मरने के कारण अर्थात् भगवत् सेवा से विमुख होने के कारण ही असत् कार्यों में प्रवृत्ति होती है सत् कार्यों में नहीं । वास्तव वस्तु भगवान की सेवा से वञ्चित रहना ही मृत-अवस्था है । जो कृष्ण के अधीन न होकर माया के अधीन हैं, वे ही जीते जी मरे के समान हैं । शारीरिक एवं मानसिक रूप से समृद्ध होने की चेष्टा आत्मा का धर्म नहीं है, वह प्राणहीन अथवा अज्ञान का कार्य है । भक्ति में ही एकमात्र सुख है । इसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुएँ दुःखप्रद हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि भोगी और त्यागी दोनों ही मृत, दुखी एवं अशान्त हैं । केवल निष्काम भक्त ही जीवित, सुखी और शान्त है ।

31 **प्र०-बहुत से व्यक्तियों को गुरु के समान समझना क्या उचित है ?**

उ०- नहीं । गुरु की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए, श्रौतवाणी की निन्दा नहीं करनी चाहिए । बहुत-से व्यक्तियों को गुरु के समान पूज्य मानने से गुरु अवज्ञा करना हो जाता है । अद्वय ज्ञान ब्रजेन्द्रनन्दन का आश्रय ग्रहण किए बिना जीव का मंगल नहीं हो सकता । मेरे श्रीगुरुदेव दया के सागर हैं । उनकी दयासागर का एक बिन्दु ही मुझे आनन्द-सागर में डुबा सकता है ।

गुरुदेव कितनी कृपा नहीं करते हैं ? गुरुदेव कृपापूर्वक कहते थे-तुम अपना पाण्डित्य, पवित्रता, अभिज्ञता सबकुछ परित्यागकर मेरे पास आओ । तुम्हें और कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है । तुम्हें घर, पाण्डित्य, प्रतिभा इत्यादि की आवश्यकता हैं तथा जितने संयम, संन्यास की आवश्यकता है, मैं तुम्हें सब दूँगा । तुम केवल मेरे पास आ जाओ । तुम घर, परिवार, पाण्डित्य के पीछे मत दौड़ो, साधारण लोग जिसे अपना प्रयोजन समझते हैं तुम उसे अपना प्रयोजन मत समझो ।

32 **प्र०-साधु क्या करते हैं ?**

उ०-दुष्ट व्यक्तियों की दुष्ट बुद्धि का नाश करना ही साधु का परम

कर्तव्य है । साधु का अर्थ ही है कि वे हाथ में खड्ग लेकर यूपकाष्ठ (यज्ञ में वह खम्भा जिसमें बलि का पशु बाँधा जाता है) के निकट खड़े हैं तथा मनुष्य की वासनाएँ जो कभी तृप्त न होनेवाले बकरी के समान हैं, उन वासनाओं का अपनी वाक्यरूप अस्त्र के द्वारा छेदन करते हैं । साधु कभी किसी की चापलूसी नहीं करते हैं । साधु यदि किसी की चापलूसी करता है तो वह साधु नहीं हो सकता क्योंकि साधु तो हमारा मंगलकारी ही होगा । वह तो वास्तव में हमारा शत्रु है। वैष्णव लोगों की असंत्सग करने की प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु ऐसे असत् संगियों का कल्याण करने के लिए वैष्णव लोग अपने वाक्यरूपी अस्त्र के द्वारा ऐसे असत् संगियों की असत् प्रवृत्ति को छेदन करते हैं और उन्हें सत्संग में ले आते हैं । यदि हम निष्कपटरूप से श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करें तो अवश्य ही इसी जन्म में हमें भगवान का साक्षात्कार हो जायेगा ।

33 **प्र० – श्रीविग्रह क्या वस्तु है ?**

उ० – श्रीविग्रह भगवान के अर्चावतार हैं । **"प्रतिमा नह तुमि साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन ।"** स्वयं श्रीशचीनन्दन गौरहरि ने जगन्नाथजी का दर्शन कर कहा था– आप विग्रह नहीं हैं, आप साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर ही हैं । अतः हमें विग्रह को साधारण व्यक्ति विशेष की मूर्ति की भाँति नहीं मानना चाहिए । बद्ध जीव की भाँति भगवान के विग्रह में देह और देही का भेद नहीं है । श्रीविग्रह सच्चिदानन्द स्वरूप, परम कृपामय भगवद् अवतार हैं ।

34 **प्र० – सर्वश्रेष्ठ आराधना क्या है ?**

उ० – मधुर रस से नन्दनन्दन की सेवा ही समस्त साधनों में सर्वश्रेष्ठ एवं साध्यों में भी सर्वश्रेष्ठ है । नन्दनन्दन की उपासना ही उपासना की पराकाष्ठा है । ब्रजदेवियों ने नन्दनन्दन के ऐश्वर्य से मुग्ध होकर उन्हें अपने प्रेमी के रूप में स्वीकार नहीं किया, क्योंकि कृष्ण का कोई ऐश्वर्य उन ब्रजदेवियों को आकर्षित नहीं कर सकता । कृष्ण के प्रति उनकी प्रीति तो स्वाभाविक रूप से ही है । वे सदा–सदैव केवल कृष्ण सुख के लिए ही चेष्टा करती हैं । इसी अहैतुकी महती कामना के कारण ही वे कृष्ण को कान्तरूप में वरण कर पाईं।

35 **प्र० – चित्त को स्थिर करने का सहज उपाय क्या है ?**

उ० – एकमात्र कृष्णनाम कीर्तन के द्वारा ही मन को स्थिर किया जा सकता है । कर्म, ज्ञान, योग आदि के द्वारा कुछ क्षण के लिए मन स्थिर तो हो जाता है, परन्तु कुछ क्षण पश्चात् वह पुनः पहले जैसा ही हो जाता है, बल्कि

उससे भी अधिक चञ्चल हो जाता है ।

36 **प्र०–क्या हमारा शिष्य बनाना उचित है ?**

उ०–हमें शिष्य नहीं करना है । हमें शिष्य बनना है । अर्थात् निरन्तर गुरु एवं कृष्ण की सेवा में नियुक्त रहना है । वैष्णव लोग समस्त वस्तुओं में ही गुरु दर्शन करते हैं अर्थात् वे सभी वस्तुओं को भगवान की सेवा की वस्तु मानते हैं । वैष्णव अभिमान होनेपर विष्णु एवं वैष्णव की सेवा नहीं हो सकती । मैं कुछ नहीं करता और कुछ नहीं करूँगा, भगवान जैसा करावायेगा, वैसा करूँगा, ऐसे कर्तृत्व अभिमानरहित, निरन्तर भगवान की सेवा में रत व्यक्ति ही जीव का कल्याण कर सकते हैं । अर्थात् जीव को कृष्णोन्मुख कर सकते हैं । मै कुछ नहीं करता, सबकुछ भगवान ही करवा रहे हैं, हृदय में कपटता रखकर मुख से ऐसा कहने मात्र से नहीं होगा । वास्तव में ही मैं भगवान के द्वारा चालित हूँ– ऐसी अनुभूति होनी चाहिए ।

37 **प्र०–यदि ऐसा ही है तो आपने बहुत–से शिष्य क्यों किये ?**

उ०–वास्तव में आजतक मैंने किसी को शिष्य नहीं बनाया, बल्कि जिन्हें तुम मेरा शिष्य कह रहे हो, वे सभी मेरे गुरुवर्ग हैं ।

दूसरों का संग करने का तात्पर्य है, उससे कुछ ग्रहण करना । मैंने अपने श्रीगुरुदेव से जो पाया है, उसके अतिरिक्त मैं किसी से कुछ ग्रहण नहीं करता । अपने गुरुदेव के निर्देश के अतिरिक्त मैं और किसी के निर्देशानुसार कार्य नहीं करता हूँ ।

अपने लिए मैं किसी से कुछ ग्रहण भी नहीं करता हूँ । गुरु एवं कृष्ण की सेवा के लिए श्रद्धा या प्रीतिपूर्वक यदि कोई कुछ देता है, तो उसे आदरपूर्वक ग्रहण कर उसके द्वारा भगवान की सेवा करने में ही भंगल है । किसी वस्तु के प्रति भोगदृष्टि न कर उसे भगवान की सेवा में लगाने का रहस्य जानने पर ही भजन–राज्य में प्रवेश किया जा सकता है ।

38 **प्र०–हमारा सबसे बड़ा कर्तव्य क्या है ?**

उ०–यह मनुष्य जन्म क्षणभंगुर एवं अत्यन्त दुर्लभ है । अतः हमें पाषण्डता, अपराध या व्यर्थ कार्यों में समय नष्ट न करते हुए, सब कुछ छोड़कर हरिभजन करना चाहिए । अनेक जन्मों के पश्चात् हमें यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है । यह मनुष्य जन्म सब जन्मों से दुर्लभ–केवल दुर्लभ ही नहीं, बल्कि सुदुर्लभ है । यह अनित्य होने पर भी परमार्थप्रद है । अर्थात् इसके द्वारा परमार्थ

को प्राप्त किया जा सकता है । जो बुद्धिमान एवं चतुर हैं, वे साधन के उपयोगी इस शरीर के नष्ट होने से पहले ही अन्यान्य विषय वस्तुओं को छोड़कर अपने आत्मकल्याण के लिए चेष्टा करते हैं । ऋषि के प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ किया इसके द्वारा श्रील सूत गोस्वामी जी शिक्षा दे रहे है कि गुरुकरण किये बिना भगवान की भक्ति कदापि सम्भव नहीं है और भक्ति के बिना भगवान अन्य किसी उपाय से प्राप्त नहीं होते । भक्ति किसे कहते है ?

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरूत्तमा ।।

गुरुकरण की आवश्यकता, भगवत्ता के तारतम्य से भगवान तारतम्य, श्रीकृष्ण का कंस को मारना तथा ब्रज में कभी भी वापिस लौटकर नहीं आना इत्यादि अनेक विषयों पर विशद आलोचना हुई ।

39 **प्र० – वास्तविक सेव्य (सेवा ग्रहण करने वाला) कौन हैं ?**

उ० – कृष्ण ही जगत के एकमात्र सेव्य है । वे ही समस्त वस्तुओं के प्रभु है । कृष्ण ही सभी के एकमात्र सखा, सभी माता – पिताओं के एकमात्र पुत्र, समस्त स्त्रियों के एकमात्र कान्त (प्रेमी) हैं । कृष्ण जिसके सेव्य वस्तु के रूप में प्रकाशित होते हैं, वे किसी दूसरे की सेवा कर ही नहीं सकते ।

समस्त कारणों के कारण कृष्ण हैं । वे ब्रह्म, परमात्मा एवं अन्यान्य विष्णु अवतारों के भी कारण हैं ।

40 **प्र० – साधु का संग कैसे होगा ?**

उ० – एकाग्रचित्त होकर हरिकथा सुनने पर ही वास्तविक रूप में साधुसंग होता है । साधुसंग होने पर ही अर्थात् साधुओं के श्रीमुख से हरिकथा श्रवण करने पर ही भगवान के वीर्य और जगत की दुर्बलता को हम समझ सकते हैं । साधुओं के उपदेशानुसार सेवा करते – करते भगवान की सेवा में सुदृढ़ विश्वास, आसक्ति एवं प्रीति प्राप्त होती है । कृष्ण की सेवा में भी कृष्ण के प्रति प्रीति ही जीव का चरम प्रयोजन है ।

41 **प्र० – क्या श्रेयपथ (आत्मकल्याण के मार्ग) में बाधाएँ आती हैं ?**

उ० – वर्तमान समय में प्रेय:कामी (जागतिक वस्तुओं की इच्छा करनेवाला) को देखकर ऐसा लगता है, उसे कोई विशेष प्रकार का कष्ट नहीं है । परन्तु जो आत्मकल्याण (भक्ति) के मार्ग पर चलनेवाले हैं, उन्हें अनेक

प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है । यदि सूक्ष्मरूप से विचार किया जाये, तो स्पष्ट हो जाता है कि आत्मकल्याण के मार्ग में असुविधाएँ उपस्थित होने पर भी यदि साधक उन्हें सहन कर लेता है, तो उसका आत्मकल्याण निश्चित है । इसके विपरीत जागतिक इच्छाओं वाले व्यक्ति पहले सुखी जैसे दीखने पर भी उनका अन्त बहुत ही कष्टदायक होता है ।

41 **प्र०–विवर्त किसे कहते हैं ?**

उ०–जो वस्तु जो नहीं है, उसे वह वस्तु समझना ही विवर्त है । जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम । अर्थात् अन्धकार के कारण रस्सी को साँप समझ लेना । मैं यह शरीर हूँ–श्रीचैतन्यदेव ने यह बात नहीं कही । उन्होंने कहा है–देहे **आत्मबुद्धि हय विवर्तेर स्थान** । अर्थात् जड़ शरीर के प्रति आत्मबुद्धि करना ही विवर्त है ।

देह एवं देही भिन्न हैं । देही मालिक और देह इसकी सम्पत्ति है । देह दो प्रकार के होते हैं–सूक्ष्म एवं स्थूल । इन दोनों शरीरों का मालिक आत्मा है। मन चेतनाभास एवं शरीर चेतनविहीन (जड़) है । इन दोनों प्रकार के शरीरों के प्रति हम आत्मबुद्धि करते हैं । यही विवर्त या misconception है ।

42 **प्र०–चेतन एवं अचेतन में क्या भेद है ?**

उ०–अचिद् वस्तु अथवा जड़ वस्तु में knowing (ज्ञानशक्ति), willing (इच्छाशक्ति) एवं feeling (अनुभवशक्ति) नहीं होती । जड़ वस्तु respond नहीं कर सकती, परन्तु चेतन कर सकती है । हमारे भीतर और पशुओं के भीतर चेतन अधिक मात्रा में तथा वृक्षों में अल्प मात्रा में होता है ।

43 **प्र०–क्या मनुष्य परजगत (वैकुण्ठ) की बात बता सकता है?**

उ०–वैकुण्ठ जगत से आया हुआ व्यक्ति ही वैकुण्ठ जगत की बात बताने में समर्थ होता है । इस जगत का कोई व्यक्ति उस जगत की बात बताने में समर्थ नहीं हो सकता । उस जगत से आये हुए महापुरुषों के श्रीमुख से भगवान की कथाओं को श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होने पर ही जीव वैकुण्ठ के विषय में जान सकताहै । इस जगत की विचार प्रणाली के द्वारा उस जगत की वस्तुओं को ग्रहण नहीं किया जा सकता । Transcendental (अधोक्षज) के साथ phenomenal (अक्षज) को एक साथ मिलाना उचित नहीं है । यदि भाग्य अच्छा हो, तो वैकुण्ठ से आये हुए महापुरुष का दर्शन और

उनका संग प्राप्त होता है । श्रीचैतन्यदेव कह रहे हैं-

कृष्ण यदि कृपा करने कोन भाग्यवाने ।
गुरु अन्तर्यामी रूपे से शिखाय आपने ।। (चै. च.)

अर्थात् जिस भाग्यवान व्यक्ति पर कृष्ण कृपा करते हैं, वे स्वयं अन्तर्यामी रूप में शिक्षा प्रदान करते हैं ।

44 **प्र०-सभी लोग पारमार्थिक बातों को क्यों नहीं समझ पाते हैं?**

उ०-यदि भाग्य ही नहीं हो, तो किस प्रकार समझ सकते हैं ? उसके लिए संस्कार होने चाहिए । जो भाग्यवान हैं वे ही गुरु-वैष्णवों के श्रीचरणों में प्रणत होकर कथा सुनते हैं । इसलिए वे भगवान की कृपा से पारमार्थिक बातों को समझ सकते हैं, परन्तु जो hasty-conclusion (किसी भी वस्तु के निर्णय में जल्दीबाजी) का आश्रय लेते हैं, वे सत्य वस्तु को ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं । वे पूर्णज्ञान अर्थात् भगवत् तत्त्व आदि के अनुशीलन में थोड़ा समय भी नहीं दे सकते । हम बाल्यावस्था से जिस समाज में पले हैं, उसमें materialism (भौतिकता) इतनी अधिक परिमाण में हैं कि नित्य या परमार्थ जीवन की आलोचना के लिए एक मुहूर्त समय भी नहीं दे सकते । व्यावहारिक कार्यों में ही हमारे चौबीस घण्टे नष्ट हो जाते हैं । वास्तव में हम क्या वस्तु हैं, इस बात को जानने की चेष्टा नहीं करते हैं । जब कि शास्त्रों का उपदेश है कि मानव जीवन के चौबीस घण्टे ही पारमार्थिक विषय में ही व्यतीत होने चाहिए । बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य यह नहीं है कि वह अपना अमूल्य जीवन अपनी इन्द्रिय तर्पण के लिए ही गँवा दे ।

सभी जीवों को अपने-अपने मंगल के विषय में विचार करना चाहिए । हमें स्वार्थपर होना चाहिए । परन्तु संसार में अधिकांश लोग जागतिक कार्यों ही नियुक्त रहते हैं । बाल्यावस्था खेलकूद में, युवावस्था संसार धर्म में एवं वृद्धावस्था सम्पत्ति एवं शरीर की रक्षा करने में ही बिता देते हैं । परमार्थ विषय में वे सम्पूर्ण रूप से उदासीन रहते हैं । यही दुःख का विषय है । कुछ लोग कहते हैं - वर्तमान स्वार्थ के लिए - आत्मा के कल्याण की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि बाल्यकाल में विद्या अध्ययन नहीं करने से युवावस्था में अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है ।

जो समाज के कल्याण की कामना करते हैं, वे अपने कल्याण के साथ

ही दूसरों के कल्याण की चिन्ता भी करेंगे । चेतन का धर्म भगवत् सेवा, जिससे कि भोग आदि के द्वारा बाधा प्राप्त न हो, उसके लिए चेष्टा करनी चाहिए । कुछ लोग कह सकते हैं कि पाप कार्यों का परित्याग कर पुण्य कर्म करना उचित है; परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है । बुद्धिमान व्यक्ति का यही लक्षण है कि वह तात्कालिक कार्यों के साथ नित्य अवस्थान का क्या सम्बन्ध है, पद-पद पर इसका विचार करेगा । इससे विमुख होने पर हमें असुविधाओं में पड़ जायेंगे । वर्तमान काल में कोई कार्य करने पर भविष्य में उसका फल प्राप्त होता है ।

समय का सद् व्यवहार न करने पर अनेक प्रकार की असुविधाएँ घेर लेती हैं । वृद्धावस्था में परलोक की आलोचना का अभिलाषी व्यक्ति संसार की चिन्ताओं में मग्न रहने के कारण किसी प्रकार का उपकार प्राप्त नहीं कर पाता है ।

45 **प्र०–क्या वर्णाश्रम धर्म नित्य हैं ?**

उ०–जीवमात्र ही बाहर के आवरण(जड़ देह) को आत्मा मानते हैं । मैं नित्य भगवान का सेवक हूँ । भगवान की सेवा ही मेरा नित्य धर्म है । मैं वर्णी (ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि) या आश्रमी (ब्रह्मचारी, गृहस्थ इत्यादि) नहीं हूँ । अतः वर्णाश्रम धर्म अच्छी प्रकार से पालन करने पर इस लोक में और परलोक में सुविधा होती है । जब तक यह जड़ शरीर रहता है, तबतक वर्णाश्रम धर्म भी रहता है । यह जागतिक मंगल के लिए ही उपयोगी है । चौदह लोकों में औपाधिक स्थिति में ही इसकी उपयोगिता है । किन्तु नित्य जगत में इसकी कोई उपयोगिता नहीं है । स्वयं श्रीचैतन्यमहाप्रभु कहते हैं–मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासी भी नहीं हूँ । मेरा सम्बन्ध तो केवल भगवान से ही है । मैं उनका सेवक हूँ । मैं यदि उन्हें न भूलूँ, तो मेरा मंगल ही मंगल है ।

भगवान चेतन हैं, जीव भी चेतन है । जीव भगवान का अंश है । वह भगवान की भाँति विभु चेतन नहीं है, अणु चेतन है । जीव भगवान के अधीन है । परन्तु वर्तमान अवस्था में जीव अपनी चेतनता या स्वतन्त्रता का दुर्व्यवहार कर रहा है, इसीलिए उसकी दुर्गति हो रही है । भगवान की सेवा से च्युत होने के कारण ही हमारी दुर्गति होती है और भगवान की सेवा में नियुक्त होने पर कल्याण होता है ।

46 **प्र० – चैतन्य महाप्रभु कौन हैं ?**

उ० – चैतन्यदेव दो या दस हजार वर्ष के पूर्व नहीं हैं । बल्कि वे नित्य सनातन वस्तु हैं । वे पुरुषोत्तम हैं । वे अनादि, सर्वादि एवं समस्त कारणों के भी कारण हैं । वे किसी काल में उत्पन्न नहीं होते । परन्तु भूत, भविष्यत् और वर्तमान – इन तीनों ही काल उनसे उत्पन्न होते हैं । वे विभु वस्तु हैं । वे हड्डी, माँस का कोई लोथड़ा नहीं हैं । वे पुराण पुरुष हैं । वे पुरुष – कर्त्ता हैं । वे ही परब्रह्म, परमात्मा और भगवान हैं । वे साक्षात् कृष्ण ही हैं । वे अवतारी हैं, महा भगवान हैं तथा परमेश्वर हैं । वे स्वयं भगवान हैं ।

श्रीचैतन्यदेव कृपाम्बुधि (दया के सागर) हैं । उनके समान दया और कोई नहीं कर सकता । यहाँ तक कि भगवान के अन्यान्य अवतार भी इतनी दया नहीं करते । उनकी ऐसी अपूर्व दया अयोग्य व्यक्ति को योग्यता प्रदान करने के लिए ही होती हैं । यही अनन्त काल के लिए पूर्ण दया है – भगवान का स्वयं को स्वयं ही दे देना । ऐसे दान की बात कभी आजतक सुनी नहीं गयी ।

उन्होंने जिस प्रेम को दान किया, उसकी सुन्दरता को दर्शन करने में कर्मी, योगी एवं ज्ञानी सर्वथा असमर्थ हैं । केवल भाग्यवान व्यक्ति ही उसे प्राप्त कर सकते हैं । इसीलिए मैं कहता हूँ कि आपलोगों के जितने प्रकार के विचार हैं, उन सबको छोड़कर चैतन्य महाप्रभु की कथाओं को श्रवण करने के लिए समय दो । साधारण मनुष्य से जिसकी विशेषता है, उसकी कथाओं को श्रवण करने में समय देने पर ही वास्तविक शान्ति का मार्ग अर्थात् भगवद् उपासना प्राप्त होती है । तब भगवान को पुत्र भाव से पालन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । पुरुष के साथ स्त्रियों के विवाह आदि के द्वारा मानव जीवन की पूर्णता या शान्ति प्राप्त करने का जो विचार है, उसके स्थान पर भगवान के विराजमान होने पर अनित्य बुद्धि से माता का पुत्र के प्रति पुत्रज्ञान इत्यादि दूर हो जाता है । हम यदि अपने समस्त भावों को भगवान के चरणकमलों में नियुक्त कर सकें, तभी उन भावों की सार्थकता है । शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर – ये पाँचों रस भगवान में पूर्णमात्रा में विद्यमान हैं । उन भावों को भगवान में नियुक्त न कर अनित्य वस्तुओं में नियुक्त करने के कारण ही भगवान के विषय में ज्ञान प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं । भगवद् वस्तु पूर्णज्ञानमयी एवं आनन्दमयी है । उन्हें जानने के लिए हम बहुत चेष्टा करते हैं, परन्तु हमारे घर के निकट ही वे गोलोकपति मनुष्यरूप में चैतन्यमहाप्रभु रूप में जिस बात को

कहने के लिए अवतरित हुए, उसे न सुनकर अन्यान्य प्रकार की चेष्टाएँ करने पर उन्हें हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

47 **प्र०–गीता के सर्वधर्मान् परित्यज्य जैसी अत्यन्त महत्वपूर्ण बात को महाप्रभु ने 'एहो बाह्य' क्यों कहा ?**

उ०–महाप्रभु ने गीता के इतने बड़े वाक्य को भी 'एहो बाह्य, आगे कह आर' अर्थात् 'यह बाहरी बात है, इससे आगे कुछ हो तो कहो'–ऐसा रामानन्दजी से कहा । क्योंकि भक्ति आत्मा की सहज वृत्ति है । उसके लिए भगवान को प्रतिज्ञा पत्र देकर भक्त करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती । भक्त तो प्रीतिवशतः स्वाभाविक रूप में ही भगवान के सुख के लिए ही सर्वदा व्यस्त रहता है ।

पिता को यदि कुछ लालच देकर पुत्र से अपनी सेवा करानी पड़े तो पुत्र की महिमा ही क्या रही ? कहाँ भक्त स्वयं ही अपनेपन के भाव से भगवान की सेवा करेंगे, ऐसा न होकर यहाँ पर विपरीत देखा जा रहा है अर्थात् भगवानको कहना पड़ रहा है कि तुम मेरी सेवा करो, मैं तुम्हें समस्त पापो से मुक्त कर दूँगा । यहाँ पर भक्त केवल भगवान को ही भूला है, ऐसी बात नहीं, बल्कि वह स्वयं को भी, अपने नित्य स्वरूप को, नित्य अस्तित्व की बात को भी भूलकर अनित्य वस्तुओं की सेवा कर रहा है । इसीलिए महाप्रभु ने इतनी बड़ी बात को भी एहो बाह्य कहकर जगत में शुद्ध भक्ति की शिक्षा देने के लिए ही सर्वोत्तम ब्रजभक्ति के विषय में जानने के लिए ही 'आगे कह आर' ऐसा कहा है ।

48 **प्र०–परीक्षा क्या चीज है ?**

उ०–छात्रों को उन्नत श्रेणियों में ले जाने के लिए ही अध्यापक कृपापूर्वक परीक्षा लेते हैं । जो मनोयोगी एवं बुद्धिमान छात्र हैं, उनके लिए परीक्षा आनन्दप्रद होती है; परन्तु जो मनोयोगी नहीं है; पढ़ने में जिनकी रुचि नहीं है, वे ही परीक्षा के नाम से भयभीत एवं दुःखी हो जाते हैं । जो सर्वदा ही भोग-विषयों की बातों का ही प्रचार करते हैं, लोगों की रुचि के अनुसार ही बातें कहते हैं, उनके मार्ग में किसी प्रकार की विपत्ति या बाधाएँ नहीं आतीं । किन्तु जो भगवान की सेवा के विषय में, आत्मा की नित्यवृत्ति के विषय में तथा जीवों को जीवनसर्वस्व भक्ति की बातें सुनाते हैं, उनके लिए पद-पद पर विपत्तियाँ ही विपत्तियाँ आती हैं । वे विपत्तियाँ उनको निरुत्साह करने की चेष्टा करती हैं । किन्तु जो भक्तिपथ के पथिक हैं, उन्हें अच्छी तरह से जानना चाहिए कि

वे विपत्तियाँ और बाधाएँ हमारी भक्ति की परीक्षा करने के लिए ही आई हैं । हमें क्रमशः भक्तिमार्ग में आगे बढ़ाने के लिए ही आई हैं । ऐसे विकट समय पर नामाचार्य श्रील हरिदास ठाकुर भक्तराज श्रीप्रह्लाद महाराज की सेवा एवं सहनशीलता के आदर्श को देखकर स्वयं को स्थिर रखना चाहिए । मनुष्य अनित्य वस्तु प्राप्त करने के लिए चेष्टा करने के कारण ही आत्मकल्याण से सैकड़ों जन्मों के लिए वञ्चित हो जाता है । हजारों उदाहरण देखने पर भी मनुष्य यदि तुच्छ विषयों के लिए बाधा-विपत्तियों की परवाह न कर अपने प्राणों तक का परित्याग कर सकता है, तो क्या बुद्धिमान व्यक्ति अथवा भाग्यवान भक्त त्रिकालसत्य वस्तु भगवान के लिए इस नश्वर जीवन को नियुक्त नहीं कर सकता है ?

49 **प्र०-लोग तीर्थों में क्यों जाते हैं ?**

उ०-भक्त एवं भगवान की विहार स्थली ही तीर्थ कहलाती है । सुकृतिवान लोग भक्तसंग, भक्तसेवा और उसके फल से भगवान की सेवा प्राप्त करने के लिए तीर्थों में जाते हैं । पापी लोग अपने पाप करने की प्रवृत्ति को प्रबल रखकर केवल पाप के फल के नष्ट करने के लिए और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए तीर्थों में जाते हैं । किन्तु कृष्ण के प्रिय वैष्णववृन्द अतीर्थों को तीर्थ तथा मलिन तीर्थों को पवित्र करने के लिए ही तीर्थ भ्रमण की लीला करते हैं । वे अपने प्रभु की सेवा में प्रमत्त होकर विप्रलम्भ रूप से अपने प्रभु का अनुसन्धान करते रहते हैं ।

50 **प्र०-क्या भोग और त्याग दोनों का ही त्याग करना चाहिये ?**

उ०-महाप्रभु ने भोग और त्याग दोनों को ही त्याग करने के लिए कहा है । चक्षु, कर्ण, नासिका, जिहा, त्वचा आदि इन्द्रियों के द्वारा रूप, रस, गन्ध आदि विषयों को ग्रहण करना ही भोग है । यद्यपि यह भोग कुछ समय के लिए आनन्ददायक होता है, परन्तु इसका परिणाम बहुत ही भयानक होता है । इसीलिए भोग की अपेक्षा त्याग की महिमा अधिक है । त्याग अथवा वैराग्य बहुत ही अच्छा है, परन्तु जिस वैराग्य या त्याग में 'नेति नेति' कहते हुए विषयों का त्याग करते-करते अन्त में भगवान एवं भक्तों को भी त्याग देते हैं, यह त्याग भी एक प्रकार से भोग ही है । अर्थात् मायावादी लोग संसार को मिथ्या जानकर संसार की प्रत्येक वस्तु को अनित्य एवं मिथ्या जानकर यह भी सत्य नहीं है, यह भी सत्य नहीं है, कहकर उनका परित्याग कर देते हैं । परन्तु दुर्भाग्यवशतः भगवान एवं भक्ति को भी जागतिक (मायिक) वस्तु मानकर

उसका भी त्याग कर देते हैं । वे इस जगत को कष्टमय जानकर इससे मुक्त होना चाहते हैं । इस प्रकार कष्ट न चाहकर मुक्तिसुख प्राप्ति की आशा तो सबसे बड़ा भोग है । जो इस जगत को मिथ्या मानते हैं, कौए की विष्ठा की भाँति अपवित्र मानते हैं, उनका ऐसा विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण है । क्योंकि वास्तव में जगत की सृष्टि सर्वशक्तिमान श्रीभगवान ने की है । यदि हम उनकी सृष्टि को अनित्य या मिथ्या मानें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम भगवान की शक्ति को स्वीकार नहीं करते । जब कि शास्त्रों का वास्तविक अर्थ यह है कि जगत की समस्त वस्तुएँ सत्य हैं, किन्तु नाशवान हैं ।

भोग जिस प्रकार किसी व्यक्ति को सांसारिक वस्तुओं को भगवान की सेवा की वस्तु समझने नहीं देता, बल्कि उसके अन्दर यह भाव ले आता है कि मैं ही भोक्ता हूँ । अर्थात् जैसे विषय भोग में फंसा हुआ व्यक्ति स्वयं को ही जगत का भोक्ता अथवा मालिक मानने लगता है, उसी प्रकार त्याग भी किसी को भक्ति से दूर कर देता है । त्याग भी उसे यह समझने नहीं देता कि संसार की सभी वस्तुएँ भगवान की सेवा की वस्तुएँ हैं । वह उसके हृदय में यह भाव उत्पन्न कर देता है कि संसार की प्रत्येक वस्तुएँ दुःखदायी और बन्धन का कारण हैं, अतः उनका परित्याग करने से ही कल्याण हो सकता है । इस प्रकार वह भगवान, भक्ति और भक्तों के श्रीचरणों में अपराध कर देता है ।

जगत की सभी वस्तुएँ विश्व का वैभव हैं । रूप, रस आदि सभी इन्द्रियों के विषय हैं । अतः इन्द्रियाँ अपने इन रूप, रस आदि विषयों से कभी भी विमुख नहीं हो सकतीं । यद्यपि कोई-कोई बाह्य इन्द्रियों को जैसे चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा आदि को रोक भी लेते हैं, परन्तु अन्तः-इन्द्रिय मन से उन विषयों को भोग करते रहते हैं । यदि कोई विषयों को त्यागने के उद्देश्य से विषयों को ग्रहण करने वाले बाह्य इन्द्रियों को ही नष्ट करने की चेष्टा करता है, तो वैराग्य प्राप्ति से पहले ही उसे इन्द्रियों के नाश होने पर शारीरिक पीड़ा उठानी पड़ती है ।

भक्त विषयों को न तो भोग करता है, न उसका त्याग करता है । वह तो उन समस्त विषय-भोगों को भगवान की सेवा की वस्तु मानकर उन्हें भगवान की सेवा में लगाता है । वे विषयों के प्रति आसक्ति त्यागकर शरीर धारण के लिए जितनी आवश्यकता है, उतना ही ग्रहण करते हैं तथा स्वयं को भगवान का सेवक जानकर निरन्तर भगवान की सेवा में लगे रहते हैं । त्याग एवं भोग आत्मा की वृत्ति नहीं है, सेवा ही आत्मा की नित्य वृत्ति है । मुक्त

आत्माएँ (जीव) वैकुण्ठ में अपने प्रभु की सेवा में विभोर रहते हैं । भाग्यवान बद्धजीव बद्ध अवस्था से मुक्त या शुद्ध होने के लिए भगवान के द्वारा दिए हुए इन्द्रियों एवं विषयों को अपने भोग में नहीं लगाते, तथा न ही उन्हें दुःखमय जानकर उनका त्याग करते हैं । वे तो केवल भगवान की सेवा के अनुकूल विषयों को ग्रहण करते हैं तथा प्रतिकूल विषयों का त्याग करते हैं ।

51 **प्र० – श्रीरूपगोस्वामी प्रभु कौन हैं ?**

उ० – श्रीरूपगोस्वामी प्रभु भगवान के नित्यसिद्ध परिकर हैं । वे जगद्गुरु एवं भक्त-सम्राट हैं । वे कृष्णलीला की श्रीरूपमञ्जरी गोपी हैं । वे श्रीगौरसुन्दर के अन्तरंग भक्त हैं । वे जीव तत्त्व नहीं हैं, अपितु जीवों के प्रभु स्वरूपशक्ति तत्त्व हैं । वे श्रीमती राधिकाजी की प्रिय किंकरी हैं ।

श्रीगौरसुन्दर के अन्यान्य भक्तों की अपेक्षा श्रीरूपगोस्वामी का विशेष वैशिष्ट्य हैं । वे प्रभु श्रीगौरसुन्दर के अत्यन्त ही प्रिय हैं । वे प्रभु के हृदय के भावों को जिस प्रकार स्पष्ट रूप से जान लेते थे, वैसा अन्य कोई नहीं जान पाता था। क्योंकि श्रीस्वरूप रूप के अनुगत जनों के हृदय में ही श्रीगौरसुन्दर के हृदय का निगूढ़भाव प्रकाशित हो सकता है । श्रीरूपगोस्वामीजी के सभी लोग ऋणी हैं । जब तक श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय रहेगा, तबतक श्रीरूपगोस्वामीजी के अपूर्व दान को भुला न सकेगा ।

जो श्रीकृष्ण की गोद में, वक्षस्थल में एवं मस्तक पर रहते हैं, अर्थात् कृष्ण जिन्हें सर्वदा अपने कन्धे एवं मस्तक पर धारण करते हैं, अर्थात् जो कृष्ण के अत्यन्त ही प्रिय हैं, वे ही हमारे नित्य उपास्य श्रीरूपगोस्वामी प्रभु हैं । हम उनकी चरणधूलि की ही कामना करते हैं । हमारी आशा-भरोसा एकमात्र श्रीरूपगोस्वामी के चरणों में ही है ।

कृष्ण की सेवा कैसे प्राप्त की जा सकती है ? इसके उत्तर में श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी प्रभु कह रहे हैं-श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी की कृपा से ही कृष्ण की सेवा प्राप्त होती है ।

हम श्रीरूपगोस्वामी के चरणकमलों से जितनी दूर होंगे, प्रभु श्रीगौरसुन्दर के श्रीचरणकमलों से भी उतनी ही दूर होंगे । श्रीरूपगोस्वामीजी के अनुगत जन ही कृष्णभक्तिरूप सम्पत्ति के अधिकारी हैं । श्रीरूपगोस्वामीजी कृष्णभक्ति के जीवन्त आदर्श हैं । साधारण ऐतिहासिक लोगों की दृष्टि में वे अपने बड़े भाई श्रीसनातन गोस्वामी के शिष्य हैं । परन्तु श्रीसनातन गोस्वामी भी रूपगोस्वामीजी

की कृपा की वाञ्छा करते हैं । श्रीसनातन गोस्वामीजी कहते हैं–जिसपर रूपगोस्वामीजी की कृपा नहीं होगी, वे कदापि श्रीराधागोविन्द की सेवा प्राप्त नहीं कर सकते ।

कर्मकाण्डी और ब्रह्मज्ञानी जब भक्ति को लोप करने की चेष्टा कर रहे थे, उनके बल का नाश करने के लिए भक्ति का प्रचार करने वाले श्रीगौरसुन्दर के सेनापतियों की आवश्यकता थी । ऐसी स्थिति में श्रीरूपगोस्वामी ही प्रभु के दो प्रधान सेनापति हुए । श्रीरूपगोस्वामी सेनापति और उनके अनुगत जन उनकी सेना हैं । श्रीस्वरूप दामोदर गौड़ीय वैष्णवों के ईश्वर हैं । वे ही सेना का गठन करते हैं, भक्ति के विरुद्ध अन्याभिलाषी, कर्मी, ज्ञानी एवं योगी सम्प्रदाय को पराजित करने के लिए ।

उस रूपानुग सेना के हाथ में किसी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं । उनका तो एकमात्र अस्त्र है–कीर्तन । उन भक्तिविरोधी सम्प्रदायों से और दुःख से कैसे अपनी रक्षा करनी चाहिए, प्रभु श्रीगौरसुन्दर ने प्रयाग में इसकी शिक्षा श्रीरूपगोस्वामी को अपनी शक्ति संचरितकर प्रदान की । उन सेनापतियों ने अपनी सेना के द्वारा जैसा युद्ध किया, उसकी आलोचना करने पर हम भी भक्ति विरोधी सम्प्रदायों के विचारों के विरुद्ध गोली चलाकर असद्वृत्ति, कर्माग्रह, फलकामना, अन्याभिलाषिता, पाषण्डता, नास्तिकता, बिद्धभाव इत्यादि को नष्ट कर सकते हैं ।

श्रीजीवगोस्वामी रूपानुग-सैन्यसिंह हैं । उन्होंने अपने अमोघ विचाररूपी बाण के द्वारा समस्त प्रकार के असत् मतों का खण्डन किया । श्रीरूप-सेनापति के अनुगत हैं– श्रीजीवगोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी । श्रीरूपगोस्वामी उनके दासों के निकट जिस दुर्लभ सम्पत्ति को रख गये हैं, उसे हम श्रीनरोत्तम ठाकुर और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के निकट प्राप्त कर सकते हैं । यदि हम वास्तव में ही निष्कपटरूप से उस अमूल्य सम्पत्ति को चाहते हैं, तभी हम श्रीरूपगोस्वामी की सम्पत्ति उस सेवा सम्पत्ति को पा सकते हैं । श्रीरूपगोस्वामी जी का सौन्दर्य, माधुर्य, अलौकिकी असामान्या अहैतुकी अमन्दोद दया-कृपा-पराकाष्ठा की प्राप्ति होने पर कुरूप एवं विरूपानुगत्य नहीं रहता और सर्वत्र ही सुरूप एवं सुदर्शन होता है । तब विश्वभर के लोग जिस जड़ रूप के लिए पागल रहते हैं, उसे कुरूप जानकर उस पर थूकेंगे ।

जिस रूप के द्वारा कृष्ण की सेवा की जाती है, इस समय वह उपाधि

द्वारा ढका हुआ है । उपाधियाँ दो प्रकार की होती हैं । मानसिक उपाधि और शारीरिक उपाधि । उस रूप का विरोधी होकर कोई कर्मी, अन्याभिलाषी, ज्ञानी एवं कोई योगी के रूप में सजा हुआ है । कभी-कभी मन से सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ, देवता हूँ, पण्डित हूँ, मूर्ख हूँ, धनी हूँ, गरीब हूँ, पिता हूँ, पुत्र हूँ, ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ । धन-सम्पत्ति का रूप, स्त्री का रूप, प्रतिष्ठा का रूप हमें आकर्षित कर लेता है तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए हम क्या कुछ नहीं करते ? श्रीरूपगोस्वामी ने श्रीगौरसुन्दर के जिस परमाकर्षक रूप के विषय में बताया है, उस रूप को प्राप्त करने के लिए क्या हमारे हृदय में एक बार भी लोभ नहीं जागेगा ?

सेवोन्मुख, निष्कपट एवं दैन्यमय प्रीति-चक्षुओं के द्वारा ही श्रीरूपगोस्वामीजी के चरणकमलों का दर्शन हो सकता है । हमारा भजन, पूजन, सर्वस्व, यह एवं परकाल जब सब श्रीरूपगोस्वामी के चरणकमल ही बन जाएँगे, तभी श्रीचैतन्यमहाप्रभु को पूर्णरूप से प्राप्त किया जा सकता है । अतः श्रीरूपगोस्वामी के चरणकमल ही हमारे लिए एकमात्र आशा और भरोसा हैं । उनकी कृपा ही हमारी एकमात्र अवलम्बन है । यही प्रार्थना है–

आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः ।
श्रीमद्रूपपदाम्भोजधूलि : स्याज्जन्मजन्मनि ।।

अर्थात् मैं दाँतों में तिनका धारणकर (अति दीनहीन भाव से) यही प्रार्थना करता हूँ कि जन्म-जन्मों तक श्रीरूपगोस्वामीजी के चरणकमलों की धूलि बन जाऊँ ।

52 **प्र०–कर्म और लीला में क्या भेद है ?**

उ०–कर्म और लीला में आकाश-पाताल का भेद है । कर्म बहिर्मुख जड़ इन्द्रियों के द्वारा किये जाते हैं, परन्तु लीला सेवोन्मुख चिद् इन्द्रियों के द्वारा होती है । कर्म की भूमिका जगत है, अर्थात् कर्म जगत में ही होता है । कर्म का आधार स्थूल या सूक्ष्म देह है अर्थात् स्थूल या सूक्ष्म देह से ही कर्म किये जाते हैं । कर्म अनित्य हैं । क्योंकि वे अनित्य शरीर से किये जाते हैं । लीलाएँ नित्य हैं, क्योंकि वे चिन्मय इन्द्रियों के द्वारा होती हैं । कर्म मायाबद्ध जीव के लिए त्रितापभोग या दण्डस्वरूप है । परन्तु लीला सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वराट् पुरुषोत्तम की निरंकुश इच्छा से उत्पन्न आनन्दमय क्रीड़ामात्र है । लीला की भूमिका चौदह लोकों (भूलोक, भुवर्लोक इत्यादि) से अतीत बिरजा नदी तथा ब्रह्मलोक (मुक्तिलोक)से

भी ऊपर वैकुण्ठ और गोलोक है । लीलाएँ लीलामय भगवान की लीलाशक्ति की इच्छा से ही जगत में प्रकाशित होती हैं । ऐसा होने पर भी इन्द्रियातीत अचिन्त्य स्वभाव के कारण वह जागतिक गुणों से लिप्त नहीं होती हैं । यही गौड़ीय दर्शन का विचार है ।

53 **प्र० – क्या प्रकृति या माया जगत – सृष्टि का मूल कारण है ?**

उ० – गुणमयी माया कभी भी जगत का मुख्य कारण नहीं हो सकती । महाविष्णु के द्वारा ईक्षण के माध्यम से शक्ति के सञ्चरित होने पर ही गुणमयी माया जगत – सृष्टि का गौण कारण होती है । जिस प्रकार लोहे में अग्नि प्रवेश करने पर लोहे में जलाने की शक्ति आ जाती है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति या माया का द्रव्यरूप कारणत्व अजागलस्तन (बकरी के गले के स्तन) की भाँति ही है । गुणरूप अंश में जिस माया को निमित्त – कारण बताया गया है, उसमें भी कृष्ण ही मूल निमित्त – कारण हैं । नारायण (कुम्हार) स्थानीय मुख्य निमित्त – कारण हैं, माया चक्रदण्ड (घड़े बनाने में प्रयुक्त किये जाने वाले चक्र एवं दण्ड) स्थानीय गौण निमित्त कारण है । जिस प्रकार कुम्हार के बिना घड़ा नहीं बन सकता, उसी प्रकार कृष्ण के बिना भी जगत नहीं हो सकता । अतः जगत – सृष्टि के मूल कारण भगवान हैं । माया गौण कारण है । कारणार्णवशायी पुरुष दूर से माया के प्रति ईक्षण करते हैं । उससे दो कार्य होते हैं । प्रथम उनके (कारणोदकशायी के) किरण – कण स्वरूप अनन्त जीव माया में प्रविष्ट होते हैं । द्वितीय वे अपने अंग के आभास से माया का स्पर्शकर अनन्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं । अंग का आभास अंगमिलन का आभासमात्र है, वास्तविक अंगमिलन नहीं है,'वे भगवान माया से युक्त होकर आते हैं'–इस चिन्ताधारा की भाँति नहीं हैं । कृष्ण ही प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक – एक स्वरूप धारणकर प्रविष्ट होते हैं । अतः कृष्ण ही मूल जगत के कारण हैं । शास्त्र कहते हैं–

कृष्णशक्त्ये प्रकृति हय गौणकारण ।
अग्निशक्त्ये लौह जैछे करये जारण ।। (चै. च.)

परव्योम (वैकुण्ठ)के बाहर ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम है, उसके बाहर कारणसमुद्र है । चिन्मयधाम कारणशून्य है, परन्तु कारणमयी है । इन दोनों के मध्यवर्ती स्थान को चिन्मय जलनिधि कारणसमुद्र कहा जाता है । उन जलशायी भगवान का ईक्षण ही उससे बाहर विद्यमान माया को लक्ष्य करके सृष्टि आदि कार्य करते हैं । माया उस कारण समुद्र को स्पर्श नहीं कर सकती है । अतः भगवान का

ईक्षण माया में प्रविष्ट होकर माया को क्रियावती बनाता है ।

54 **प्र० – किसकी सेवा सर्वश्रेष्ठ है ?**

उ० – पद्मपुराण में शिवजी पार्वतीजी से कह रहे हैं–

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधना परम् ।
तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम् ।।

जगत में जितनी प्रकार की पूजाएँ प्रचलित हैं, उन पूजाओं में भगवान श्रीहरि की पूजा ही सर्वोत्तम है । जो उन सर्वोत्तम पूज्य भगवान श्रीहरि की पूजा करते हैं, उन भगवद् भक्तों की पूजा तो और भी अधिक श्रेष्ठ है । ऐसे भक्तों की पूजा तो स्वयं भगवान भी करते हैं । भगवान सर्वाधिक पूज्य हैं । ऐसे भगवान की पूजा के पात्र या प्रेम के पात्र प्रेमी भगवद् भक्त होते हैं । श्रीगुरुदेव उन भगवद् भक्तों में अग्रणी हैं । अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान भी जिसकी पूजा करते है, उसकी सेवा – पूजा ही सबसे श्रेष्ठ है ।

मद्गुरुः जगद्गुरुः, मन्नाथः जगन्नाथः । मेरे गुरु जगद्गुरु हैं । मेरे गुरु के विद्वेषी व्यक्ति भगवान के भी विद्वेषी हैं । इतना ही नहीं, वे सारे जगत के विद्वेषी हैं, मनुष्यमात्र के विद्वेषी हैं । जबतक शिष्य के हृदय में ऐसे विचार नहीं आ जाते, तब तक वह गुरु – सेवक नहीं हैं । जब तक श्रीगुरुदेव के चरणकमलों में स्वयं को आत्मसमर्पित नही कर सकता, तबतक वह तृणादपिसुनीच एवं अमानी – मानद होकर हरिकीर्तन नहीं कर सकता । गुरुसेवा के समान अन्य कोई मंगलप्रद कार्य नहीं है । समस्त आराधनाओं में भगवान की आराधना ही सर्वश्रेष्ठ है । भगवान की आरधना से भी श्रीगुरुदेव की सेवा श्रेष्ठ है, जबतक साधक के हृदय में ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं आ जाता, तब तक उसका गुरुपदाश्रय करना नहीं हुआ । मैं आश्रित हूँ, गुरुदेव मेरे एकमात्र आश्रय, पालक एवं रक्षक हैं – ऐसे विचार उसके हृदय में कदापि उत्पन्न नहीं हो सकते । **सर्वस्वं गुरवे दद्यात्** – इस शास्त्रवाणी के अनुसार जब तक श्रीगुरुदेव के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित न किया जाय और प्राण, अर्थ, बुद्धि, वाक्य, मन, विद्या, शरीर इत्यादि के द्वारा प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा न की जाय, तब तक विषयों के प्रति आसक्ति नष्ट नहीं हो सकती और निष्काम भी नहीं हुआ जा सकता । स्वसुख कामनारूप भवरोग दूर नहीं हो सकता । भय, चिन्ता, दुःख, मोह नहीं कट सकते । सम्पूर्णरूप से श्रीगुरुदेव के चरणों में आश्रय लेने पर ही निर्मोह (मोहरहित), निर्भय एवं अशोक (शोकरहित) हुआ जा सकता है । यदि हम

निष्कपटरूप से कृपा प्राप्त करना चाहते हैं, तो श्रीगुरुपादपद्म निष्कपटरूप से हमें समस्त प्रकार के मंगल प्रदान करते हैं ।

श्रीगुरुदेव मर्त्य जगत के नहीं हैं । वे अमर एवं नित्य वस्तु हैं । श्रीगुरुदेव नित्य हैं, उनकी सेवा नित्य है और उनके सेवक भी नित्य हैं । अत: हमें कितनी आशा-भरोसा रखनी चाहिए कि कोई भी नाशवान् वस्तु हमारी नहीं है ? अर्थात् एकमात्र नित्यवस्तु श्रीगुरुपादपद्म एवं उनके सेवकों के प्रति ही हमें आशा एवं भरोसा रखना चाहिए ।

हम वश्य तत्त्व (अधीन तत्त्व) हैं, श्रीगुरुदेव ईश्वर वस्तु (सेवक भगवान) हैं । श्रीकृष्ण विषय-विग्रह तथा श्रीगुरुदेव आश्रय-विग्रह हैं, जिनका आश्रय ग्रहण करने से हम भगवान को प्राप्त कर सकते हैं । स्वयं भगवान कृष्ण विषय-विग्रह होने पर भी आश्रय-विग्रह गुरुतत्त्व के रूप में विराजमान हैं । श्रीगुरुदेव ईश्वर एवं भगवान होने पर भी स्वयं भगवान की सेवा का आचरण करके हमें शिक्षा देते हैं । वर्तमान में हमारी संसार के प्रति आसक्ति एवं कर्त्ता अभिमान है । इसलिए हमें इतना दु:ख एवं उद्वेग प्राप्त हो रहा है । इस भयंकर कर्त्ताभिमान से गुरुदेव ही हमारी रक्षा कर सकते हैं । किन्तु क्या हम रक्षा चाहते हैं ? हम तो इसी संसार में ही अटके रहना चाहते हैं । यदि हमारी संसार से मुक्त होने की इच्छा होती, तो साक्षात् भगवत्स्वरूप गुरुदेव- भगवद् अवतार श्रीगुरुदेव, भगवान के प्रतिनिधि श्रीगुरुदेवकी जी जान से सेवा करने पर भी हमारा मन नहीं भरता । क्या हमारी चित्तवृत्ति ऐसी हो रही है ? गुरुदेव को सोलह आना (शत-प्रतिशत) देने की बात तो दूर रहे, हमारे हृदय में एक आना देने की भी प्रवृत्ति नहीं है । यदि हम सारवस्तु को सार न करें, तो सारवस्तु कैसे प्राप्त की जा सकती है ? अर्थात् गुरुदेव ही सारवस्तु हैं, यदि हम उनका आश्रय ग्रहण न करें, तो सारवस्तु भगवान को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? श्रीगुरुदेव के प्रति भगवत् बुद्धि न रहने के कारण ही हमारी ऐसी दुर्गति हो रही है, संसार के प्रति आसक्ति क्षण-प्रतिक्षण बढ़ रही है, इसलिए मैं कह रहा हूँ- श्रीगुरुदेव के प्रति मर्त्यबुद्धि या साधारण मनुष्य बुद्धि मत करो । वे तुम्हारे अनन्तजीवनदाता हैं, तुम्हारे भवरोग के वैद्य हैं । सब प्रकार से तुम्हारे रक्षक, पालक, उपकारक तथा तुम्हारे नि:स्वार्थ बन्धु हैं ।

हम यदि पूर्णरूप से श्रीगुरुदेव के श्रीचरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने के लिए तैयार न हों, तो जितने परिमाण में हम कपटता करेंगे, उतने परिमाण

में स्वयं ही ठगे जायेंगे । हमें यह बात सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए । अन्यथा सद्गुरु चरणाश्रय करने पर भी हमारा कुछ विशेष उपकार नहीं हो सकता । समस्त मंगलों के भी मंगलस्वरूप भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने कृपापूर्वक हमारे कल्याण के लिए हमें जिनके हाथों में अर्पण किया है, यदि मैं सम्पूर्णरूप से उन श्रीगुरुदेव के श्रीचरणकमलों का आश्रय ग्रहण न करूँ, समर्पण न करूँ, अपना सर्वस्व उन्हें न देकर कपटता करूँ, तो वे सम्पूर्णरूप से हमारा मंगल कैसे करेंगे ? यदि हम हृदय से संसार के प्रति आसक्त होकर बाहर से लोगों को दिखाने के लिए भक्ति का ढ़ोग करें, तो सर्वज्ञ श्रीगुरुदेव हमारे इस ढोंग को जानकर हमारी वञ्चना कर देंगे–**'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।'** हम गुरु–वैष्णवों की सेवा न कर माया अर्थात् आत्मीय बन्धु–बान्धवों की सेवा में ही व्यस्त रहकर जब गुरु और वैष्णवों की वञ्चना करते हैं, तब अन्तर्यामी श्रील गुरुदेव कृपापूर्वक हमसे कहते हैं– "तुम मेरे शिष्य नहीं बने, तुम मेरा शासन स्वीकार नहीं करते हो, मेरी बात तुम नहीं सुनते हो, तुम्हारे हृदय में पाप है । विश्वासघातक मन की बात एवं सांसारिक लोगों के आदर्श एवं विचारों की बात सुनने के कारण तुम्हारे कान मेरी बात सुनने के योग्य नहीं रह गये । अतः तुम वञ्चित हो गये हो"।

इसलिए मैं पुनः कह रहा हूँ कि श्रीगुरुदेव निष्कपटरूप से हमारे लिए जो आदेश निर्देश प्रदान करते हैं, उन्हें आदरपूर्वक नतमस्तक होकर ग्रहण करना चाहिए । अन्यथा अकल्याण निश्चित है । हे मेरे बन्धुवर्ग ! तुमलोग भोगी मत बनो । इन्द्रियों के द्वारा विषय भोग मत करो । क्योंकि यह सारा जगत श्रीगुरुसेवा का उपकरण है और कृष्णसेवा की वस्तु है । गुरुसेवा की वस्तुओं में भोगबुद्धि होने से मंगल नहीं हो सकता । प्रत्येक वस्तु में गुरुसम्बन्ध दर्शन नहीं करने से अमंगल अनिवार्य है।

55 **प्र० – प्रभुपाद ! आप कृपापूर्वक गीता के 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' श्लोक का अर्थ बता दीजिए ।**

उ० – गीता में श्रीभगवान ने समस्त प्रकार के धर्मों को छोड़कर उनके चरणों में शरण लेने की बात कही है । जिन भगवान ने गीता में ही उपदेश प्रदान किया है कि स्वधर्म छोड़कर परधर्म ग्रहण करने से अमंगल होता है । अपने धर्म में स्थित रहते हुए मरना भी अच्छा है, परन्तु किसी भी अवस्था में भयावह परधर्म का अनुष्ठान करना अनुचित है, वे भगवान ही यहाँ पर समस्त धर्मों को

परित्याग करने की बात कह रहे हैं । इस प्रकार भगवान की इन परस्पर विरोधी जैसी प्रतीत होनेवाली बातों का क्या सामञ्जस्य है ? देखिए, मनुष्य अपनी विद्या, बुद्धि एवं पारदर्शिता के माध्यम से पुरुषोत्तम भगवान को नहीं जान सकता । भगवान की कृपा से ही भगवान को जाना जा सकता है । यदि हम उन कृष्णचन्द्र के औदार्यमयलीला प्रकटकारी श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की आलोचना करें– जो स्वयं कृष्ण होकर भी कृष्ण की कथाओं का प्रचार करने के लिए जगत में अवतीर्ण हुए, उनकी कथाओं को एकाग्र चित्त होकर श्रवण करें, तभी इस प्रश्न का उत्तर सम्पूर्णरूप से हम प्राप्त कर सकते हैं । महाप्रभु जब संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् काशी में चन्द्रशेखर के घर निवास कर रहे थे । उस समय बंगाल के बादशाह हुसैनशाह के प्रधानमंत्री शाकरमल्लिक (श्रीसनातन प्रभु) वहाँपर उपस्थित हुए । उन्होंने महाप्रभु से पूछा–

के आमि, केन आमाय जारे तापत्रय ।
इहा नाहि जानि–केमने हित हय ।।

अर्थात् हे प्रभु ! आप कृपा करके बतालाइए कि मैं कौन हूँ तथा मुझे आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक– ये तीनों ताप किसलिए कष्ट दे रहे हैं? मैं यह भी नहीं जानता कि मेरा कल्याण कैसे होगा? इसके उत्तर में महाप्रभु ने जो कहा, उसे सुनें –

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य दास ।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश ।।
कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख ।।
साधु शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय ।
सेइ जीव निस्तरे माया ताहारे छाड़य ।।
तांते कृष्ण भजे करे गुरुर सेवन ।
माया जाल छुटे पाय कृष्णेर चरण ।।

अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्ण का नित्यदास है और कृष्ण की तटस्था शक्ति से प्रकट होता है । तटस्था शक्ति का कृष्ण से भेद एवं अभेद दोनों ही हैं । कृष्ण को भूलने के कारण ही जीव अनादि काल से बहिर्मुख हो गये हैं, इसलिए माया उन्हें नाना प्रकार के सांसारिक दुःख प्रदान करती है । यदि सौभाग्यवश वह कभी साधु और शास्त्र की कृपा से कृष्णोन्मुख होता है, तभी वह

माया के फन्दे से मुक्त हो सकता है । तब वह गुरु की सेवा करते हुए कृष्ण का भजन करता है, जिससे अति शीघ्र उसका मायाजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है और वह कृष्ण के चरणों को प्राप्त कर लेता है ।

जीव भगवान कृष्ण के सेवक हैं । कृष्ण जीव के नित्य प्रभु हैं । कृष्ण की सेवा करना ही जीव का नित्य एवं प्रधान कर्तव्य है । हम देह नहीं हैं, देही-अणुचैतन्य आत्मा हैं, यही शास्त्रों का उपदेश है । किन्तु शास्त्र की इन बातों को भूलकर जब हम इस शरीर एवं मन को ही 'मैं' मानता है, तभी समस्त प्रकार की असुविधाएँ आकर हमें घेर लेती हैं । तब हम देह की उत्पत्ति जिस कुल में हुई है, जिस देश में हुई है, उस कुल एवं देश को ही अपना मान लेते हैं । तब हम स्वयं को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ, स्त्री इत्यादि होने का अभिमान करते हैं । देह के परिवर्तन अथवा आयु के भेद से स्वयं को बालक, वृद्ध और युवक इत्यादि मानते हैं । उस शरीर को 'मैं' जानकर हम स्वयं को भारतवासी, बंगाली, इंग्लैण्डवासी, मुसलमान, मारवाड़ी, पंजाबी और बिहारी इत्यादि मानने लगते हैं । इसके अतिरिक्त आश्रमी के अभिमान से स्वयं को ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं संन्यासी मानने लगते हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन अवस्थाओं में ही परस्पर धर्मों में भेद एवं बहुत से धर्मों की उत्पत्ति हुई है ।

गीता के वक्ता स्वयं भगवान कृष्ण हैं । वे कह रहे हैं कि आत्मा नित्य है, अपरिवर्तनीय है । देह अनित्य एवं वृद्धि-क्षययुक्त है । जो देह के परिवर्तन के साथ ही परिवर्तनहीन आत्मा का परिवर्तन करते या उसका जन्म-मृत्यु स्वीकार करते हैं, वे मूर्ख हैं । अतः इस श्लोक में 'सर्वधर्म ' का अर्थ है-देह और मन के प्रति आत्मबुद्धि के कारण जितने प्रकार के धर्म उत्पन्न हुए हैं । अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चारों वर्ण, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चारों आश्रम एवं इनके अतिरिक्त अन्त्यज आदि धर्म, लौकिक निज भोग या त्यागपर पारलौकिक धर्म, विशेषरूप से कृष्णसेवा धर्म के अतिरिक्त चतुर्दश भुवनों में जितने धर्म हैं, वे सभी धर्म उस 'सर्वधर्म' के ही अन्तर्गत हैं, जिन्हें कृष्ण ने परित्याग करने के लिए कहा है ।

देह एवं मन के अनित्य धर्म को परित्याग कर आत्मा के नित्यधर्म भगवान की सेवा करनी चाहिए, करुणामय भगवान ने कृपापूर्वक हमें यह शिक्षा प्रदान की है । परन्तु मायाभ्रमित जीव आसानी से इस उपदेश को ग्रहण नहीं कर सकता । इसका प्रमाण इसी श्लोक की दूसरी पंक्ति में मिलता है । इसमें

भगवान कह रहे हैं–'**अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि ।**' अर्थात् मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा । अनित्य, जड़ देह एवं मन के धर्म को छोड़कर नित्य धर्म भगवान की सेवा के लिए अग्रसर होते समय आसक्ति एवं मोह के कारण जीव विचार करता है कि इन समस्त धर्मों को छोड़ने से मुझे पाप लगेगा । हाय ! हाय ! कितने दुःख की बात है कि जिस नित्य धर्म (भगवान की सेवा) का पालन न करने से महा अपराध और महापाप होता है, उसके प्रति उदासीन होकर मायाबद्ध जीव अनित्य धर्मों को नित्य मानकर उसको परित्याग करने में पाप समझ रहा है । इतना ही नहीं उसके लिए शोक भी कर रहा है । इसीलिए भगवान उससे कह रहे हैं कि इन अनित्य धर्मों को परित्याग करने से तुम्हें किसी प्रकार का पाप स्पर्श नहीं करेगा । फिर भी यदि तुम्हें इसका भय है, तो मैं तुम्हें उन समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा ।

स्वयं भगवान श्रीकृष्ण इस जगत में आकर भगवद् भजन की बातें बता गये हैं । परन्तु क्या हम उनकी बातों को मान रहे हैं ? क्या उनके आदेश व निर्देशों का पालन कर रहे हैं ? यदि हम भगवान के उपदेशों को न मानें शास्त्र की बात न सुनें, अपने मन के अनुसार ही आचरण करें, अकर्तव्य को कर्तव्य,कर्तव्य को अकर्तव्य मानें, साधु–गुरु एवं शास्त्रों के वचनों की अवहेलना करें, अपना कर्तव्य स्वयं ही निर्धारित करें, तो दोष किसका होगा ?

56 **प्र०–अनर्थों को दूर करने का उपाय क्या है ?**

उ०–हरिभजन न करने पर जीव कर्मी, ज्ञानी या अन्याभिलाषी हो जाता है । इसीलिए सर्वदा ही भगवान को 'हरेकृष्ण महामन्त्र' का उच्चारणकर पुकारना चाहिए । अपनी सामर्थ्य के अनुसार संख्यापूर्वक हरिनाम करने से अनर्थ दूर होते हैं, साथ ही जाड्य और आलस्य इत्यादि भी दूर भाग जाते हैं । निरपराध होकर हरिनाम करने से समस्त प्रकार की सिद्धियाँ सहज रूप में ही प्राप्त हो जाती हैं ।

57 **प्र०–हमें किस प्रकार रहना चाहिए ?**

उ०–बहिर्मुख लोगों के मुख से निरर्थक ग्राम्य कथाएँ निकलती ही रहेंगी । हमें ऐसी बातों में मन को नहीं लगाना चाहिए । यदि हमारी अपने कर्तव्य मार्ग पर अग्रसर होने की इच्छा हो, तो किसी भी प्रकार की बाधा–विपत्ति हमें लेशमात्र भी विचलित नहीं कर सकती । जगत के बहिर्मुख लोगों का सम्मान करना चाहिए, किन्तु उनके व्यवहार इत्यादि को नहीं सीखना चाहिए । मन ही

मन उनका परित्याग करना चाहिए, शरणागति, प्रार्थना, प्रेमभक्तिचन्द्रिका इत्यादि ग्रन्थों का अवश्य ही पाठ करना चाहिए । वास्तव में शास्त्रीय साधुसंग ही लाभदायक है । भजन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए साधुसंग नितान्त आवश्यक है ।

58 **प्र० – तृणादपि सुनीच किसे कहते हैं ?**

उ० – वैष्णव सर्वोत्तम होने पर भी स्वयं को तिनके से भी अधिक निकृष्ट मानते हैं । वे वास्तव में अधम अथवा नीच नहीं हैं, बल्कि भगवान के प्रिय पात्र हैं । भक्त सभी के पूजनीय होते हैं । इसीलिए उनके लिए नीच शब्द का उपयोग न कर सुनीच शब्द का प्रयोग किया गया है ।

मैं गुरुपादपद्म की चरणधूलि हूँ । मैं गुरु एवं कृष्ण का दास हूँ, यह अप्राकृत अभिमान ही तृणादपि सुनीचता है । जीव के प्रति दया, नाम में रुचि एवं वैष्णव – सेवा – महाप्रभु की ये तीन शिक्षाएँ हैं । तृणादपि सुनीचता का अर्थ कपटता नहीं है, मुख – ही – मुख में या बाह्य अभिनय में नीचता का प्रदर्शन नहीं है । किन्तु तृणादपि सुनीच का अर्थ – वास्तविक रूप से कीर्तन में अधिकार अर्थात् नाम में रुचि – श्रीनाम का सेवक अभिमान है । गुरु – वैष्णवों की सेवा ही तृणादपि सुनीचता है । अवैष्णवों के निकट नीचता नहीं, बल्कि वैष्णवों के निकट ही नीचता, दैन्य प्रकाश या कृपाभिक्षा करनी चाहिए । हर किसी के आगे दैन्य नहीं दिखाना चाहिए । यही महापुरुषों का उपदेश है । गुरु – वैष्णवों के विद्वेषी एवं पाषण्डियों के निकट, रावण के निकट अथवा ढोंगी विप्र के निकट नीचता का प्रदर्शन, वैष्णव सेवा या तृणादपि सुनीचता नहीं है । उसके द्वारा कभी भी कीर्तन में अधिकार या नाम में रुचि नहीं हो सकती । वास्तव में इसके द्वारा जीव के प्रति हिंसा करना ही है । रामभक्त हनुमानजी ने लंका को जलाकर भस्म

ूकर दाय। ायीह ाव ्तसंमू ातृषाद प सीनच क ाभ ाव ीह।

प्रश्न 59— भगवान जो करते हं ैय्का वह सब मंगलप्र ,द ही होता ह ? (39)*

उत्तर — अ ाव्यश ीह । दायंमायक साभ क छ दाय ीह ीह ंमगलंमायक वााध ीन ंमगल रीह ीह ीनीहू सकृत ीह ाभगाव ीन जब ज'ह्रीरृत सब ंमगलक लए ीह कस्रीू '। ज इ यातपाणंमूय्ाव ाघ ृतक' अंमगल ाय ाभगाव ीनस्रू ंमन्डीह्रीू वा ब्धदज ाव द ाव (प,स) क्क ावल एक च लक' ीह संमस्रीूत । च3ेथ अेथावचपाद्रीू च लक ब द ्यक ीह'ग, ाव इसक अीनमं ीन ीनीहू लग सक्रीू ।

श्रीचैतन्यदेव एवं उनके भक्तों की दया अमन्दोदय दया (जिस दया के द्वारा किसी का अपकार नहीं होता) है । उनकी दया में किसी भी प्रकार का अमंगल नहीं रहता है । एक रोगी को जब वैद्य कड़वी औषधि प्रदान करता है, तो रोगी वैद्य को दयाहीन एवं निष्ठुर कहता है, किन्तु जब उसका रोग दूर हो जाता है, तब वह समझ पाता है कि वैद्य ने कड़वी औषधि प्रदानकर उस पर कैसी कृपा की ।

60 **प्र० – मन्त्रों में जो नमः शब्द है, उसका अर्थ क्या है ?**

उ० – अहंकार अथवा स्वतन्त्रता का परित्यागकर प्रणत या शरणागत होना ही नमः शब्द का अर्थ है । हे गुरुदेव ! हे कृष्ण ! आज से मैं आपका आश्रित सेवक हो गया । आप कृपापूर्वक मेरा मार्गदर्शन करें, अपनी सेवा में नियुक्त करें । आज से मैंने अपना कर्तृत्व अथवा अहंकार का सम्पूर्णरूप से परित्याग कर दिया है । अब आपका आदेश, उपदेश एवं निर्देश ही मेरे जीवन का ध्रुवतारा या नियामक हो । यही मेरी प्रार्थना है ।

मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं पालक हूँ – यह सब जड़ अभिमान परित्याग करने का नाम ही नमस्कार है । मैं कर्त्ता हूँ – ऐसी दुर्बुद्धि श्रीगुरुदेव की कृपा से दूर होने पर ही वास्तविक दीक्षा एवं दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है ।

कृष्णप्रिय श्रीगुरुदेव के प्रकट काल में ही उनकी विश्रम्भ (प्रीतिपूर्वक) सेवा द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने में ही बुद्धिमत्ताहै । किन्तु उन अतिमर्त्य श्रीगुरुदेव के प्रति प्रीति विशिष्ट न होने के कारण यदि सिद्धि प्राप्त न कर पाएँ, उन्हें हृदय का देवता जानकर हृदय से यदि सम्यक्रूप में निष्काम भाव से उनकी सेवा न कर पाएँ, तो अवश्य ही हमें वञ्चित रहना पड़ेगा । मेरे एकमात्र रक्षक, एकमात्र उद्धारकर्त्ता, एकमात्र निरुपाधिक बन्धु को अपने निकट पाकर भी मैंने अपने दुर्भाग्य के कारण उन्हें खो दिया । ऐसा मेरा दुर्भाग्य है । गंगा के तटपर आकर भी जल लाने के लिए पुनः मरुस्थल की ओर मै दौड़ रहा हूँ । रत्नभण्डार को पाकर भी रत्न प्राप्ति की आशा से पुनः मनोहारी दुकान में काँच के टुकड़ों की चमक से लुब्ध हो रहा हूँ, कैसा सर्वनाश का विषय है ।

जो सुबुद्धिवान् होते हैं, वे निष्कपट तथा अन्याभिलाषशून्य होकर श्रीगुरुदेव के चरणों में शरणागत होकर आनुगत्यमय जीवन व्यतीत करने के लिए दृढ़संकल्प करते हैं । अन्यथा वञ्चित होना पड़ता है ।

61 **प्र० – भगवान का दर्शन कैसे होगा ?**

उ० – भगवान स्वप्रकाश वस्तु हैं । वे दया के सागर हैं । सेवोन्मुख होने पर भगवान कृपाकर अपना आकार कैसा है, अपना रंग कैसा है, इन समस्त वस्तुओं को चेतन (जीवमात्र) की वृत्ति में प्रकाशित कर देते हैं ।

भोक्ता सर्वदा ही कर्त्ताभिमान में व्यस्त रहता है । कर्त्ताभिमान से युक्त होकर उनको जो दर्शन करने की प्रचेष्टा की जाती है, उससे भगवान का दर्शन नहीं होता । गुरु – वैष्णवों के श्रीमुख से श्रवण के फल से शुद्ध चित्त में ही भगवान का दर्शन सम्भव है । किसी भी प्रकार की जड़ अभिज्ञता चेतन वस्तु (भगवान) का दर्शन नहीं कर सकती । चेतन की वृत्तिद्वारा, चिन्मय चक्षुओं के द्वारा ही चेतन – वस्तु भगवान का दर्शन होता है । केवलमात्र सेवक ही सेव्य का दर्शन पाते हैं । सेव्य कृपाकर सेवक को ही दर्शन देते हैं । सर्वप्रथम अन्तर्दर्शन, तत्पश्चात् बर्हिदर्शन होता है ।

62 **प्र० – हमलोग सम्पूर्णरूप से भगवान पर निर्भर क्यों नहीं हो पा रहे हैं ?**

उ० – अणुचेतन हमारा एकमात्र स्वभाव शरणागत होना, बृहत् चेतन का आश्रय ग्रहण करना है । परन्तु बर्हिजगत की वस्तुओं में आविष्ट रहने के कारण भगवान के प्रति हमारी श्रद्धा नहीं हो पाती है । जो सांसारिक किसी वस्तुओं की आकांक्षा नहीं करते हैं, जो अकिञ्चन हैं प्राकृत जगत की कोई भी वस्तु जिनके लिए अवलम्बनीय नहीं हैं, केवल वे ही भगवान के प्रति श्रद्धाविशिष्ट हो सकते हैं एवं भगवान पर निर्भर रह सकते हैं । जीवन्तशास्त्र साधुओं के श्रीमुख से वीर्यवती कथाओं को श्रवण करते – करते हम भगवान पर सम्पूर्णरूप से निर्भर रह सकते हैं ।

63 **प्र० – हमारा मंगल कब होगा ?**

उ० – साधुओं के श्रीमुख से भगवान की कथाओं को सुनकर जब हम उनका आनुगत्य करते हैं, तभी हमारा मंगल हो सकता है । यदि pottery work (कुम्हार का कार्य) करना हो, तो उसके लिए अभिज्ञ कुम्हार के निकट शिक्षा लेकर ही कार्य आरम्भ किया जाता हैं । मिठाई तैयार करते समय हलवाई से उचित विधि को जानना पड़ता है । उसी प्रकार किसी श्रेष्ठ अभिज्ञ व्यक्ति का आनुगत्य न कर स्वतन्त्ररूप से अपना कल्याण करने का विचार करने पर अनेक प्रकार की असुविधाएँ उपस्थित हो जाती हैं । उस समय हम शास्त्रों का वास्तविक अर्थ न समझकर मनोधर्म के वशीभूत हो जाते हैं ।

श्रीगुरुपादपद्मों का आश्रय करना ही हमारा कर्त्तव्य है । आम्नाय धारा को ग्रहण किये बिना सत्य वस्तु की उपलब्धि का अन्य उपाय नहीं है । निष्किञ्चन महापुरुषों की चरणधूलि में अभिषिक्त हुए बिना हमें कदापि भगवत् दर्शन नहीं हो सकता । वैष्णवगण ही हमें भोग्यदर्शन या कुदर्शन के हाथ से रक्षा कर सकते हैं । जैसे ही हम श्रीगुरुपादपद्मों का आश्रयकर गुरु के होकर कृष्णसेवा को अपना जीवन बनाते हैं, तभी वास्तव सत्य की उपलब्धि होती है ।

64 **प्र० – विषयी कौन है ?**

उ० – जो केवल अपने सुख के लिए ही विषयों का संग्रह करते हैं, विषय ही जिनके भोग के उपकरण या यन्त्र हैं, वे ही विषयी हैं । परन्तु जो भगवान की सेवा के लिए जागतिक विषयों का संग्रह करते हैं, वे विषयी नहीं बल्कि वे भगवान के सेवक हैं । बाह्य क्रियाकलापों के द्वारा भोगी एवं भक्तों को नहीं पहचाना जा सकता, केवल उनके उद्देश्य के द्वारा ही उन्हें पहचाना जा सकता है । जो अपनी इन्द्रिय – तृप्ति के लिए भोजन करते हैं, वे भोगी हैं । परन्तु जो भगवान की सेवा के लिए शरीर की रक्षा करते हैं और शरीर की रक्षा के लिए ही भोजन करते हैं, वे भक्त हैं । भक्त, भोगी भी नहीं होता तथा त्यागी भी नहीं होता है । भक्त तो भगवान के सेवक होते हैं । वे अपना धन, विषय और जागतिक समस्त प्रकार की वस्तुओं को भगवान की सेवा में लगाते हैं ।

65 **प्र० – क्या श्रीनाम – संकीर्त्तन ही मुख्य भजन है ?**

उ० – श्रीमन्महाप्रभु एवं गोस्वामीवर्ग के सिद्धान्त के अनुसार श्रीनाम – संकीर्त्तन ही मुख्य भजन है । भक्ति के जितने भी श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, अर्चन आदि अंग हैं, उनमें कृष्ण नाम – संकीर्तन ही श्रेष्ठतम है। श्रवण, स्मरण आदि अन्यान्य भक्ति के अंग नाम – संकीर्त्तन के अधीन ही हैं । श्रीनाम की कृपा न होने पर लीलाओं की स्फूर्त्ति नहीं होती । कीर्तन का त्यागकर केवल स्मरण आदि की चेष्टा तो केवल जड़प्रतिष्ठा मात्र है । साधारण मनुष्य के द्वारा रचित या कल्पित कीर्तन, कीर्तन नहीं होता, अपितु वह तो नामापराध युक्त कीर्तन होता है । ऐसा कीर्तन कृष्ण की इन्द्रियों को तृप्त नहीं कर सकता । उससे तो केवल अपनी इन्द्रियाँ ही तृप्त होती हैं । यह भजन के नाम पर भोग या अपराध ही है । श्रीचैतन्य महाप्रभु के मुख – निःसृत श्रीनाम – संकीर्तन ही भजन है । उस नाम – संकीर्तन के द्वारा ही कृष्ण प्रेम प्राप्त होता है । इसीलिए नाम – संकीर्तनको साधुओं ने श्रेष्ठतम भजन बताया है । वह स्वयं प्रकाशित नाम – रूपी अमृत

सेवोन्मुख किसी एक ही इन्द्रिय में आविर्भूत होकर अपने मधुर रस से समस्त इन्द्रियों को तृप्त कर देता है । भगवान श्री गौरांगदेव ने ऐसा ही बताया है ।

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति ।
कृष्णप्रेम, कृष्ण दिते धरे महाशक्ति ।।
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम संकीर्तन ।
निरपराधे नाम लइले पाय प्रेमधन ।।

अर्थ–भक्ति के समस्त अंगों में नवविधा भक्ति (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन) श्रेष्ठ है, जो कृष्ण एवं कृष्ण-प्रेम को देने में समर्थ है । परन्तु इन नौ प्रकार की भक्ति के अंगों में नाम कीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ है । अपराधों को त्यागकर नाम लेने पर अतिशीघ्र कृष्ण-प्रेम धन प्राप्त हो जाता है ।

66 **प्र०–क्या साधुसंग की विशेष आवश्यकता है ?**

उ०-अवश्य ही । साधुसंग अवश्य ही करना चाहिए। परन्तु साधु-संग भी अधिकार के अनुसार होता है । साधु के पास रहने से ही साधुसंग होता है, ऐसी बात नहीं है । साधुओं से बहुत दूर रहने पर भी साधु-संग होता है तथा एक घर में रहकर भी साधुसंग नहीं होता है । साधु-संग का सुयोग प्रदान करने के लिए ही मठों में उत्सव आदि किये जाते हैं । लोगों को गृहव्रत से (जिन्होंने अपने घर, स्त्री-पुत्र आदि के पालन पोषण का व्रत ले रखा है, उसे गृहव्रत कहते हैं ।) कृष्णव्रत बनाने के लिए, नाम में रुचि तथ गुरु वैष्णवों की सेवा का सुयोग देने के लिए मठों में उत्सवों का आयोजन किया जाता है ।

मठों में जो उत्सव किये जाते हैं, भागवत पाठ होता है और हरिकथाएँ होती हैं, उनका मूल उद्देश्य है–जीवों की कृष्णसेवा की वृत्ति को जगाना । संत्सग में हरिकथा श्रवण करने पर भगवान की सेवा की वृत्ति जागृत हो जाती है, और जीव का परम कल्याण हो जाता है । केवल भक्त ही साधु हैं । भोगी या त्यागी साधु नहीं हैं । भक्तसाधु का संग करने पर जाना जाता है कि भोग का पथ जिस प्रकार हानिकारक है, त्याग का पथ भी उसी प्रकार अकल्याणकारी है । फल्गु वैरागी (कपटी वैरागी) बीच में कल्याण का कोई उपाय न देखकर त्याग का पथ ग्रहण कर लेता है । जड़ जगत से प्रीति एवं घृणा दोनों कृष्ण विमुखता ही है । अतएव भोग एवं त्याग रूप इन दोनों प्रकार की भगवत विमुखताओं का त्याग न करने पर भक्ति का आश्रय पूर्णरूप में नहीं लिया जा

सकता । शुद्धभक्ति का विचार न हो जाने पर त्यागी या भोगी होना पड़ेगा ।

67 **प्र०–गुरु नित्यानन्द की कृपा कैसे प्राप्त की जा सकती है ?**

उ०–मैं बहुत योग्य हूँ– यह परमार्थ मार्ग का विचार नहीं है । मेरे समान दीन-हीन अयोग्य व्यक्ति इस पृथ्वी में दूसरा नहीं है– ऐसा अनुभव होने पर ही श्रीगुरु नित्यानन्द की कृपा होती है ।

यदि हम गुरुदेव के निकट रहने का अभिनय मात्र करें तो अवश्य ही असुविधा में फँस जायेंगे और यदि गुरुदेव से दूर रहें तो भी कल्याण होने वाला नहीं है । परन्तु यदि गुरुदेव और वैष्णवों के प्रति अपनत्व, श्रद्धा एवं प्रीति रहे, तो दूर रहो या पास रहो कल्याण अवश्य ही हो जायेगा ।

एक दिन एक धनी व्यक्ति का पुत्र मेरे पास आया । वह कठोर वैराग्य धारण किये हुए था । घुटने के ऊपर तक उसने एक मैला सा कपड़ा पहन रखा था । उस समय मैं श्रीमायापुर में जमींदारी का कार्य देखता था । मुझे विषय कार्य करता देखकर उसकी मेरे प्रति अश्रद्धा हो गयी तथा वह मुझे छोड़कर कहीं और जाकर असत्संग में फंस गया, जिसके फलस्वरूप कुछ दिनों में ही उसका पतन हो गया । साधु के सद्-उद्देश्य को न समझकर केवल बाहरी क्रिया-कलापों के द्वारा साधु को पहचानने की चेष्टा करने पर सर्वनाश ही होता है ।

68 **प्र०–वास्तविक रूप में कृष्ण की सेवा कैसे होती है ?**

उ०-कृष्णभक्त गुरु एवं वैष्णवों की सेवा द्वारा ही वास्तव में कृष्ण की सेवा होती है । किन्तु सहजिया लोग इसे समझ नहीं पाते । वे सोचते हैं कि जो कृष्ण की पूजा करता है, वही बड़ा है । इसीलिए वे स्वयं को वैष्णव मानकर दूसरों की सेवा लेते हैं । स्वयं गुरु एवं वैष्णवों की सेवा छोड़ देते हैं । किन्तु जो श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं उनके भक्तों की बातें सुनते हैं, वे जानते हैं कि गुरु एवं वैष्णवों की सेवा के द्वारा ही सचमुच कृष्ण की सेवा होती है । कृष्णभक्तों की सेवा छोड़कर भगवान की सेवा का कुछ मूल्य नहीं है । जो गुरु-वैष्णवों की सेवा त्यागकर कृष्ण-सेवा या नाम-भजन का अभिनय करते हैं, वे पग-पग पर अपराध करते हैं । अपराध रहने पर कृष्ण-सेवा और नाम-सेवा नहीं हो सकती । किन्तु जो गुरु एवं वैष्णवों की सेवा करते हैं, उसी से उनकी कृष्ण-सेवा और नाम-सेवा होती है । जो कृष्णभक्त, गुरु-वैष्णवों की सेवा आदर और प्रीतिपूर्वक करते हैं उन पर ही चैतन्यदेव तथा गोस्वामियों की कृपा होती है । जब मेरी धारणा थी कि मैं गणित शास्त्र का बहुत बड़ा पण्डित हूँ, तब

सौभाग्य से मुझे श्रीगुरुदेव के दर्शन हुए । मेरी सत्यवादिता, निर्मल नैतिक जीवन और पाण्डित्य आदि की जब उन्होंने उपेक्षा की, तो मैंने विचार किया कि जो मेरे जैसे व्यक्तिकी उपेक्षा कर सकते हैं, वे न जाने कितने योग्य होंगे । जब उन्होने मुझे धक्का दिया, तो मैं समझ पाया कि मेरे समान हीन एवं घृणित व्यक्ति जगत में नहीं है । मैं जिस पाण्डित्य और नैतिक चरित्र को जितना महत्व देता हूँ, ये महात्मा उसे लेशमात्र भी महत्व नहीं दे रहे हैं । तब मैं समझ पाया कि इस महान व्यक्ति के पास कुछ अमूल्य वस्तु है । तब मैंने विचार किया यह व्यक्ति परम दयालु है या अत्यन्त अहंकारी । तब मैं भगवान की शरण में गया और भगवान की कृपा से ही जान पाया कि ऐसे निष्किञ्चन महापुरुषों की कृपा के बिना आत्मकल्याण का कोई उपाय नहीं है । जब मेरी ऐसी सुबुद्धि हुई, तभी मैं उनकी शरणागत होकर कृतार्थ हुआ ।

जब अपने श्रीगुरुदेव से मैंने धक्का खाया, उस घटना से समझ पाया कि सांसारिक लोगों को जब तक ऐसा धक्का न दिया जाय तब तक वे सुधर नहीं सकते । इसीलिए मैं सभी से कह रहा हूँ कि पृथ्वी में जितने भी लोग हैं, मैं उनमें से सबसे बड़ा मूर्ख हूँ, आप लोग मेरे जैसा मूर्ख मत बनना । तुम लोग अपने पाण्डित्य इत्यादि का अभिमान त्यागकर भगवान की सेवा में नियुक्त हो जाओ । तब तुम्हारा जीवन धन्य हो जाएगा । भगवान श्रीकृष्ण से मैंने जिसे परम मंगल समझा, उसे मैं आप लोगों से कह रहा हूँ ।

69 **प्र० – जिन गृहस्थ एवं मठवासी भक्तों के पास धन है, यदि वे उसके द्वारा भगवान की सेवा अच्छी तरह से न करें तो क्या अपराध होता है ?**

उ० – जगद्गुरु श्रील जीवगोस्वामी प्रभु ने श्रीभक्तिसन्दर्भ में कहा है –

ये तु सम्पत्तिमन्तो गृहस्थास्तेषाम् तु अर्चनमार्ग एवं मुख्यः ।

अर्थात् जो धनवान् गृहस्थ हैं, उनके लिए अर्चनमार्ग ही मुख्य है । उन्हें अच्छी प्रकार से भगवान की सेवा करनी चाहिए । भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है – **अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिन : ।**
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पुरुषः ।।

गृहस्थ भक्त अर्थ के द्वारा, श्रद्धा और प्रीतिपूर्वक श्रीहरि की सेवा पूजा करेंगे । इसी में उनका मंगल है, किन्तु अर्थ रहने पर भी यदि कोई गृहस्थ भक्त निष्किञ्चन भक्त की भाँति केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि का ही पालन

करता है और भगवान की सेवा नहीं करता है, तो उसे वित्तशाठ्य दोष लगता है । अत: गृहस्थ भक्त एवं मठवासी भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करते हुए भी कृपणता एवं शठता का परित्यागकर अर्थ के द्वारा सामर्थ्य के अनुसार हरि-गुरु-वैष्णव की सेवा करेंगे । क्योंकि शठता एवं कृपणता को देखकर भगवान श्रीहरि अप्रसन्न हो जाते हैं, जिससे उसे भक्ति में सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती । भगवान श्रीगौरांगदेव ने भी गृहस्थ भक्तों के कर्त्तव्य के विषय में कुलीन ग्रामवासियों को बताते हुए कहा है-

प्रभु कहे-कृष्णसेवा वैष्णव सेवन ।
निरन्तर कर कृष्णनाम-संकीर्तन ।।

प्रभु बोले-तुम लोग कृष्णसेवा एवं वैष्णवसेवा करना और निरन्तर नाम संकीर्तन करते रहना ।

70 **प्र०-जीवों का मंगल कैसे होगा ?**

उ०-भगवत् ज्ञान के अभाववशत: स्वतन्त्रता जीव को विपत्ति में डाल देती है । बहिरंगा माया विमुख-जीवों को विषयविग्रह बनाकर भोक्ता अभिमान से प्रमत्त कर देती है अर्थात् उसके अन्दर ऐसा अभिमान उत्पन्न कर देती है कि मैं ही भोग करने वाला हूँ । तब वह अपने स्वरूप 'मैं भगवान का दास हूँ' को भूलकर विपदग्रस्त हो जाता है और अनेक प्रकार के जड़ीय अभिमानों के कारण कष्ट भोग करता है । संसार में भ्रमण करते-करते जीव कभी सौभाग्य वश भगवान की कृपा से उसकी भगवान की सेवा में रुचि उत्पन्न होती है । इस प्रकार वह भाग्यवान जीव भगवान से अभिन्न आश्रय जातीय भगवान श्रीगुरुदेव के श्रीचरणकमलों में श्रद्धायुक्त होकर उनकी सेवा के द्वारा भजन राज्य में प्रवेश करता है । सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करके साधुसंग के प्रभाव से जीव जब गुरुदेव के चरणकमलों को समस्त प्रकार के मंगलों का भण्डार जानकर उन्हें आश्रय जातीय भगवान के रूप में अनुभव करता है, तभी उसकी सेवा प्रवृत्ति प्रबल होती है । सौभाग्यवश जिन जीवों को भगवान के परम प्रियतम श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय लेने का सौभग्य प्राप्त हुआ है, केवल वे ही शुद्धभक्ति प्राप्तकर माया के चंगुल से बच सकते हैं । श्रीगुरुदेव के चरणकमलों में अपराध होने पर सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति बढ़ जाती है । जिसके फलस्वरूप जीव भक्तिपथ से च्युत होकर आपात मधुर भोगपथ या त्यागपथ में अग्रसर हो जाता है । अर्थात् वह या तो स्वर्ग इत्यादि सुख अथवा मुक्ति-सुख के लिए चेष्टा

परायण हो जाता हैं । इसलिए भाग्यवान सज्जन व्यक्ति गुरुदेव के आनुगत्य में निरन्तर भगवान की सेवा में नियुक्त रहते हैं । ऐसी अवस्था में उसे प्रेय विचार अर्थात् भोगपर विचार रुचिकर नहीं लगते ।

71 **प्र० – भक्तगण घर या मठ में कैसे रहेंगे ?**

उ० – मठवासी भक्त हों या गृहस्थ भक्त हों, वे सभी बाहर से विषयीप्रायः (विषयी की भाँति) रहकर हृदय से भक्ति के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा रखेंगे । बाह्यरूप से भक्त के रूप में सजकर हृदय से विषय में आसक्त, गृहासक्त, अर्थासक्त, प्रतिष्ठाकामी या विषयी नहीं होंगे । यह कपटता है एवं भक्ति में भयंकर बाधक है । मर्कट वैराग्य (बन्दर का वैराग्य) अत्यन्त ही घृणित है । यह जीव को भक्तिपथ से च्युतकर अधःपतित कर देते हैं । महाप्रभु के आदर्श एवं शिक्षा ही हमारे लिए ग्रहणीय है । श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी को कहा–

मर्कट वैराग्य ना कर लोक देखाजा ।
यथायोग्य विषय भुञ्ज अनासक्त हजा ।।
अन्तरे निष्ठा कर, बाह्ये लोक–व्यवहार ।
अचिरात् कृष्ण तोमाय करिबेन उद्धार ।।

अर्थात् रघुनाथ ! बन्दर की भाँति लोगों को दिखाने के लिए वैराग्य मत करो । जितनी आवश्यकता है, उतने ही परिमाण में विषयों को अनासक्त होकर ग्रहण करो । हृदय से निरन्तर भक्ति में ही निष्ठा रखना, परन्तु बाहर से लोक व्यवहार करना । इस प्रकार अति शीघ्र ही कृष्ण तुम्हारा उद्धार करेंगे ।

72 **प्र० – क्या संन्यासी होने से ही संसार से मुक्ति हो जाती है ?**

उ० – नहीं ! संन्यासी होना और संन्यासी का वेश धारण करना एक चीज नहीं है । संन्यास का तात्पर्य यह है कि संन्यासी भुक्ति एवं मुक्ति की स्पृहा का परित्याग करेगा । जो धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की इच्छा त्यागकर कृष्ण की सेवा को ही अपने जीवन का सार बना लेते हैं, वे ही यथार्थ संन्यासी हैं । यथार्थ संन्यासी होने का अर्थ – महाजनों का अनुसरण एवं भगवान के प्रति एकान्तिक निष्ठा है । संन्यासी का केवल वेशमात्र धारण करना महाजनों का अनुकरण (नकल) अथवा ढोंग के अतिरिक्त कुछ नहीं है । महाप्रभु ने कहा है–

परात्मनिष्ठा मात्र वेश धारण ।
मुकुन्दसेवाय हय संसार तारण ।।

अर्थात् वेश धारण का (संन्यास ग्रहण का) उद्देश्य केवल भगवान के

प्रति निष्ठा ही है । भगवान की सेवा करने से संसार से उद्धार हो जाता है । संन्यास ग्रहण कर तन, मन, वचन, अर्थ, विद्या, बुद्धि तथा विषय आदि के द्वारा प्रीतिपूर्वक कृष्ण की सेवा करने पर ही संसार से मुक्ति प्राप्त होती है तथा भक्त हुआ जा सकता है । भगवान की सेवा के बिना आत्मकल्याण सम्भव नहीं है । गृहस्थ हो अथवा मठवासी, सभी को प्राण देकर भी भगवान की सेवा करनी होगी । तभी भगवान प्रसन्न हो सकते हैं एवं वे हमारा कल्याण कर सकते हैं । कार्पण्य एवं कपटता का परित्यागकर सेवा करने पर इसी जन्म में ही भगवान की कृपा प्राप्त हो जायेगी ।

73 **प्र० – क्या बाह्य क्रियाकलाप, विद्या, धन अथवा दरिद्रता को देखकर भक्त को पहचाना जा सकता है ?**

उ० – कभी नहीं । भोगीव्यक्ति जड़ – विलासी एवं विषयी होते हैं और त्यागी व्यक्ति सांसारिक विषयों को दुःखजनक जानकर उनसे विरक्त होते हैं । भोगी एवं त्यागी दोनों ही सकाम और अभक्त होते हैं । इसीलिए वे भक्तों के सेवाभाव एवं उनके सहज वैराग्य की बातों को नहीं समझ सकते । भक्त बाहर से जन्म, ऐश्वर्य, विद्या, सौन्दर्य आदि जागतिक ऐश्वर्य से युक्त होने की लीला करें अथवा इन समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों से रहित होने की लीला ही क्यों न करें, उन्हें इसके अनुसार पहचानने की चेष्टा करने पर वञ्चित होना पड़ेगा । क्योंकि शास्त्र वर्णन करते हैं कि वैष्णवों की क्रियाओं को समझना देवताओं के लिए भी मुश्किल है । कर्मी एवं ज्ञानी, भोगी – त्यागी अपनी स्थूल दृष्टि के द्वारा भक्त को कैसा भी दर्शन क्यों न करें, वास्तव में वे भक्त के वास्तविक स्वरूप का दर्शन नहीं कर पाते । छह ऐश्वर्यों से परिपूर्ण भगवान के भक्तों के पास किसी प्रकार के ऐश्वर्य का अभाव नहीं होता । परन्तु वे उस ऐश्वर्य को भगवान की सेवा में समर्पित कर देते हैं, भोगी या त्यागियों की भाँति उन विषयों को मायिक जानकर भोग या त्याग नहीं करते हैं । अतः भगवान के भक्तों के पास ऐश्वर्य देखकर अथवा नहीं देखकर उनके प्रति अश्रद्धा या उनका अनादर नहीं करना चाहिए । संसार के समस्त विषयों एवं समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों का सद्व्यवहार करना केवल भक्त ही जानते हैं ।

भक्त भोगी भी नहीं होते, त्यागी भी नहीं होते । वे इन दोनों से भिन्न केवल कृष्ण की इन्द्रियों को ही सन्तुष्ट करने वाले होते हैं । भक्तों की कृपा से ही ऐसे सुन्दर विचार अथवा बुद्धि प्राप्त होती है । अतः समस्त प्रकार के

अहंकार का परित्याग कर भगवान के भक्तों के श्रीचरणकमलों में आत्मसमर्पण कर सदैव हरि कीर्तन और हरिसेवा करने की बुद्धि उत्पन्न होने पर ही भगवान या भक्तों को अपनी बुद्धि से जानने का विचार नष्ट हो जायेगा तथा भगवान की सेवा के अतिरिक्त अन्यान्य सभी प्रकार की इच्छाएँ नष्ट हो जायेंगी । इस प्रकार हमारा नित्य मंगल हो जायेगा ।

74 **प्र०–सद्गुरु के श्रीचरणकमलों का आश्रय लेने से ही क्या सब कुछ प्राप्त हो जायेगा ?**

उ०–श्रीगुरुदेव का चरणाश्रय करने पर कृष्णनाम, कृष्णमन्त्र इत्यादि सभी कुछ प्राप्त हो जाता है । किन्तु श्रीगुरुदेव की प्रचुरमात्रा में सेवा करने की बुद्धि न होने पर इन सब अप्राकृत (भगवान एवं भक्ति) वस्तुओं की अनुभूति नहीं होती । विश्रम्भपूर्वक अर्थात् दृढ़विश्वास या प्रीतिपूर्वक श्रीगुरुदेव की सेवा न करने पर तथा श्रीगुरुदेव के निर्देशानुसार भक्तिमार्ग में अग्रसर न होने पर हमारा वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता अर्थात् हमें भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । क्योंकि आध्यक्षिक लोग तर्कपन्थी होते हैं । तर्कपथ का अवलम्बन करने पर श्रौतपथ या भक्तिमार्ग की बातें समझ में नहीं आ सकतीं । क्योंकि तर्क बुद्धि की उपज है, परन्तु भक्ति बुद्धि से अतीत होती है । किसी भक्तगुरु के चरणों के आश्रय में रहकर ही उनके आनुगत्य में भक्तिपथ में विचरण न करने पर बुद्धि का उपयुक्त व्यवहार नहीं हो सकता । इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है– **आदौ गुरुपदाश्रय तस्माद् कृष्ण दीक्षादि शिक्षणम्, विश्रम्भेण गुरोः सेवा, साधु वर्त्मानुवर्तनम् ।** अर्थात् सर्वप्रथम साधक को गुरुपदाश्रय करना चाहिए । तत्पश्चात् उनसे कृष्णदीक्षा एवं शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, तत्पश्चात् प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा एवं महाजनों के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए ।

75 **प्र०–निष्किञ्चन कौन है ?**

उ०–जो इस जगत की कुछ भी वस्तु नहीं चाहते, वे ही निष्किञ्चन हैं । वे विचार करते हैं कि जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मुझे सदैव सुख प्रदान कर सके । इस पृथ्वी में नित्य सुखद कोई वस्तु नहीं है । यह पृथ्वी बद्ध जीवों के लिए कारागार सदृश है । हमलोग भगवान को भूलकर ही इस संसाररूपी कारागार में कैद हो गये हैं । इसीलिए इतना कष्ट पा रहे हैं ।

प्रहलाद महाराज भारत–सम्राट होते हुए भी निष्किञ्चन भक्त थे और

सुदामा विप्र अत्यन्त निर्धन होने पर भी निष्किञ्चन थे । क्योंकि ये दोनों ही निष्काम भक्त थे । निष्किञ्चन भक्त जानते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत हरि, गुरु एवं वैष्णवों की सेवा का उपकरण है । इसीलिए वे इस जगत की किसी भी वस्तु के प्रति भोगबुद्धि नहीं करते और उनका त्याग भी नहीं करते हैं । बल्कि समस्त वस्तुओं को भगवान की सेवा में ही लगाते हैं । यदि कोई हरिभजन न करे, तो उसे इस जगत से एक तृण भी ग्रहण करने का अधिकार नहीं है । भक्तलोग पग-पगपर इसकी उपलब्धि करते हैं ।

भक्तलोग जानते हैं कि कृष्ण की शुद्धभक्ति करने पर समस्त प्रकार की सुविधाएँ एवं समस्त प्रकार का मंगल प्राप्त हो जाता है । निरपराध होकर निरन्तर कृष्णनाम की सेवा करने पर भक्त, भक्ति और भगवान के स्वरूप को जाना जा सकता है । साधु, गुरु के मुख से कृष्णकथा श्रवण करने का सौभाग्य होने पर ही उनका कीर्तन करना चाहिए । तभी कृष्णानुशीलन सम्भव है । कृष्ण का अनुशीलन (कृष्ण की सेवा की चेष्टा) न रहने पर कृष्ण के अतिरिक्त सांसारिक वस्तुओं का अनुशीलन ही होगा ।

76 **प्र०–अनुकूल कृष्णानुशीलन किसे कहते हैं ?**

उ०-हमें एकमात्र कृष्ण का ही अनुशीलन करना चाहिए । अर्थात् हमारी समस्त चेष्टाएँ कृष्ण की सेवा के लिए होनी चाहिए । श्रीवार्षभानवीदेवी (श्रीमती राधिकाजी) ही कृष्ण की अनुकूला हैं । इस प्रकार श्रीवार्षभानवीदेवी का नाम ही अनुकूला है । श्रीमती राधिकाजी के निजजन गुरु पादपद्म हैं । गौड़ीय वैष्णववृन्द अनुकूला के कृष्ण अर्थात् राधाजी के कृष्ण की उपासना करते हैं । वे कृष्ण की अपेक्षा श्रीवार्षभानवी के ही पक्षपाती होते हैं । अनुकूला के आनुगत्य में ही कृष्ण का अनुकूल रूप में अनुशीलन हो सकता है । अनुशीलन कृष्ण से सम्बन्धित होने पर ही समस्त प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं । अर्थात् यदि मनुष्य सब प्रकार से भगवान को ही प्रसन्न करने की चेष्टा करे, तो उसकी समस्त विपत्तियाँ दूर हो जायेंगी । किन्तु हाय ! हमलोग कृष्ण को अपने घर का स्वामी न मानकर स्वयं को घर का मालिक मानकर गृहव्रती हो रहे हैं ।

77 **प्र०–क्या हमें कटु सत्य बात बोलनी चाहिए ?**

उ०-अवश्य ही । हमें किसी की भी वञ्चना न कर सबके समक्ष निर्भीक रूप से सत्य बात बोलनी चाहिए । जिससे जीवों का कल्याण होता हो,

ऐसी सत्य बात अप्रिय होने पर भी अवश्य ही बोलनी चाहिए । इससे किसी को उद्वेग नहीं मिलेगा । वास्तविक सत्य का ही अनुसन्धान करना चाहिए । पृथ्वी के समस्त लोगों का कल्याण कैसे हो, इसपर विचार करने की आवश्यकता है । दृढ़प्रतिज्ञ को अपने एवं दूसरे का कल्याण करना चाहिए । केवल वर्तमान युग के मनुष्यों के लिए ही नहीं, बल्कि सभी युगों के मनुष्यों के अनन्तकाल के कल्याण के लिए चेष्टा करनी चाहिए । जहाँ पहुँचकर वापस नहीं आना पड़ता, ऐसे सुखमय वैकुण्ठ की बातें ही सभी लोगों को बतानी चाहिए । उस अप्राकृत जगत की बातें दूसरों को बताने के लिए पहले हमें स्वयं श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का अवश्य ही आश्रय लेना चाहिए ।

हमें सर्वदा ही दिव्यज्ञान प्रदाता श्रीगुरुदेव के चरणकमलों की सेवा करनी चाहिए । यदि हम घर में रहते हैं, तो घर के सभी लोगों के साथ मिलकर उनकी सेवा करें । हमें अच्छे-अच्छे घरों में भगवान एवं भक्तों को ही रखना चाहिए, स्वयं कुटी में रहना चाहिए । यदि हम स्वयं न खाकर भगवान को खिलाएँ, तभी हम उनकी करुणा को प्राप्त कर सकते हैं । हमें सब समय स्मरण रखना चाहिए कि संसार की प्रत्येक वस्तु भगवान की ही है । यदि जगत की सभी वस्तुओं को भगवान की सेवा में लगा दिया जाय तभी जीवन सार्थक होगा । इन सब बातों का पहले स्वयं आचरण कर प्रचार करना चाहिए । यदि निर्भीक रूप से शास्त्र की सत्य बातों को न बोला जाय तो श्रीगुरु एवं गौरांग प्रसन्न नहीं होंगे । जिसकी भक्ति-शक्ति एवं दृढ़ता जितनी अधिक होगी, वह उतने ही अधिक परिमाण में निर्भीकतापूर्वक प्रचार कर पायेगा । लोगों के सामने निरपेक्ष सत्य बातों को कहने से लोग नाराज हो जायेंगे, यदि इस भय से मैं सत्य बात न कहूँ, तो समझना चाहिए कि मैंने श्रौतपथ त्यागकर अश्रौतपथ को ग्रहण कर लिया है । जिससे मैं नास्तिक एवं वञ्चक हो गया हूँ ।

78 **प्र०-गृहव्रत कौन हैं ?**

उ०-जिनके हृदय में अपने प्रति स्त्री और पुरुष अभिमान है, वे ही गृहव्रती हैं । गृहव्रती लोग कनक(अर्थ), कामिनी(स्त्री), एवं प्रतिष्ठा के लोलुप होते हैं । इस कनक, कामिनी एवं प्रतिष्ठा का भोग करने की प्रवृत्ति वाले व्यक्ति ही गृहव्रत कहलाते हैं । जो गृहव्रती हैं, वे सोचते हैं हमारे पास सेवक होना चाहिए । हम घर के मालिक होकर अच्छी प्रकार से इन्द्रिय तर्पण करें । यही हमारा व्रत एवं उद्देश्य है ।

हम देहात्मवादी या गृहव्रत होकर मालिक बन रहे हैं । हम सारे जगत को अपने भोग की वस्तु के रूप में दर्शन कर रहे हैं, इसीलिए हम समस्त प्रकार की विपत्तियों में पड़ रहे हैं । सारा जगत भगवान की सेवा की वस्तु है, जबतक हमारी ऐसी सुबुद्धि नहीं हो जाती, तबतक हमारी गृहव्रत-बुद्धि दूर नहीं होगी तथा हम अपने कल्याण का अनुसन्धान नहीं कर सकेंगे । जो भोग अथवा त्याग करने का विचार करते हैं, उनका सर्वनाश ही होता है । वे कभी भी भगवान को नहीं जान सकते । अनित्य जगत के ऊपर निर्भर रहने पर दुख एवं मृत्यु ही प्राप्त होगी । कृष्णबहिर्मुख संसार करने के फल से ही हमें मृत्यु एवं नाना प्रकार के रोग-व्याधिरूप त्रिताप में जलना पड़ रहा है । सांसारिक समस्त प्रकार की चिन्ता-भावनाएँ मृत्यु के लिए होती हैं । ये मुझे दिन-प्रतिदिन नरक की ओर ले जा रही हैं, क्रमशः मुझे घनघोर दुःख में डाल रही हैं, गृहव्रत (गृह में आसक्त) व्यक्ति इसकी चिन्ता नहीं करता ।

79 **प्र० – किससे भागवत सुननी चाहिए ?**

उ० – श्रीमद्भागवत महाभागवत श्रीगुरुदेव एवं गुरुनिष्ठ शुद्धभक्तों के श्रीमुख से ही सुननी चाहिए । जो व्यक्ति स्वयं भागवत नहीं बना है, उससे श्रीमद्भागवत का श्रवण करने से मंगल नहीं हो सकता । जिसका चरित्र खराब है, जिसके चित्त में काम की प्रबल तरंगें उठ रही हैं, जो प्रतिष्ठा और अर्थ का ही इच्छुक है, वह व्यक्ति कभी भी श्रीमद्भागवत का पाठ नहीं कर सकता । उसके मुख से श्रीमद्भागवत कीर्त्तित नहीं हो सकती । ऐसा व्यक्ति श्रीमद्भागवत पाठ के छल से अपनी इन्द्रियों का ही तर्पण करता है । इस प्रकार वह स्वयं तो आत्मकल्याण से वञ्चित होता ही है, दूसरों को भी वञ्चित कर देता है । जो सर्वदा हरिभजन करते हैं, ऐसे श्रीगुरुदेव का आश्रय ग्रहण कर उनके श्रीमुख से अथवा उनके निर्देशानुसार अन्य शुद्ध वैष्णवों के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत श्रवण करना चाहिए । तभी हमारा मंगल हो सकता है एवं हमें भक्ति प्राप्त हो सकती है ।

श्रीमद्भागवत ही जिनका जीवन एवं सेव्य स्वरूप है, वे ही वास्तविक रूप में भागवत पाठ करते हैं, ठाकुरजी की सेवा करते हैं, हरिनाम करते हैं, ऐसे ही भक्तों का संग करना चाहिए । उनके लिए अपना सब कुछ अर्पण कर देना चाहिए । क्योंकि वे हमारी तरह भोगों में प्रमत्त नहीं रहते । वे भगवान की सेवा के छल से अपनी एवं दूसरों की वञ्चना नहीं करते अथवा भगवान की सेवा की

वस्तुओं को मायिक जानकर उनका परित्यागकर फल्गु वैरागी की भाँति जड़ प्रतिष्ठा का संग्रह नहीं करते ।

मैं जिसका संग करूँगा या जिससे कथा सुनूँगा, वह श्रौतपन्थी होना चाहिए । साधु गुरु कभी भी प्रेय पथ स्वीकार नहीं करते । वे श्रेयपन्थी या श्रौतपन्थी होते हैं । श्रौतपन्थी साधु अपने गुरुदेव के श्रीमुख से सत्यपथ या भक्तिपथ में चलने की जो शिक्षा प्राप्त करते हैं, उसी को वे दूसरों को बतलाते हैं । वे दूसरों को अपने मनःकल्पित बात कभी भी नहीं कहते । अनेक समय हमलोग गुरु का आश्रय ग्रहण करते हैं अथवा साधु संग करते हैं–अपने आत्मकल्याण के लिए नहीं, बल्कि प्रेय प्राप्ति अथवा अपस्वार्थ (अपनी कामना वासना को) को पूर्ण करने के लिए । आजकल गुरु ग्रहण करना तो एक श्रेणी के लोगों के लिए नाई या धोबी रखने की भाँति एक लौकिक या कुल परम्परा चल पड़ी है, और एक श्रेणी के लोगों के लिए गुरु करना एक फैशन मात्र हो गया है । साधुसंग या हरिकथा सुनना भी उसी प्रकार का एक कार्य हो गया है । अतः हमारा मंगल कैसे होगा ? उपयुक्त गुरु के मुख से कथा न सुनने पर क्या किसी का कल्याण हो सकता है ? इसीलिए जो अपना मंगल चाहते हैं, उन्हें साधुसंग के विषय में सावधान रहना चाहिए । साधु नामधारी लोगों के मुख से हरिकथा सुनने पर विपत्ति में ही पड़ना पड़ता है ।

सौभाग्यवश भगवान की कृपा से यदि कोई शुद्ध साधु का संग प्राप्त करता है, तो उससे सत्यवस्तु भगवान एवं भक्ति-विषय में जानने के लिए उसके प्रति प्रगाढ़ निष्ठा होनी चाहिए । हमारे जीवन में जितना समय बच गया है, उसमें से एक मुहूर्त्त का समय भी विषय-कार्यों में न गँवाकर भगवान के भजन में ही लगाना चाहिए, हमें सत्संग प्राप्ति के लिए व्याकुल रहना चाहिए । क्योंकि अन्यान्य सभी कर्तव्य सभी जन्मों में पूरे किये जा सकते हैं, परन्तु जीव का एकमात्र कर्तव्य सद्गुरु के चरणाश्रय में कृष्णभजन करना मनुष्य जन्म छोड़कर और किसी जन्म में सम्भव नहीं है ।

80 **प्र०–भगवद्दर्शन का मार्ग क्या है ?**

उ०–भगवान श्रीहरि निर्गुण वस्तु हैं, अर्थात् वे माया के रज, सत एवं तम इन तीनों गुणों से अतीत हैं । वे मायातीत हैं । ऐसे निर्गुणवस्तु भगवान का दर्शन करने का माध्यम कान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है । साधुओं के श्रीमुख से प्रवाहित होने वाली वैकुण्ठ कथाओं की अलौकिक शक्ति है । वह

वैकुण्ठ शब्द यदि हमारे कानों में चला जाय, तो अवश्य ही हमारी चेतनता प्रकाशित होगी, अर्थात् कृष्णोन्मुखता जागेगी । जो शब्द वैकुण्ठ से इस जगत में अवतीर्ण होता है, वही शब्द हमें वैकुण्ठ ले जाता है । परन्तु इस जगत के शब्द या सांसारिक बातें हमें नरकलोक का यात्री बना देती हैं । श्रीचैतन्य महाप्रभु वैकुण्ठ की कथाओं को कहने के लिए ही इस जगत में आये थे, परन्तु उन परम कृपामय प्रभु की बात दुर्भाग्यवशत: हमारे कानों में नहीं जा रही है । सौभाग्यवशत: यदि हमारी भगवान की सेवा करने की प्रवृत्ति उदित हो जाय तभी हम अपने कानों से वैकुण्ठ की कथाएँ अर्थात् भगवान की कथाएँ सुन सकते हैं एवं उन्हें धारण भी कर सकते हैं । जिसकी जैसी अवस्था है, उसे उसी अवस्था से ही उन्नत होना होगा । जीवन्त साधुओं से ही चेतनमयी वाणी (भगवान की कथाएँ) सुननी होगी । जिस क्षण हम शुद्ध साधुओं की कथा नहीं सुनेंगे, निष्कपट होकर उनकी सेवा नहीं करेंगे, उसी क्षण माया हमें ग्रास कर लेगी । इसीलिए हमारा कर्तव्य है कि जहाँ हरिकथा हो रही हो, वास्तविक रूप में चेतन से चेतनमयी हरिकथा प्रकाशित हो रही हो, वहीं पर अपने मन को नियुक्त करें । Living source से ही सेवोन्मुख कानों के द्वारा हरिकथा श्रवण करने पर चेतन की वृत्ति (आत्मा की वृत्ति) प्रकाशित होगी, तब अपने निर्मल चित्त में हम भगवान की अनुभूति या भगवान का दर्शन कर सकते हैं । श्रौतपथ या श्रवण मार्ग से ही भगवान का दर्शन होता है, इसके अतिरिक्त भगवद्दर्शन का अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

81 **प्र०–कृष्णनाम कीर्तन का क्या फल है ?**

उ०–श्रीकृष्णनाम का कीर्तन साक्षात् कृष्ण का अनुशीलन या कृष्ण की साक्षात् सेवा है । कीर्तन करते-करते भोगों की इच्छा एवं मुक्ति की कामनारूप अनर्थ दूर हो जाते हैं । श्रीनाम की कृपा से सभी प्रकार के अनर्थ ही नष्ट हो जाते हैं,क्योंकि कृष्णनाम साक्षात् कृष्ण ही हैं । शक्तिमान कृष्णनाम असीम शक्तिशाली है । उनकी कृपा से कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता है । नाम कीर्तन के फल से अनर्थ निवृत्ति एवं परमार्थ की प्राप्ति सब कुछ अनायास ही हो जाता है । नाम के फल से कृष्ण के श्रीचरणों में प्रेम उत्पन्न हो जाता है । कृष्णनाम ही जीवों का एकमात्र आश्रय है । कलिकाल में कृष्णनाम के अतिरिक्त जीवों का अन्य साधन-भजन नहीं है । श्रीनाम भजन के अतिरिक्त जीव के कल्याण का एवं अमंगल को दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

82 **प्र० – क्या कृष्ण – कार्य ही भक्ति है ?**

उ० – अवश्य ही । कृष्ण के कार्यो को छोड़कर भक्तों के लिए अन्य कोई कार्य नहीं है । शुद्धभक्त भगवान की सेवाके उद्देश्य से जो कुछ करते हैं, वे सब कृष्ण – कार्य ही भक्ति है । परन्तु जीव कर्त्ता अभिमान से जो कुछ भी करता है, उसका फल उसे स्वयं भोग करना पड़ता है । इसीलिए कर्म और भक्ति में बहुत अन्तर है ।

83 **प्र० – जीवतत्त्व क्या है ?**

उ० – जीव शब्द का अर्थ जीवन से है । भगवान की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं – अन्तरंगा, बहिरंगा और तटस्था । जीव तटस्था – शक्ति – परिणत वस्तु है । जीव वस्तु है, काल्पनिक आकाश – कुसुम नहीं । जीव अज वस्तु है, जीव सृष्टवस्तु नहीं, जीव नित्यकाल वर्तमान है । जीव चेतन होने पर भी अणु चेतन है । किन्तु भगवान विभु चेतन हैं । इसीलिए जीव के साथ ईश्वर का नित्यभेद है । श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है कि ईश्वर मायाधीश हैं और जीव मायावश है, यही ईश्वर और जीव में भेद है । ईश्वर ब्रह्मवस्तु हैं, बृहद् – वस्तु हैं । किन्तु जीव क्षुद्रवस्तु, अणुचित् वस्तु है । ईश्वर मायाधीश, किन्तु जीव मायावश है । जीव स्वरूपत: कृष्णका नित्यदास है और कृष्ण जीव के नित्य प्रभु हैं । जीव कृष्ण का सेवक है । कृष्ण जीव के सेव्य, नियामक और रक्षक हैं । कृष्ण सेवा ही जीव का नित्य कृत्य है । श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है –

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास ।
कृष्णेर तटस्था – शक्ति भेदाभेद प्रकाश ।।
कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया ता' रे देय संसार – दु:ख ।।
साधु – शास्त्र – कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय ।
सेइ जीव निस्तरे, माया ताहारे छाड़य ।।
ता ' ते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन ।
मायाजाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण ।।

(अर्थात् जीव स्वरूपत: कृष्ण का नित्यदास है, कृष्ण की तटस्था शक्ति का भेदाभेद प्रकाश है । कृष्ण को भूलकर वह जीव अनादि काल से कृष्ण – बहिमुर्ख है, इसीलिए माया उसे संसार – दु:ख देती है । साधु और शास्त्र की कृपा से यदि जीव कृष्णोन्मुख होता है, तो उस जीव का उद्धार होता है, माया

उसे छोड़ देती है । इसलिए जीव यदि गुरु की सेवा करते हुए कृष्ण भजन करता है, तो मायाजाल से छूटकर वह कृष्ण के चरणों को प्राप्त कर लेता है ।)

जीव आत्मा है । जीव मन या देह नहीं, जीव देही है । देही जीव जब देह का परित्याग करता है, तब देह पड़ा रहता है । जीव चेतन है, मन चेतनाभास है, देह अचेतन या जड़ है । मन सूक्ष्म शरीर या Subtle body है । मन Dim reflection of animation (चेतना का अस्पष्ट प्रतिफलन) है, चेतना का आभास (meddling with the world) है, मन आत्मा के साथ एक नहीं है । मन सर्वदा बाहर जगत में विचरण करता रहता है । मन बहिर्जगत की स्थूल-वस्तु ग्रहण कर सकता है, किन्तु नित्यवस्तु ईश्वर का सन्धान नहीं रख सकता या दे नहीं सकता । मैं जीव हूँ, मैं मन या शरीर नहीं हूँ । शरीर और मैं (देह-देही) एक नहीं है । गृह और गृही एक नहीं हो सकते हैं । आत्मा, देही या जीव सूक्ष्म शरीर मन और स्थूल शरीर का मालिक है एक Property है, और एक (जीव) Propritor हैं । अज्ञानता के कारण देह में जीव की आत्मबुद्धि होती है, देह को 'मैं' समझने की भ्रान्ति होती है । श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है-

जीवे स्वरूप कृष्णदास-अभिमान ।
देहे आत्मज्ञाने आच्छादित सेइ ज्ञान ।।
देहे आत्मबुद्धि हय विवर्तेर स्थान ।
देहे आत्मबुद्धि-एइ मिथ्या हय ।।

(चै. च.)

जीव नित्य-वस्तु है, स्थूल और सूक्ष्म शरीर की भाँति अनित्य नहीं । कृष्ण-सेवक जीव कृष्ण को भूल जाने के कारण ही उसको इतना कष्ट होता है, उसकी इतनी दुर्गति होती है । कृष्णोन्मुखता ही जीव का स्वास्थ्य है । अपने को कृष्णदास के रूप में जानना ही जीव की स्वस्थ-अवस्था है । वर्तमान जीव दास-अभिमान को भूलकर भोगी या त्यागी हो गया है । यह रोग है, इसलिए जीव रोगी है । उसके मुख को कृष्ण की ओर मोड़ देने का नाम ही चिकित्सा है । कृष्ण-बहिर्मुख जीव को कृष्णोन्मुख करना ही जीव के प्रति दया है और यही यथार्थ एवं सर्वश्रेष्ठ उपकार है । कृष्ण का जीव कृष्ण को भूलकर कष्ट पा रहा है । अभी साधुसंग के प्रभाव से सेवोन्मुख होकर कृष्ण के साथ completely dovetailed (सम्पूर्णरूप से संयुक्त) हो पाने पर ही समस्त

प्रकार की असुविधा दूर हो जायेगी तथा जीव सदा के लिए सुखी हो सकेगा ।

84 **प्र० – आपकी बात सुनकर बहुत उपकृत हो रहा हूँ । कृपया और कुछ हरिकथा बोलिए ।**

उ० – श्रीगौरसुन्दर ने जिस सेवा की बात कही है, वही सेवा सर्वोत्तम है । जिस औषधि द्वारा वर्तमान की व्याधि आरोग्य होकर सेवावृत्ति का उदय होता है, गौरविहित कीर्तन में वही औषधि है । इस औषधि को ग्रहण करना सभी का कर्तव्य है । तभी हम शान्ति प्राप्त कर सकते हैं । कृष्णनाम – संकीर्तन ही उसकी अमोघ औषधि है । हरिकीर्तन सदैव आवश्यक है । श्रीचैतन्यविहित (उपदिष्ट) हरिकीर्तन ही चिरशान्ति की प्राप्ति का एकमात्र पथ और पाथेय है । हरिकीर्तन में सर्वशक्ति निहित है एवं सर्वप्रयोजन – शिरोमणि अनुस्यूत (संयुक्त) है । श्रीचैतन्य – प्रदर्शित पथपर श्रीमद्भागवत का अनुशीलन ही श्रीचैतन्याश्रित व्यक्तियों का कृत्य है ।

कृष्णसेवा को भूलकर यहाँ हम प्रभु हो गये हैं । प्रभु होने की इच्छा थी, इस जगत ने उसका अवसर दिया है । यह जगत उसके लिए सज्जित है । किन्तु प्रभु होना स्वरूप का धर्म नहीं, यह विरूप का धर्म है । इसमें शान्ति नहीं होती । सेवामय अवस्था ही शान्ति है । कृष्णसेवक का अभिमान ही शान्तिप्राप्ति का उपाय है । भोग और त्याग आत्मधर्म नहीं । भगवत् सेवा ही आत्मधर्म है ।

मैं कौन हूँ–इस बात को भूल जाने के कारण ही हमारा सर्वनाश हुआ है । मैं भगवत् सेवक हूँ– यही दिव्यज्ञान है । कृष्णप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव हमें यह दिव्यज्ञान या दीक्षा प्रदान कर इसे बता देते है । गुरुसेवा के फल से ही आत्मधर्म भगवद् – भक्ति प्रकाशित होती है । कृष्ण के भक्तों के निकट जाकर यदि निष्कपट होकर उनकी बात सुन सकता हूँ, तब इस जन्म या अगले जन्म में मंगल अवश्य ही होगा । कृष्णसेवा में नियुक्त होने पर ही हमारा जीवन सार्थक होता है । आपलोग पण्डित हैं, आप लोगों को मैं असाधु नहीं मान रहा हूँ, आप लोग साधु है, आप सभी के चरणों में नतमस्तक होकर कह रहा हूँ – आप लोग कृपापूर्वक यह भिक्षा दीजिए । आप लोग बहिर्जगत के बड़े लोग हैं, यह भूल जाइए । सबको छोड़कर आप लोगों का आकर्षण श्रीचैतन्यचन्द्र के चरणों में हो, केवल इतना ही हो । केवल इतना होने से ही आप लोग साथ ही साथ समझ सकेंगे कि – चैतन्यदेव की बातों में किसी प्रकार की असुविधा नहीं है । यह बात जिनके कानों में पहुँचेगी, वे कीर्तन आरम्भ कर देंगे । मेरे समस्त भाइयो ! आप

लोग इस प्रकार अमंगल के पथ में क्यों जा रहे हैं ? दूसरी बात का क्या प्रयोजन है ? हर समय कृष्णकथा श्रवण करना कर्तव्य है । सब प्रकार से कृष्ण की सेवा करना विशेष आवश्यक है ।

वर्तमान आत्मा मन को सब दायित्व देकर सो रही है । नींद थोड़ी-सी टूटनी चाहिए । क्योंकि मन मेरा परम शत्रु एवं भीषण विश्वास घातक है । वह मुझे दुःख के सागर में फेंक देगा । इसलिए मन को अधीन रखना आवश्यक है । हम किसी भी अवस्था में क्यों न रहें, भगवान को भूलना ही समस्त अमंगल का कारण है । कृष्णपादपद्म का आश्रय करने पर ही सभी सुविधा होती है । यदि हरि को छोड़ दिया जाय, तब घोर अन्धकार में प्रवेश कर आत्मा को कष्ट देना होता है । महाभाग्य के फल से मनुष्यजन्म मिला है-बेवकूफी करने के लिए नहीं, शैतानी करने के लिए नहीं । मनुष्य जन्म की Normal condition (स्वाभाविक अवस्था)-भगवान की सेवा है ।

कृष्ण तोमार हञ' यदि बले एकबार ।
मायाबद्ध हैते कृष्ण ता'रे करे पार ।।

"हे कृष्ण ! मैं आपका हूँ",- ऐसा यदि कोई एक बार कह'ता है, तो कृष्ण उसे माया-बन्धन से मुक्त कर देते हैं ।

85 **प्र०-कृष्णदास्य किस उपाय से प्राप्त होता है ?**

उ०-हम लोग भगवान के शरणागत हैं तथा श्रीगुरुपादपद्म के आश्रित हैं । भगवान को इन आँखों से नहीं देख सकते । हम बद्धजीव हैं । श्रीचैतन्यदेव के दासों का जूता वहन कर सकने से ही हम में भगवद् दास-अभिमान जागेगा और भक्तकृपा से हमारी भक्ति की आँख प्रस्फुटित होगी, तभी हम गुरुकृपा से कृष्णदास्य और कृष्णदर्शन प्राप्त कर सकेंगे ।

86 **प्र०-यह सुसिद्धान्त हमें विशेषरूप से किसने बताया कि भक्ति ही प्रेयः है ?**

उ०-भगवान श्रीगौरसुन्दर ने जगत का कल्याण करने के लिए जिन्हें महान्तगुरु रूप में जगत में भेजा था, उनमें से ही जगद्गुरु श्रील भक्तिविनोद ठाकुर एक हैं । जिस महापुरुष ने वर्तमान जगत को शुद्धभक्ति की बात एवं गुरुधारा (गुरु परम्परा) को जानने का अत्यधिक अवसर प्रदान किया, वे गौर प्रेष्ठ (गौरसुन्दर के प्रिय) श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ही हमारे आश्रय स्थल हैं । उनकी भक्ति के प्रति ही प्रेय-बुद्धि थी । उनसे पूर्व आचार्यों ने कहा कि केवल

भक्ति ही श्रेयः है । परन्तु रूपानुगवर श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने जगत को विशेष रूप से बताया कि भक्ति ही प्रेयः है । जिनके प्रेय विचार में भक्ति नहीं है, वे ही श्रेयोहीन हरिविमुख अवैष्णव हैं । मानव जाति की अन्याभिलाष, कर्म एवं ज्ञान में ही प्रेयः बुद्धि होती है या अपनी इन्द्रिय-तृप्ति में ही वे आनन्दित रहते हैं । किन्तु भगवद् भक्ति के प्रति जिसकी प्रेयः बुद्धि होती है या कृष्ण के इन्द्रियतर्पण में ही जो आनन्दित रहते हैं, वे श्रीभक्तिविनोद ठाकुर श्रीगौरसुन्दर के प्रिय निजजन तथा अभिन्न-विग्रह हैं ।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने अहैतुकी भक्ति को ही अपना प्रेय जानकर एकमात्र भक्तिपथ रूप श्रेय पथपर विचरण करने के लिए जगत् के लोगों को उपदेश प्रदान किया है । तुम्हारा प्रेयः पथ एक प्रकार का हमारा प्रेयःपथ अन्य एक प्रकार का ऐसी अभक्तिविनोद चेष्टा से श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर ने जीवों की रक्षा की है । उन्होंने आशिक वस्तु का विनोद अर्थात् अभक्ति के विनोद की बात जगत में प्रचार नहीं की । तुम लोगों का विनोदन कार्य भक्ति रहे, तो रहे, परन्तु मेरे विनोदन कार्य की वस्तु अभक्ति है-जो ऐसे विचारों की ओर दौड़ रहे हैं, ऐसे समस्त चित्-जड़ समन्वयवादियों का विचार भी भक्तिविनोद का विचार नहीं है । अभक्ति एवं भक्ति कदापि एक समान नहीं हो सकती । कृष्ण का विनोद एवं माया का विनोद एक वस्तु नहीं है । भक्ति के पूर्ण विनोदन के अतिरिक्त भक्तिविनोद की किसी अन्य वृत्ति में प्रीति नहीं है ।

अनेक प्रकार के जगत् जंजाल के द्वारा शुद्धभक्ति का स्रोत बन्द हो गया था । भक्ति में ही जिनकी प्रेयबुद्धि है, ऐसे श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने शुद्धभक्ति की धारा को पुनः जगत में प्रवाहित किया है । एकमात्र भक्तिविनोद प्रभु की कथाओं में ही जिसका आदर है, वे ही मेरे गुरुदेव है । उनके अतिरिक्त और जो कोई भी उनकी कथाओं का आदर करते हैं, वे मेरे गुरुवर्ग हैं । जो एकमात्र भक्ति को प्रेय मानते हैं, हम एकमात्र ऐसे श्रीगुरुदेव के चरणकमलों के आश्रित हैं । जो लोग ऐसे गौरसुन्दर के प्रिय भक्तिविनोद ठाकुर को जगत का एक व्यक्ति मानते हैं, उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । भक्तिविनोद के ऐसे विरोधी दुर्भागे व्यक्ति का मुखदर्शन हमें कभी भी प्राप्त न हो ।

87 **प्र०-क्या मठ में संकीर्तनाग्नि सर्वदा प्रज्वलित रखनी होगी ?**

उ०-अवश्य ही । प्रत्येक मठ में संकीर्तनाग्नि निरन्तर प्रज्वलित रखनी चाहिए । इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए कि कभी भी वह अग्नि न बुझे ।

मठ में काम या इन्द्रिय तर्पण की गन्ध कभी भी नहीं रहनी चाहिए, श्रीराधागोविन्द के परिपूर्णरूप में इन्द्रिय तर्पण की ही प्रधानता रहनी चाहिए । संकीर्तन रूप अग्नि की चेतोदर्पण मार्जनमयी शिखा मठ में प्रज्वलित न रहने पर परस्पर सभी का मनोमालिन्य छिद्रान्वेषण, कपटता, ईर्ष्या, विद्वेष आदि अनर्थ आकर हमारे चित्त को कलुषित कर देंगे । उसके फल से भव-महादावाग्नि क्रमशः बढ़ती रहेगी ।

मठ में या हृदय में संकीर्तनाग्नि प्रज्वलित न रहने पर संसार दशा जड़ से नहीं उखड़ेगी तथा संकीर्तन का चरम फल प्रेम प्राप्त नहीं होगा । यह संकीर्तनाग्नि अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान, भोग, व्रत एवं तप आदि सभी को भस्मकर स्वयं सर्वोपरि विराजमान रहती है । दुर्बुद्धिपरायण लोग ही अन्यान्य साधन एवं साध्य को अपनाते हैं, परन्तु बुद्धिमान लोग संकीर्तन यज्ञ के द्वारा ही महाप्रभु की आराधना करते हैं । श्रीकृष्णसंकीर्तन होने से ही सत्ययुग का महाध्यान, त्रेतायुग का महायज्ञ एवं द्वापर का का महार्चन स्वतः हो जायेगा । संकीर्तन के बिना श्रीराधागोविन्द मिलित तनु श्रीगौरसुन्दर की सेवा नहीं हो सकती । केवल अर्चन के द्वारा ही श्रीराधागोविन्द की सेवा नहीं होती, इसीलिए महा-अर्चन (संकीर्तन) की विशेष आवश्यकता है । इसीलिए श्रीमन्महाप्रभुजी ने शिक्षाष्टक के प्रारम्भ में ही **"परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्"** अर्थात् श्रीकृष्णसंकीर्तन की जय हो, ऐसा कहा है ।

88 **प्र०-घर में कैसे रहना चाहिए ?**

उ०-परमहंस महापुरुषों के संग से ही गृहरूप अन्धकूप में गिरने की योग्यता नष्ट हो जाती है, तथा ऐसे मुक्त महापुरुषों के संग के फल से ही पारमार्थिक गृहस्थ होने की योग्यता भी प्राप्त हो जाती है । जो अभिन्न भक्त-भागवत एवं ग्रन्थ भागवत का संग या चर्चा नहीं करते, उनका घर में कभी भी कल्याण नहीं हो सकता ।

भगवान की सेवा करने के लिए ही घर में रहना अच्छा है, क्योंकि ऐसा करने पर भगवान का भजन अच्छी प्रकार से होता है । परन्तु गृहव्रत धर्म में भगवान का भजन सम्भव नहीं है । मैं कृष्ण की ही सेवा करूँगा, ऐसा संकल्प कर गृह में प्रवेश करना ही मंगलजनक है । फल्गु वैराग्य या मर्कट वैराग्य की अपेक्षा यह अनेक गुणा श्रेष्ठ है । फल्गु वैराग्य से लेशमात्र भी कल्याण सम्भव नहीं है । हरिभजन के अनुकूल संसार रहने पर ऐसा गृहस्थ आश्रम ही ग्रहणीय

है, यदि प्रतिकूल संसार हो, तो ऐसा गृह-अन्धकूप परित्याग करने योग्य है । फल्गु वैराग्य की कसरत दिखाने के लिए यदि घर से विरक्ति होती है, तो ऐसा गृहत्याग कल्याणजनक नहीं है । ऐसा अपक्व वैरागी दो-तीन दिन बाद ही पतित हो जाता है ।

भगवान के भक्तों के संग के फल से ही गृहव्रत धर्म नष्ट हो जाता है । जो केवल बाह्यजगत की नीति का अवलम्बन कर गृह में प्रवेश करते हैं, वे गृहव्रत धर्म में ही निविष्ट हो जाते हैं ।

भगवान के भक्तों के लिए जिस प्रकार संन्यास आश्रम ग्रहण करना आवश्यक है, उसी प्रकार भगवान के भक्तों के लिए गृहस्थ आश्रम ग्रहण करना भी आवश्यक है । भगवान के भक्तों का गृह प्रवेश ही वाञ्छनीय है, परन्तु अभक्तों को गृह-प्रवेश नहीं करना चाहिए । भगवान का भक्त यदि गृह में प्रवेश करता है, तो जानना चाहिए कि उसने मठ में ही प्रवेश किया है । क्योंकि पारमार्थिक गृह प्रवेश एवं मठ प्रवेश में कुछ भी भेद नहीं है । परन्तु गृहव्रत का गृह प्रवेश एवं कृष्णव्रत का गृह प्रवेश में आकाश-पाताल का भेद है ।

निरन्तर अनुकूल कृष्णानुशीलन करने के लिए ही गृह प्रवेश करना चाहिए । पारमार्थिक गृहस्थ व्यक्ति को असत्संग एवं प्रजल्प आदि से सर्वदा दूर रहना चाहिए । गृहस्थ को उत्साह, निश्चय, धैर्य तथा श्रवण-कीर्तन आदि भक्ति के अंगों का आदर पूर्वक पालन करना चाहिए । गृहस्थ भक्तों के लिए हरि-गुरु-वैष्णवसेवा, श्रीनामकीर्तन, साधुसंग, हरिकथा श्रवण अति आवश्यक है । कृष्णसेवा के लिए सम्पूर्ण रूप में चेष्टा करने पर ही कल्याण होगा ।

89 **प्र०-प्रेमी भक्त कब हँसते हैं तथा कब रोते हैं ?**

उ०-प्रेमी भक्तों की क्रियाकलापों को समझना बहुत ही कठिन है । प्रेम ही भक्तों को उन्मत्त करता है । वे स्वयं कुछ नहीं करते हैं । कृष्ण के प्रति अनुराग होने पर भक्त कभी हँसते हैं, तो कभी रोते हैं । भक्त तब हँसते हैं, जब वे 'विश्वं पूर्ण सुखायते' अर्थात् जब वे सारे जगत को कृष्णमय देखते हैं, तब वे आनन्द से हँसते हैं । परन्तु जब जगत के लोगों को अशान्त एवं दुःखी देखते हैं, तो उनके दुःख से दुःखी होकर वे रोने लगते हैं । सांसारिक लोग उनसे क्या कहेंगे या क्या कह रहे हैं- इस ओर वे ध्यान नहीं देते । जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय–त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।।
(११/२/४०)

(अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्तियोग से भगवत्-सेवाव्रतधारी साधु पुरुषों के हृदय में एकान्तप्रिय श्रीभगवान् के नाम संकीर्तन से अनुराग एवं प्रेम का अंकुर उग आता है । उसका चित्त द्रवित हो जाता है । अब वह साधारण लोगों की स्थिति से ऊपर उठ जाता है । लोक लज्जा छोड़कर कभी हँसने लगता है, तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है । कभी ऊँचे स्वर से भगवान को पुकारने लगता है, तो कभी मधुर स्वर से उनके गुणों का गान करने लगता है एवं कभी उनको रिझाने के लिए नृत्य भी करने लगता है ।) श्रीमन्महाप्रभु ने भी कहा है–

किवा मन्त्र दिला गोसाञि, किवा तार बल ।
जपिते जपिते मन्त्र करिल पागल ।।
हासाय, नाचाय मोरे कराय क्रन्दन ।
एत शुनि गुरु मोरे बलिला वचन ।।
कृष्णनाम महामन्त्रेर एइ त' स्वभाव ।
जेइ जपे, ता' र कृष्णे उपजय भाव ।।
कृष्णनामे फल प्रेमा–सर्वशास्त्रे कय ।
भाग्ये सेइ प्रेमा तोमाय करिल उदय ।।
प्रेमार स्वभावे करे चित्त–तनु–क्षोभ ।
कृष्णेर चरण प्राप्त्ये उपजय लोभ ।।
प्रेमार स्वभावे भक्त हासे, काँदे, गाय।
उन्मत्त हइया नाचे, इति–उति धाय ।। (चै. च.)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु कहने लगे, "मैं अपने गुरुदेव के पास गया और उनसे पूछा, 'हे गुरुदेव ! आपने मुझे यह कैसा मंत्र दे दिया ? कैसा इसका बल है ? जपते-जपते इस मंत्र ने तो मुझे पागल ही कर दिया । कभी यह मुझे हँसाता है, कभी नचाता है, तो कभी रुलाता है ।' यह सुनकर श्रीगुरुदेव मुझसे कहने लगे-कृष्णनाम महामंत्र का ऐसा ही स्वभाव है । जो इसका जप या कीर्तन करता है, उसके हृदय में कृष्ण के प्रति भाव उत्पन्न कर देता है । प्रेम के स्वभाव के वशीभूत होकर ही भक्त कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी गाता है, तो कभी उन्मत्त होकर नाचते हुए इधर-उधर दौड़ता है ।

90 प्र०–कलियुग का धर्म क्या है ?

उ०–हरिनाम संकीर्तन ही कलियुग का धर्म है ।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।।

अर्थात् बृहन्नारदीय पुराण में कहा गया है–कलियुग में केवल हरिनाम के द्वारा ही किसी का कल्याण हो सकता है । इसके अतिरिक्त गति नहीं है, नहीं है, नहीं है । शास्त्रों में अन्यत्र भी कहा गया है–

कलियुगधर्म–कृष्णनाम संकीर्तन ।
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन ।।

अर्थात् कलियुग का धर्म तो कृष्णनाम संकीर्तन ही है । यदि कोई समस्त प्रकार के अपराधों का त्यागकर हरिनाम का आश्रय लेता है, तो उसे अवश्य ही कृष्णप्रेमधन की प्राप्ति होती है । भागवत में ऐसा ही कहा गया है–

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ।। (१२ .३ .५२)

तात्पर्य यह है कि सत्ययुग में विष्णु के ध्यान के द्वारा, त्रेतायुग में यज्ञ के द्वारा एवं द्वापर युग में परिचर्या (अर्चन) के द्वारा जो फल प्राप्त होता था, कलियुग में वह फल हरिनाम कीर्तन के द्वारा ही प्राप्त हो जाता है । श्रीहरि का कीर्तन होने से समस्त कार्य अच्छी प्रकार से पूर्ण हो जाते हैं । सत्ययुग में ध्यान का वर्णन किया गया है । परन्तु इस कलिकाल में मन अत्यन्त चंचल होने के कारण ध्यान करना सम्भव नहीं है । इसलिए कलियुग में महाध्यान की बात कही गयी है । हरिनाम संकीर्तन ही वह महाध्यान है । सत्ययुग में अल्प ध्यान की बात प्रचलित थी । परन्तु उस ध्यान से तो औदार्य विग्रह श्रीगौरसुन्दर का दर्शन सम्भव नहीं था । इसलिए कलियुग में संकीर्तनरूपी महाध्यान की व्यवस्था है, जिसके माध्यम से श्रीगौरसुन्दर का दर्शन हो सकता है । सत्ययुग का साधन ध्यान था, परन्तु जब उसमें कुछ दोष प्रवेश कर गये, तो फिर त्रेतायुग में यज्ञों का प्रचलन हुआ । अर्थात् त्रेतायुग में लोग यज्ञ के द्वारा भगवान को सन्तुष्ट करते थे । इसीलिए कलियुग में हरिनाम संकीर्तनरूपी महायज्ञ की विधि है । त्रेतायुग के साधन यज्ञ में कुछ दोष आ जाने पर द्वापर युग में अर्चन की विधि प्रचलित हुई । इसीलिए कलियुग में महार्चन की विधि का वर्णन है । श्रीकृष्णनाम संकीर्तन ही वह महार्चन है । जब रोगी समस्त प्रकार की चिकित्सा

करने पर भी ठीक नहीं होता है, तो उस समय जिस प्रकार उस रोगी को विषबटी खाने को देते हैं, यह कहकर कि इसमें बहुत ही शक्ति है, उसी प्रकार कलियुग में जीव की चरम दुर्दशा देखकर ही श्रीहरिनाम संकीर्तन की व्यवस्था दी गयी है। श्रीनाम में समस्त शक्ति समर्पित हुई है-उसमें समस्त शक्ति परिपूर्ण मात्रा में है।

हरिनाम-कीर्तन ही महाध्यान, महायज्ञ एवं महार्चन है। कृष्ण का ध्यान, यज्ञ, अर्चन साधारण है कृष्णकीर्तनरूप महाध्यान, महायज्ञ, महार्चन, में उनके समस्त विषयों की परिपूर्णता है। श्रीनामभजन ही महार्चन, महायज्ञ, महाध्यान है। इस महाध्यान में अन्यमनस्क होना उचित नहीं। बुद्धिमान व्यक्ति इस महाध्यान, महायज्ञ एवं महार्चनरूप हरिनाम संकीर्तन करते हैं, परन्तु उसके अतिरिक्त दुर्बुद्धिपरायण लोग हरिनाम संकीर्तन के अतिरिक्त अन्यान्य उपायों का अवलम्बन करते हैं, जिससे उनका मंगल नहीं होता। श्रीमद्भागवत में ऐसा कहा गया है-

कृष्णवर्ण त्विषाकृष्णं सांगोपागास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥
संकीर्तनयज्ञे कलौ कृष्ण-आराधन।
सेइ त सुमेधा पाय कृष्णेर चरण॥

(चै. च.)

संकीर्तन यज्ञ के द्वारा ही कलियुग में कृष्ण की आराधना की बात कही गयी है। जो ऐसा करता है, वह परम बुद्धिमान है तथा वह कृष्ण के चरणों को प्राप्त कर लेता है।

91 प्र०-भक्त के विचार कैसे होते हैं ?

उ०-मुक्त व्यक्ति मुक्ति की कामना नहीं करते। भक्तगण ही मुक्त हैं। इसीलिए उनकी धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की कामना नहीं रहती।

भक्ति ही एकमात्र सुख है। भक्ति के अतिरिक्त सभी वस्तुओं में सुख का अभाव है। इसीलिए भक्त ही एकमात्र सुखी हैं। उनके अतिरिक्त सभी दुःखी और अशान्त हैं। भक्ति न रहने पर कर्मी, ज्ञानी, योगी, भोगी या त्यागी किसी को भी शान्ति नहीं मिलती। मुझे सुख हो, मेरे अतिरिक्त अन्यान्य लोगों को दुःख हो, इसी का नाम ही अन्याभिलाष है। यह कर्म, ज्ञान आदि का मार्ग है। परन्तु किसी को भी वंचित किये बिना सभी मिलकर हरिकीर्तन करें, चौबीस

घन्टे हरिकीर्तन करें, ऐसा विचार तो केवल भक्तिपथ के पथिक भक्तों का ही हो सकता है । केवलाभक्ति के पथपर अन्य किसी साधन की सहायता या मिश्रण स्वीकृत नहीं होता । क्योंकि कीर्तन ही एकमात्र निरपेक्ष अव्यर्थ अस्त्र है। सर्वप्रथम इस कीर्तन को कान से सुनना पड़ता है, तब बाद में समस्त इन्द्रियों की अनुकूल क्रिया उपस्थित होती है । तब भगवान के रूप, गुण परिकर वैशिष्टय एवं लीलाओं का दर्शन होता है । भक्तलोग ऐसे विचारों को ग्रहणकर ही क्रमपन्था में उन्नत होते हैं ।

92 **प्र०–भगवान की जन्म–लीला किस प्रकार की है ?**

उ०–नित्यसिद्ध होने के कारण शचीमाता एवं जगन्नाथ मिश्र का हृदय एवं देह–दोनों ही शुद्ध–सत्त्वमय हैं, साधारण बद्धजीव की भाँति जड़ नहीं हैं । विशुद्ध सत्त्व का नाम वसुदेव है । वसुदेव के हृदय में ही चिद्विलासी वसुदेव प्रकटित होते है । जड़ इन्द्रिय तर्पणमय, प्राकृत रक्तमांसमय देह, स्त्री–पुरुष की कामक्रीड़ा एवं गर्भ की भाँति जगन्नाथ एवं शचीदेवी का मिलन एवं शचीदेवी का गर्भसंचार नहीं हुआ है । अतः मन ही मन ऐसी चिन्ता करना भी अपराध है । भगवान की सेवा के उन्मुख चित्त से विचार करने पर शुद्धसत्त्वमय शचीदेवी के अप्राकृत गर्भ की महिमा को समझा जा सकता है । भागवत की टीका में श्रीध रस्वामी पाद कह रहे हैं–

मनः आविवेश मनसि आविर्बभूव, जीवानामिव न धातुसम्बन्ध इत्यर्थः ।

इस सम्बन्ध में श्रीरूप गोस्वामी प्रभु लघुभागवतामृत ग्रन्थ में कह रहे हैं–कृष्ण सर्वप्रथम वसुदेवजी के हृदय में प्रकट होते हैं । तत्पश्चात् वसुदेवजी के हृदय से देवकीजी के हृदय में प्रकटित होते हैं । श्रीचैतन्यचरितामृत में आदि १३ परिच्छेद में हम देखते हैं–

जगन्नाथ मिश्र कहे–स्वप्न जे देखिल ।
ज्योतिर्मय धाम मोर हृदये पशिल ।।
आमार हृदय हैते गेला तोमार हृदये ।
हेन बुझि जन्मिबेन कोन महाशये ।।

अर्थात् जगन्नाथ मिश्र शचीदेवी को कह रहे हैं– स्वप्न में देखा कि एक अत्यन्त ज्योतिर्मय स्वरूप मेरे हृदय में प्रवेश कर गया । तत्पश्चात् मेरे हृदय से वह स्वरूप तुम्हारे हृदय में प्रवेश कर गया । इससे ऐसा लगता है कि अवश्य ही कोई महापुरुष प्रकटित होंगे ।

93 **प्र०–श्रीराधारानी को अभी हम कहाँ प्राप्त कर सकते हैं ?**

उ०–श्रीराधारानी अभी नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है । अभी हम उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, उनकी सेवा प्राप्त कर सकते हैं । यदि हम श्रीगुरुदेव में श्रीराधारानी के चरणनख की शोभा का दर्शन करें, तो राधारानी को हम कहाँ प्राप्त करेंगे–ऐसा विचार कभी भी हमारे हृदय में नहीं आयेगा । यदि भाग्य अच्छा हो, तो श्रीराधारानी के निजजन, श्रीराधाजी से अभिन्न मूर्ति श्रीगुरुदेव में श्रीराधारानी के पदनख की शोभा का दर्शन एवं उनकी सेवाप्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं । मधुर-रस में श्रीगुरुदेव श्रीराधारानी की प्रिय सखी एवं उनसे अभिन्न हैं । मधुर-रस के आश्रित गुरुनिष्ठ भक्तों का ही श्रीगुरुदेव में श्रीराधारानी के पदनख की शोभा का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है । श्रीगुरुदेव श्रीराधाजी के प्रकाशमूर्ति या अभिन्न वार्षभानवी हैं, इसे एकमात्र गुरु के स्निग्ध शिष्यगण ही अनुभव कर सकते हैं ।

94 **प्र०–किसी घटना के घटने पर उसे किस रूप में देखना चाहिए ?**

उ०–उस ओर (अर्थात् कृष्ण की ओर) देखकर–कृष्ण की ओर देखते रहें, तो सब ठीक है । परन्तु उस ओर न देखकर इस ओर देखें, अपने या दूसरे के कर्तृत्व की ओर देखें, तो हमें सब उल्टापुल्टा दिखाई देगा ।

उस ओर (कृष्ण की ओर) देखना अवरोह पन्था या श्रौतपन्था या Deductive process में देखना है । परन्तु इस ओर से देखने का तात्पर्य आरोहपन्था या Inductive process से देखना है । देखने का तात्पर्य है– माप लेने की बुद्धि के द्वारा देखना अथवा भगवान का कर्तृत्व न देखकर अपने कर्तृत्व के अहंकार से देखना । इसका ही फल दुःख है ।

95 **प्र०–वर्तमान समय में जीवों की अवस्था कैसी है ?**

उ०–हम केवल इसी जन्म के कुछ दिनों के लिए ही शरीर को लेकर व्यस्त रहते हैं । किन्तु इस जीवन के बाद क्या है, हमारे जीवन का क्या कर्तव्य है, इस विषय में हम लेशमात्र भी विचार नहीं करते । साधारण मनुष्य जाति के जड़ विचारों के द्वारा जितने प्रकार के धर्मों की चर्चा होती है, वे सब वास्तव में छल-धर्म हैं । शास्त्र कहते हैं–

पृथिवीते जत कथा धर्म नामे चले ।
भागवत कहे सब परिपूर्ण छले ।।

अर्थात् पृथ्वी में धर्म के नाम पर जितनी बातें प्रचलित हैं, भागवत के अनुसार वे सब छलपूर्ण हैं ।

हम अग्रसर हो रहे हैं या पीछे की तरफ जा रहे हैं, ऐसा तुलनामूलक विचार होना अति आवश्यक है । जितने भी मनोधर्मी लोग होते हैं, उनकी गति सत्य के विपरीत दिशा में होती है । श्रीचैतन्यदेव ने तो केवल वास्तव सत्य के मार्ग पर अग्रसर होने की शिक्षा ही दी है । किन्तु जो अहंकार पूर्वक कहते हैं कि 'हम स्वयं ही ब्रह्म बन जायेंगे' ऐसे भ्रान्तिपूर्ण पथ पर चलनेवाले लोगों का उद्धार करना अति आवश्यक है । मरने से पहले मनुष्य को दो बातें अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए । भारतवर्ष में प्रचलित हजारों मतवादों की मीमांसा तभी हो सकती है, यदि श्रीचैतन्यदेव के भक्तों के संग का सौभाग्य प्राप्त हो ।

अदूरदर्शी लोग तेलचट्टा के विष्ठायुक्त भोजन खाकर ही दिन काट रहे हैं । वे ऐसा सोचते है कि इसे छोड़कर और कुछ खाने की वस्तु हैं ही नहीं । कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि जगत में रहने की आवश्यकता नहीं है, अपनी सत्ता लोप कर देने से ही शान्ति मिल सकती है । जैसे कि शाक्यसिंह बुद्ध का विचार (अचिन्मात्रवाद) था । शंकराचार्य ने चिन्मात्र की बात कही है– चेतन को छोड़कर और सब वस्तु मिथ्या हैं । पुनः केवल अचेतनवादी या जड़वादी लोग Altruistic idea (परोपकार का) विचार लेकर ही घूम रहे हैं । वे जागतिक ज्ञान संग्रह करने में व्यस्त हैं । परन्तु आवश्यकता तो चेतन वस्तु के विषय में विचार करने की है ।

एक विरुद्ध शक्ति मनुष्य को Delude (वंचना) कर रही है । भगवान की कथाओं की चर्चा करने पर उनके चक्कर में नहीं पड़ना पड़ेगा । सारे जगत को भगवान का सेवक के रूप में देखने पर किसी प्रकार का दुःख नहीं रह जाएगा । कृष्णानुशीलन के अभाव के कारण ही यह असुविधा हो रही है । श्रीकृष्ण ने गीता में जो कहा है, महाप्रभु ने एक ही बात में उसी विषय को कह दिया है–

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास ।
कृष्णेर तटस्था – शक्ति भेदाभेद – प्रकाश ।।
कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख ।।

अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्ण का नित्यदास है, कृष्ण की तटस्था – शक्ति

है और उसका कृष्ण से भेद एवं अभेद दोनों हैं । कृष्ण को भूलकर जीव अनादि काल से बहिर्मुख हो गया है, इसलिए माया उसे अनेक प्रकार के सांसारिक दुःख प्रदान कर रही है ।

भगवान कह रहे है– हे जीव ! तुम अनादि काल से बहिर्मुख हो । तुममें अन्तर्मुख धर्म भी था । तुम मेरी सेवा कर सकते थे । किन्तु ऐसा न कर तुम मुझसे सेवा चाह रहे हो । Absolute भगवान से उत्पन्न होने पर भी स्वतंत्ररूप में भोग करने के लिए माप लेने की बुद्धि प्राप्त की है । तुम स्वयं प्रभु के रूप में सजना चाहते हो ? क्या तुम जानते नहीं कि तुम सेवक हो ? हम भगवान के सेवक हैं । यदि हम भगवान की सेवा न कर उनसे सेवा लेना चाहें, तो हमारा कभी भी मंगल नहीं हो सकता । हरि सबके प्रभु हैं और बाकी सब उनके दास हैं । उनकी कथा सुनना ही उनकी सेवा है । जो सब कथाएँ जगत के व्यवहार के लिए है, उनका नाम हरिकथा नहीं है । भगवान की कथाओं का कीर्तन करने वाले गुरु होते हैं तथा श्रवण करने वाले शिष्य होते है । श्रवणकारी submissive (गुरु के शरणागत) होंगे । जो सुनने में कुछ द्विधा अनुभव करते हैं, ऐसे लोगों के निकट हरिकथा बोलने से उनका कुछ भी मंगल नहीं होगा । हरिकथा सुनने के लिए उत्कण्ठा होनी चाहिए । श्रवणकारी को inquisitive (जिज्ञासु) होना अति आवश्यक है व्यर्थ में ही समय नष्ट करने की आवश्यकता होने पर मन में अन्य विचार आ जायेंगे । हम यदि सौभाग्यवान हैं, तभी हमलोग शुद्ध हरिकथा का अनुसन्धान करेंगे । तभी हमलोग better way pass करेंगे अर्थात सत् मार्ग पर चल पायेंगे ।

जिस दिन भगवत् कथा की चर्चा का सुयोग प्राप्त नहीं होता, वही दिन दुर्दिन है, मेघाच्छन्न दिन दुर्दिन नहीं है । शास्त्र कह रहे हैं–

तद्दिनं दुर्दिनं मन्ये, मेघाच्छन्नं न दुर्दिनम्।
यद्दिनं कृष्णसंलाप – कथा – पीयूषवर्जितम्।।

96 **प्र० – हम अपने स्वरूप का परिचय किस प्रकार प्राप्त करेंगे ?**

उ० – मेरा वास्तव – देह है – ऐसी स्मृति यदि जागृत नहीं होती, तब अपस्मृति ही रह गयी – जड़देह में आत्मबुद्धि नहीं गयी । अधोक्षज वस्तु जड़ इन्द्रिय से अतीत है । वे हृषीकेश हैं । इन्द्रिय द्वारा उनकी सेवा करनी होगी ।

होती है, वास्तव देह के द्वारा सच्चिदानन्द विग्रह भगवान की सेवा, चिद्-इन्द्रिय समूह द्वारा हृषीकेश की सेवा होती है । अधोक्षज-सेवाहीन मनुष्य पशु के समान है । सदैव साधुसंग करना चाहिए । भगवद् भक्त साधु निरन्तर भगवान की सेवा में व्यस्त हैं । उनका संग होने से हममें भी भगवान को सुख देने की प्रवृत्ति जग जाएगी साधुसंग के फल से ही यथार्थ देह का परिचय प्राप्त होगा । तभी देहात्मबुद्धि या प्राकृत अभिमान नहीं रहेगा, सर्वनाश करनेवाली अपने सुख की इच्छा सदा के लिए दूर हो जाएगी ।

भक्त भोगी (वुभुक्षु) भी नहीं, त्यागी (मुमुक्षु) भी नहीं है । भक्त भगवत् सेवा में मग्न है-भगवान के सुख-विधान में तत्पर है । भोगी की कुचेष्टा होती है-भगवान को वञ्चित कर मैं भोग करूँगा । मैं भगवान होकर भगवान को ठग लूँगा-यही त्यागी मायावादी की चेष्टा है । भक्त में ये सभी कुप्रवृत्तियाँ नहीं होती हैं । वे सेवा के प्रभाव से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है-सेवक-अभिमान से प्रमत्त है ।

मैं भगवान का सेवक हूँ-यही जीव का स्वरूप है । भगवत् सेवकों के संग में भगवत्सेवा करते-करते ही यह स्वरूप जागृत होता है । तब विरूप की चेष्टा और देखी नहीं जाती ।

97 **प्र०-भगवत् सेवाविहीन मानव को पशु के समान क्यों कहा जाता है ?**

उ०-भगवत् सेवा ही जीव का कर्तव्य है-यह ज्ञान पशु का नहीं है । पशु केवल अपनी इन्द्रियों को तृप्त करना और अपनी जाति के इन्द्रियतर्पण को समझता है । अपने इन्द्रियतर्पण के अतिरिक्त वे और कुछ नहीं जानते । मनुष्य भी यदि केवल अपने इन्द्रियतर्पण या स्वसुख को लेकर रहता है, भगवत् सेवा का विचार- भगवान को सुख देने की प्रवृत्ति यदि उसकी नहीं है, वह यदि पशु की भाँति केवल आहार-विहार को लेकर व्यस्त रहता है, तब उसको पशु के समान या नरपशु के अतिरिक्त और क्या कहा जाएगा ?

कृष्णसुख-कामना या कृष्णभक्ति ही धर्म है । यह भक्ति जिनमें है, वे वास्तव में मानव पदवाच्य है ।'**धर्मेण हीना पशुभिः समाना ।**' स्वसुखकामना ही पशुत्व या कामुकत्व है । कृष्णसुख कामना ही वास्तव मनुष्यत्व है ।

प्रश्न 98— क्या धर्म मनुष्य द्वारा सृष्ट वस्तु (70) श्रील प्रभुपादका उपदेशामृत

धर्मन्तु - साक्षाद्भदवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः ।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतो नु विद्याधर - चारणादय ।।

(भा . ६/३/१९)

धर्म साक्षात् भगवत् प्रणीत है । भृग आदि सत्त्वगुणप्रधान ऋषिगण भी यह नहीं जानते, देवतागण भी नहीं जानते, सिद्धगण, असुरगण, मनुष्यगण कोई भी नहीं जानते; विद्याधर और चारण आदि की बात और क्या बताऊँ ?

भागवतधर्म या परमधर्म मनुष्य द्वारा सृष्ट नहीं है अथवा मनुष्यसृष्टि केबाद वह सृष्ट नहीं हुआ । वह नित्यकाल है और रहेगा । वह अपरिवर्तनीय और अखण्डनीय है । अधोक्षज श्रीहरि में भक्ति ही वह धर्म है । इसके अतिरिक्त अन्य मनःकल्पित जिन सभी धर्मों का जगत में प्रचार हुआ है, हो रहा है और होगा, वे सब मनुष्य के कल्पित अनित्यधर्म या परमधर्म के विरोधी धर्म हैं । इसलिए भागवतधर्म, परमधर्म या आत्मधर्म के साथ देहधर्म और मनोधर्म का एकाकार नहीं हो सकता । अतः भगवान कृष्णचन्द्र ने गीता में अन्य सभी धर्मों का परित्याग कर भगवद्-आश्रयरूप नित्यधर्म को ग्रहण करने का उपदेश दिया है–

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

भागवतधर्म आत्मा की नित्य वृत्ति है । आत्मा मानवसृष्टि से पहले भी विराजित थी । उसी नित्य आत्मा की वृत्ति भक्ति धर्म भी नित्य है । इस आत्मधर्म को प्रकट कराने के लिए जो यत्न किया जाता है, वही साधन है ।

पशुस्वभाव मनुष्य को मनुष्य नाम के योग्य कराना साधारण नैतिक धर्म का कार्य है, किन्तु भागवतधर्म इससे अधिक ऊपर में है, जीव को परात्पर भगवान की सेवा में सम्पूर्ण योग्यता देने के लिए ही भागवत धर्म का नित्य प्रयोजन है । एक ही बात में भागवतधर्म में मनुष्य या प्राणी का सुविधावाद नहीं हैं, उसमें है अधोक्षज भगवान का सोलह आना (शत प्रतिशत) नित्य सुखान्वेषण । वही यथार्थ सुख या अक्षय सुखप्राप्ति का एक उपाय है ।

Vox populi is not vox Dei but vox Dei should be vox populi. अर्थात् गणमत परमेश्वर की वाणी नहीं है, परमेश्वर की वाणीसज्जनमत होनी चाहिए - यही महाजनों का उपदेश है । किन्तु

चिज्जड़ समन्वयवादी ठीक इसके विपरीत बात कहते हैं - 'जितना

मत, उतना पथ' । गणमत होगा ईश्वर प्राप्ति का पथ या परमेश्वर का मत । कैसी आश्चर्य की बात है ! जहाँ गणमत-प्रियता ही धर्म है, वहाँ परमेश्वर में प्रीति निर्वासित है; जहाँ जगत के लोगों का समर्थन यथार्थ सत्य के निर्धारण की कसौटी है, वहाँ भी अकृत्रिम सत्य अस्तमित है ।

99 **प्र०-क्या भगवत्-सेवा ही यथार्थ स्वाधीनता है ?**

उ०-हाँ । हम इतने मायाधीन और पराधीन हैं कि अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते । इसलिए पार्थिव क्षमता को विश्वासघातिनी जानकर श्रीमद्भागवत ने एकमात्र अनुक्षण भगवदनुशीलन के लिए हमें उपदेश दिया है । हम सदैव मृत्यु के कवल में फंसे हुए हैं । अतः माया के राज्य में हमारी स्वाधीनता कहाँ है ? एकमात्र हरिसेवा में नियुक्त होने से ही हम आत्मा की स्वस्थता और नित्य स्वाधीनता में प्रतिष्ठित हो सकेंगे ।

100 **प्र०-क्या शरणागति के बिना कल्याण नही हो सकता ?**

उ०-नहीं । जबतक कृष्ण के चरणों में सम्पूर्ण रूप से शरणागत न हुआ जाए, तब तक कल्याण सम्भव नहीं है । यदि हमें कदम-कदम पर कृष्ण का स्मरण न हो तो अवश्य ही हम विपथगामी हो जाएँगे । जड़ ज्ञान के द्वारा 'मैं एवं मेरा' का भाव प्रबल रहने पर अवश्य ही विपदग्रस्त होना पड़ता है । हम जगत को भोग करने वाले हैं, ऐसी कुबुद्धि होने पर अवश्य ही अधःपतन हो जायेगा । हम चेतन वस्तु हैं, जगत अचेतन वस्तु है । हम जिसे भोग कर सकते हैं उसे जड़ कहते हैं । हम अपने स्वरूप (भगवत् दासत्व) को भूलकर जगत की वस्तुओं को अपने भोग के लिए समझकर भोक्ता अभिमान के वशीभूत हो जाते हैं । धीरे-धीरे अहं भाव (भोक्ता भाव) बढ़ते-बढ़ते मैं भगवान हूँ, मैं खुदा हूँ, ऐसे कुविचार आकर जीव का सर्वनाश कर देते है । 'मैं श्रेष्ठ होऊँगा' इस भावना से ग्रस्त होने पर जीव के कल्याण का पथ सम्पूर्ण रूप से बन्द हो जाता है ।

101 **प्र०-मठ में कौन रहेंगे ?**

उ०-हमें मठ में कसरत करने वालों की आवश्यकता नहीं हैं । जो बाबू बनना चाहते हैं उनकी भी आवश्यकता नहीं है । केवल भगवत् भक्त ही मठ में रहेंगे ।

जो शिश्नोदर परायण अर्थात् स्त्रियों में आसक्त एवं पेटू व्यक्ति मठ में रह रहे हैं, उन्हें एक-एक करके मठ से विदा करके मठ का खर्चा कम करना

चाहिए । इस तरह जगत का जंजाल कम होगा ।

जो व्यक्ति मठ का आचार-विचार पालन नहीं करते हैं । गुरु का आनुगत्य भी नहीं करते हैं एवं जिनमें दीनता नहीं है ऐसे स्वेच्छाचारी एवं दाम्भिकों को घर भेज देना ही उचित है । ऐसा करने पर यदि मठ में लोगों की संख्या कम हो जाए तो भी अच्छा ही है । जो हरि भजन नहीं करते हैं तथा लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा एवं कनक, कामिनी (स्त्री) के पीछे भागते रहते हैं उन्हें मठ में रखना उचित नहीं है । क्योंकि वे मठ में रहते हुए भी अन्दर से मठ के विरोधी हैं। मैं मठ में अनेक दिनों से हूँ, मैंने मठ के लिए बहुत कुछ किया है, इसलिए मैं अच्छा खाऊँगा, अच्छे कपड़े पहनूँगा, मुझे उचित सम्मान मिलना चाहिए, मठ की सम्पत्ति में भी मेरा आधा अधिकार होना चाहिए ऐसे विचारों को प्रश्रय नहीं देना चाहिए । संशय, दूसरे की निन्दा, परचर्चा करते-करते ये सब भक्ति विरोधी विचार आकर हमें भक्ति से बहुत दूर कर देते हैं ।

मैं बड़ा उस्ताद हूँ, बहुत बुद्धिमान हूँ, बहुत बड़ा वक्ता हूँ एवं बहुत अच्छा गायक हूँ-इन सब भक्ति विरोधी विचारों से ग्रस्त नहीं होना चाहिए । हमें एक तिनके से भी अधिक दीन हीन होना चाहिए । यदि कोई हम पर आक्रमण करता है या हमारी निन्दा करता है, तो उस समय उसे सहन कर हरिनाम करना उचित है । उस समय ऐसा समझना चाहिए कि आज भगवान ने कृपा करके हमें तृणादपि सुनीच होने का अर्थात् दीन-हीन होने का एवं सहिष्णु होने का अवसर प्रदान किया है । जब कोई व्यक्ति हमें व्यक्तिगत रूपसे गाली-गलोज करता है, तो उस समय हमें विचार करना चाहिए कि भगवान इसके माध्यम से हम पर कृपा ही कर रहे हैं ।

102 **प्र०-किसके साथ मठ का सम्पर्क नहीं हैं ?**

उ०-जो दीक्षा (दिव्य ज्ञान) का दुरूपयोग करने के उद्देश्य से कपटता पूर्वक मठ का आश्रय ग्रहण करते हैं या आनुगत्य स्वीकार करते हैं उनके साथ मठ का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहसकता ।

जिस प्रकार नदी पार होने के लिए एक नाव एवं नाविक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस भवसागर से पार होने के लिए भी एक गुरु की भी आवश्यकता होती है । इसी भावना से आजकल लोग मुझे अपना गुरु बना रहे हैं । वास्तव में उन्होंने मुझे कभी देखा ही नहीं, और न मैं ही इनसे कभी मिला । तात्पर्य यह है कि कुछ लोग एक विधि जानकर गुरु तो कर लेते हैं,

परन्तु गुरु की क्या महिमा होती है, इसे जानने की चेष्टा नहीं करते । ऐसे लोगों के द्वारा गुरु किये जाने पर भी वास्तव में गुरु करना नहीं होता ।

जब हम श्रीगुरुदेव के साथ तर्क-वितर्क करते हैं और अपनी बुद्धि के द्वारा गुरु को जानने की चेष्टा करते हैं, उनका अनुसरण न कर अनुकरण करते हैं, तभी हमारा सर्वनाश होता है । ऐसी दुर्बुद्धि को छोड़कर जब हम श्रीगुरुचरणों में आत्मसमर्पण करें तभी हमारा मंगल हो सकता है ।

अर्थ, विद्या, योग्यता, पाण्डित्य इत्यादि वस्तुओं की इच्छा भगवत् भक्त कभी नहीं करता है, क्योंकि इनके द्वारा गुरु वैष्णव के चरणों में अपराध होने की सम्भावना बढ़ जाती है । जिसके कारण जीव गुरु एवं कृष्ण सेवा से वञ्चित हो जाता है ।

103 **प्र०–भगवान किसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं ।**

उ०-नन्दनन्दन कृष्ण ही स्वयं भगवान हैं । वे कृष्ण वस्तु ही त्रिभुवन को आकर्षित करते हैं । कृष्ण के प्रिय श्रीगुरुदेव ही श्रीकृष्ण की आकर्षणी शक्ति हैं । वास्तव वस्तु ही आकर्षक होती है । वे वास्तव वस्तु भगवान कृष्ण किसे आकर्षित करते हैं ? चुम्बक लोहे को अपनी ओर आकर्षित करती है लकड़ी को नहीं, क्योंकि लोहे एवं चुम्बक की जाति एक ही है, परन्तु काष्ठ विजातीय होता है। उसी प्रकार भगवान अपने भक्तों को ही अपनी ओर आकर्षित करते हैं । क्योंकि भगवान चिद् वस्तु हैं एवं जीव भी चिद् वस्तु है, परन्तु माया के सम्पर्क में आने से उसका यह गुण ढक जाता है। जब वह गुरुचरण आश्रयकर भजन करता है, उसका माया बन्धन कट जाता है एवं चिद् गुण प्रकाशित हो पड़ता है, जिसके फलस्वरूप वह स्वाभाविक रूप से ही भगवान की ओर आकृष्ट हो पड़ता है । भगवान के स्नेह एवं माधुर्य का अनुभव कर सेवोन्मुख जीव या सेवक उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं । वे आकर्षक वस्तु भगवान अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा ऐसे जीवों को खींचकर ले जाते हैं । बीच में यदि वह जीव दूसरी वस्तु की ओर आकर्षित हो जाता है, तो उस समय वह मूल वस्तु भगवान के आकर्षण से छूट जाता है ।

एक ओर बन्धनमूलक संसार का आकर्षण है तो दूसरी ओर कृष्ण का आकर्षण है । इस जगत में रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द आदि आकर्षक वस्तुएँ हमारे बहुत निकट हैं, हम दुर्बल होने के कारण उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं । इस आकर्षण से बचने के लिए (living source) बलवान साधु के मुख

से हरिकथा श्रवण करनी चाहिए । यदि हम साधु गुरुओं के मुख से भगवान की कथाओं को श्रवण करते हैं, तो निकट ही स्थित शत्रु (रूप, रस, गन्ध, शब्द आदि) से बच सकते हैं । यदि हम कृष्ण की ओर आकर्षित नहीं होते हैं तो हमें माया की ओर आकर्षित होना ही पड़ेगा ।

104 **प्र०–तर्कपन्थी कौन हैं ?**

उ०–जब तक मनुष्य तर्क–वितर्क करता है, तब तक उसे गुरु का दर्शन नहीं हो सकता । श्रीगुरुदेव की वाणी ही सत्य है । इस वास्तव सत्य अर्थात् गुरुदेव के वचनों की परीक्षा करने की इच्छा ही तर्क पथ है । जो तर्क पन्थी हैं । वे गुरुदेव की अवज्ञा करते हैं । एकमात्र गुरुदेव ही समस्त प्रकार के संशयों को दूर करने में समर्थ हैं । तर्क का कोई आधार नहीं होता है । आम्नाय धारा (गुरु–परम्परा) से जो सत्य चला आ रहा है, वह कभी भी बदल नहीं सकता है । उस अपरिवर्तनीय सत्य को प्रदान करने वाले को ही गुरु कहते हैं । गुरुद्रोही के तर्कनिष्ठ हृदय में जो विचार आते हैं, उनमें गुरु अवज्ञा और शास्त्र की अवज्ञा होती है ।

105 **प्र०–मठ से दूर रहकर या संसार में रहकर हरिकथा श्रवण करना कैसे सम्भव हो सकता है ?**

उ०–हमारे मठ में सभी भक्तलोग हरिकथा एवं हरिसेवा में रत हैं । ऐसे साधु, भगवान की सेवा एवं हरिकथा ही जिनका प्राण है, उनका संग सभी के लिए अति आवश्यक है । जिस स्थान पर भगवान की कथा नहीं होती, उस स्थान पर चाहे कितने ही स्वजन बन्धु–बान्धव, धन–सम्पत्ति यहाँ तक कि इन्द्र के समान ऐश्वर्य भी क्यों न हो, वह स्थान रहने योग्य नहीं है । भगवान की कृपा से मठ में मठवासियों को सर्वदा हरिकथा एवं हरिसेवा में रत देखकर महाप्रभु की करुणा का अनुभव होता है ।

जो सज्जन पुरुष अपना आत्मकल्याण चाहते हैं उन्हें बीच–बीच में मठ में आकर श्रद्धापूर्वक गुरु एवं वैष्णवों से भगवान की कथाओं को श्रवण करना चाहिए । यदि हमारी भगवान की कथाओं एवं भगवान की सेवा में रुचि हो, तभी हम असत् संग से बच सकते हैं । यदि हम हमेशा पारमार्थिक पत्रिकाएँ एवं महापुरुषों द्वारा रचित ग्रन्थ आदि की अलोचना करें और साथ ही श्रीगुरु एवं श्रीचैतन्य महाप्रभु से कृपा भिक्षा मांगें, तो उन ग्रन्थों के अध्ययन से ही भक्तों के मुख से हरिकथा श्रवण का फल प्राप्त होता है ।

यद्यपि इस पृथिवी पर भगवान के धाम से माया बद्धजीवों का कल्याण करने के लिए आये हुए उनके परिकरों का दर्शन नहीं हो रहा है, फिर भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के समय उनके साथ जो उनके परिकर आये थे, उनकी शिक्षाएँ एवं उनका जीवन चरित्र ग्रन्थ रूप में हमारे समक्ष अभी भी विद्यमान है। अत: हमें यह सोचकर निराश नहीं होना चाहिए कि हम क्या करें ? आजकल महाप्रभु के परिकर हमारे समक्ष नहीं हैं । अत: हमारा कल्याण कैसे होगा ? हमें तो सर्वदा उन महापुरुषों के द्वारा रचित उनके ग्रन्थों, शिक्षाओं एवं उनके अलौकिक जीवन चरित्र का अनुशीलन करते रहना चाहिए । हम यदि मठ में भगवान की कथाओं में रत रहें तो हमारा मंगल अवश्य ही होगा और किसी प्रकार की असुविधाएँ हमारे मंगल के मार्ग में बाधा नहीं पहुँचा सकतीं ।

भगवान की इच्छा से हम कहीं भी क्यों न रहें, यदि वहीं पर भगवान की कथाओं का हम अनुशीलन करते हैं, तो समस्त प्रकार के सांसारिक कार्य एवं सांसारिक बातों में भी हमें भगवान की कृपा, भगवान की स्मृति एवं भगवान की भक्ति का अनुभव होगा । भगवान अपने भक्तों को जिस किसी भी अवस्था में रखकर सुखी हों, वे भक्त उसी अवस्था में रहकर अपने दु:खों को भूलकर भगवान का गुणगान करते हैं । साधुओं का संग एवं हरिकथा आलोचना की करते-करते हमारे हृदय में भगवान की सेवा की प्रवृत्ति अवश्य ही उदित होगी। इसी अवस्था में हमें भगवान का स्मरण रहेगा । हमारी परीक्षा लेने के लिए भगवान सदैव ही आड़ में छिपे रहते हैं । प्रत्येक घटना के पीछे भगवान की कृपा अनुभव करने पर किसी प्रकार का दु:ख-कष्ट हमें व्यथित नहीं कर सकेगा ।

यह संसार जीवों के लिए परीक्षा का स्थल है । इन परीक्षाओं में पास होने के लिए शुद्ध भक्तों से अवश्य ही भगवान की कथाओं को सुनना होगा । यद्यपि सब समय साधुओं के मुख से हरिकथा श्रवण करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता तथापि यदि स्वयं ग्रन्थ आलोचना के माध्यम से हरिकथा श्रवण करें तो हमें सत्संग का अभाव नहीं खलेगा। भगवान के भक्त सर्वत्र ही भगवान का ही दर्शन करते हैं, परन्तु भगवान के विद्वेषी अभक्तलोग भगवान के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते हैं । परन्तु हम इन दोनों के मध्य में हैं । एक क्षण के लिए हमारी रुचि होती है, तो अगले क्षण भगवान को भूलकर विषय भोगों में लिप्त हो जाते हैं । यदि हमारी भगवान की सेवा में प्रमत्त रहने की इच्छा

प्रबल हो जाय तो विषय भोगों से स्वत: ही विरक्ति हो जाएगी । सांसारिक विषयों में तात्कालिक सुख या दु:ख विद्यमान रहते हैं, परन्तु भगवान की सेवा में भगवान को आनन्द प्राप्त होता है । इसीलिए हम भगवान के सुख के लिए ही सर्वदा उनकी सेवा रत रहते हैं ।

106 **प्र०–क्या वैष्णव संग की विशेष आवश्यकता है ?**

उ०–अवश्य ही । गुरु का संग, गुरु के प्रति निष्ठा एवं वैष्णव संग विशेष मंगलप्रद है । क्योंकि हम अनर्थग्रस्त होने के कारण पूर्णरूप से अयोग्य हैं । यदि हम वैष्णव–संग न करें, तो वैष्णव सदाचार, गुरु वैष्णव एवं भगवान की सेवा की शिक्षा हम किस प्रकार प्राप्त कर सकेंगे ? हमेशा किसी को अपना एक आदर्श बनाना चाहिए । यदि हम एक ऐसे वैष्णव को अपना आदर्श न बनाएँ अर्थात् उसका संग न करें, जिसकी गुरु, भगवन्नाम एवं भगवत् सेवा के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा है, तो हमारी गुरु के प्रति निष्ठा, उनके प्रति अपनत्वका भाव, गुरु के प्रति ईश्वर–बुद्धि एवं गुरु और भगवान की सेवा की प्रवृत्ति कहाँ से उदित होगी ? किस प्रकार गुरु–सेवा करनी चाहिए, गुरु के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए, इन सब बातों को यदि कोई निष्कपट गुरुनिष्ठ वैष्णव हमें न बताए, तो हम सद्गुरु प्राप्त करते हुए भी उन्हें खो बैठेंगे, गुरु के निकट रहकर भी गुरु–सेवा से वञ्चित हो जायेंगे ।

107 **प्र०–क्या भगवान की सभी व्यवस्थाओं को आनन्दपूर्वक स्वीकार करना चाहिए ?**

उ०–निश्चय ही । भगवान मंगलमय वस्तु हैं, इसलिए उनकी व्यवस्थाएँ मंगलप्रद ही होंगी । मंगलमय भगवान की व्यवस्थाओं में किसी प्रकार का अमंगल रहने की सम्भावना लेशमात्र भी नहीं हैं । दयामय की समस्त व्यवस्थाओं में दया का ही परिचय पाया जाता है । It is all for the best. भगवान जो कुछ करते हैं, सब हमारे मंगल के लिए ही करते हैं । केवल यहाँ पर हमें भगवान की दया को समझने की आवश्यकता है ।

भगवान जब, जिसको जैसी अवस्था में रखते हैं उसे चुपचाप उसी स्थान पर रहकर उसे भगवान की कृपा समझकर ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि भगवान का दण्ड और कृपा दोनों ही जीव के कल्याण के लिए ही होते हैं । भगवान की मायाशक्ति के पुरस्कार का तो हम आदर करते हैं, परन्तु उसके तिरस्कार अथवा दण्ड को हम कष्टदायक मानते हैं । माया का यह दण्ड भगवान

की कृपाप्रसाद को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही विहित होने के कारण भक्तगण उसका भी अनादर नहीं करते हैं । वे आनन्दपूर्वक एवं सहिष्णुता पूर्वक उसे भगवान की कृपा के रूप में ग्रहण करते हैं । जो सांसारिक अमंगलों (किसी भी प्रकार की हानियों) को भगवान की दया के रूप में नहीं समझ पाते हैं, वे पुनः सांसारिक उन्नति एवं सुख की खोज करते हैं, फलस्वरूप अन्त में निष्फल होकर निराश हो जाते हैं ।

सब भगवान की ही इच्छा है । अतः किसी प्रकार का दुःख कष्ट उपस्थित होने पर उसे बिना विचलित हुए सहन करते हुए भगवान की कृपा की प्रतीक्षा करनी चाहिए । भगवान श्रीनृसिंहदेव सदैव भक्तों के अंमगलों का नाशकर उनकी रक्षा करते हैं । अतः भक्ति में अवस्थान करने वाले साधक को अपने पालन-पोषण एवं रक्षा की चिन्ता नहीं करनी पड़ती । भगवान के शरणागत होने पर मायिक जगत के समस्त प्रकार के अमंगल-समूह नष्ट हो जाते हैं ।

पूर्व जन्मों के कर्मफलानुसार कभी हम स्वस्थ तो कभी अस्वस्थ हो जाते हैं । हम जब अपने को स्वस्थ अनुभव करते हैं, तभी हम कृष्णविमुख हो जाते हैं और स्वयं को भक्तों से श्रेष्ठ मानने लगते हैं । इसीलिए कृष्ण ने हमारी इस दुरवस्था का विचारकर हमारे कल्याण के लिए अनेक प्रकार के दुःख, कष्ट एवं असुविधाओं को बनाया है । तब भक्त लोग "तत्तेनुकम्पां" श्लोक का अर्थ समझने की चेष्टा करते हैं ।

जिसमें कृष्ण का आनन्द हो, हमें सन्तुष्ट चित्त होकर वही स्वीकार करना चाहिए । कृष्ण यदि मुझे अपने से विमुख रखकर सुखी हों, तो उसके परिणामस्वरूप मुझे जो दुःख प्राप्त होंगे, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए । "कृष्णेर सेवाय दुःख हय जत, सेओ त परम सुख", अर्थात् कृष्ण की सेवा करते हुए जो दुःख प्राप्त होते हैं, वे भी परम सुखद हैं । वैष्णवों को ऐसी उपलब्धि होती है । हमें इसी का अनुसरण करना चाहिए ।

108 **प्र०-क्या वैष्णवों के लिए अशौच का विचार होता है ?**

उ०-नहीं । वैष्णव गृहस्थ हों या त्यागी हों, उनके लिए किसी भी प्रकार के अशौच का विचार नहीं है । भगवान की सेवा करने से ही पितृश्राद्ध एवं पितृतर्पण आदि सबकुछ करना हो जाता है । इसलिए वैष्णवों को स्वतन्त्ररूप से श्राद्ध-तर्पणादि नहीं करना चाहिए । परन्तु लोक-व्यवहार के

लिए गृहस्थ वैष्णव हरिनाम ग्रहण के द्वारा पवित्र होकर एकादशी या जिस किसी भी दिन महाप्रसाद के द्वारा पितरों का श्राद्ध कर सकते हैं, यही वैष्णव श्राद्ध हैं।

109 **प्र० – श्रीनाम साक्षात् कृष्ण हैं, इसे हम कब समझ पायेंगे ?**

उ० – भगवान का नाम एवं भगवान अभिन्न वस्तु हैं। जब हमारे अनर्थ नष्ट हो जायेंगे, तभी हम विशेष रूप से इसकी उपलब्धि कर पायेंगे। जिस दिन हम अपराध छोड़कर कृष्णनाम करेंगे, उसी दिन हम स्वयं ही समझ पायेंगे कि नाम से ही समस्त प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भगवान का नाम कीर्तन करते-करते अनर्थों के दूर होने पर श्रीनाम में ही रूप, गुण एवं लीला इत्यादि की स्वयं ही स्फूर्ति होगी। उस समय चेष्टा के द्वारा कृत्रिम रूप से रूप, गुण एवं लीलाओं का स्मरण नहीं करना पड़ेगा। जो निरपराध होकर नाम ग्रहण करते हैं, उसके प्रभाव से उनकी स्थूल और शरीर के प्रति आत्मबुद्धि नष्ट होने पर उनका सिद्धस्वरूप उदित हो जाता है। सिद्धस्वरूप उदित होने पर नाम करते-करते कृष्णरूप के अप्राकृतत्व की उपलब्धि होती है। कृष्ण का नाम ही जीव के शुद्धस्वरूप को उदित कराकर कृष्णरूप के प्रति आकर्षित कराते हैं। भगवान का नाम ही जीव के हृदय में उसके गुणों को उदित कराकर कृष्ण गुणों के प्रति आकर्षित करते हैं। कृष्णनाम जीव की स्वक्रियाओं को उत्पन्न कराकर कृष्ण की लीलाओं के प्रति आकर्षित करते हैं।

नाम की सेवा कहने से नाम उच्चारण करने वाले के अपने प्रयोजनीय अनुष्ठान आदि को भी समझना चाहिए।

भगवान का नाम करते-करते नाम की कृपा से ही यह सब होगा। शास्त्रों के श्रवण, पठन एवं अनुशीलन के द्वारा नाम में रुचि उत्पन्न होती हैं।

110 **प्र० – क्या करने से हमारा कल्याण होगा ?**

उ० – भगवान में अपनी रति मति लगाकर उन्हें पुकारने पर ही हमारा समस्त कल्याण होता है। आप ऐसा ही करेंगे, आपसे मेरा यही निवेदन है। सांसारिक उन्नति, सुविधा एवं असुविधाओं को देने वाले एकमात्र भगवान ही हैं। हम उनके पाल्य एवं शरणागत हैं। अतः वे हमारे लिए जैसी भी व्यवस्था करें, उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

111 **प्र० – क्या गुरुसेवा के बिना हमारे कल्याण की कोई आशा नहीं है ?**

उ० – नहीं। जो मंगल प्रदान करने के लिए आये हैं, जो साक्षात् मंगल

की मूर्ति हैं, मंगल प्रदान करने वाले एवं जीवों के एकमात्र आश्रय ऐसे श्रीगुरुदेव की सेवा किए बिना आत्मकल्याण कैसे सम्भव है ? श्रीगुरुदेव तो वैकुण्ठ से भगवान की प्रेरणा से आये हुए महापुरुष हैं । अत: उनका आश्रय एवं उनकी सेवा के बिना अर्थात् उनके संग के बिना कोई व्यक्ति वैकुण्ठ किस प्रकार जा सकता है? गुरु की कृपा ही समस्त प्रकार के कल्याणों की मूल है । उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए हमने ऐसी कौन-सी चेष्टा की है जिससे हमें उनकी कृपा प्राप्त हो? इसीलिए मैं अपने समस्त प्रकार के अहंकारों का परित्यागकर श्रीगुरुदेव के चरणकमलों में प्रणाम कर रहा हूँ । ''मैं द्रष्टा हूँ, मैं भोक्ता हूँ'' -ऐसे अहंकारों का त्याग करने का नाम ही नमस्कार है । इसीलिए मन्त्र में नम: शब्द है ।

मैं कर्ता हूँ,-ऐसी दुर्बुद्धि श्रीगुरुदेव की कृपा से दूर होती है । मैं भगवान का सेवक हूँ-ऐसा शुद्ध अभिमान श्रीगुरुदेव की कृपा से ही आता है । जागतिक अभिमान, अहंकार, अविचार, कुविचार इत्यादि उनकी कृपा एवं उनकी सेवा से ही दूर होते हैं । मैं सालों-साल तक श्रीगुरुदेव की पूजा करने का पक्षपाती नहीं था । श्रीगुरुदेव की सेवा ही मेरा एकमात्र कर्तव्य है, इसे मैं श्रीगुरुदेव की कृपा से ही समझ पाया । अन्धे व्यक्ति का अनुगमन न कर नेत्रयुक्त श्रीगुरुदेव का अनुगमन अर्थात् उनकी पूजा करनी चाहिए । श्रीगुरुदेव ही मेरे एकमात्र बन्धु, आत्मीय और रक्षक हैं, इसे मैं उनकी कृपा से ही समझ पाया । श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का दर्शन करने के पश्चात् ही मेरी ऐसी बुद्धि हुई कि श्रीगुरुदेव की सेवा के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई कर्त्तव्य नहीं है । श्रीगुरुदेव भगवान के अति प्रिय सेवक हैं । जब भगवान के निज जन उन श्रीगुरुदेव ने मुझे अहंकार से बचाने के लिए कृपापूर्वक नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की सेवा की शिक्षा दी, तभी मैं जान पाया कि कृष्ण की इन्द्रियों को तृप्त करने के अतिरिक्त जीवों के लिए कोई अन्य कर्तव्य नहीं है नन्दनन्दन ही जीवों के एकमात्र उपास्य हैं । वे ही जीवों के जीवनस्वरूप, भूषण स्वरूप एवं सर्वस्व हैं । श्रीगुरुदेव नन्दनन्दन के अत्यन्त प्रिय हैं ।

ऐसे श्रीगुरुदेव की सेवा मेरे जैसा अयोग्य व्यक्ति तन, मन एवं वचन के द्वारा करने में असमर्थ है । परन्तु फिर भी दया एवं स्नेह के सागर श्रीगुरुदेव अपने गुणों द्वारा कृपापूर्वक मेरे हृदय में शक्ति सञ्चार करते हैं । वे मेरी ओर प्रीति पूर्वक दृष्टिपात करते हैं । ऐसी उनकी दया है ! यदि मैं किसी प्रकार

उनकी कृपा प्राप्त कर पाऊँ, यदि मेरी ऐसी सुबुद्धि हो जाय कि इस जगत में उनके अतिरिक्त मेरा अपना कोई नहीं है, तभी उनकी अहैतुकी हार्दिक कृपा के द्वारा ही उनकी सेवा करने की योग्यता प्राप्त हो सकती है । वे सेवा के द्वारा ही सन्तुष्ट होते हैं । जिस दिन वे अपने हृदय से कृपा करेंगे, जिस दिन वे मुझ पर सुप्रसन्न होंगे, उसी दिन मैं समझ पाऊँगा कि वास्तव में मेरा परम मंगल किसमें है । तभी मुझे गुरु एवं कृष्ण की सेवा से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं जान पड़ेगा । उस समय कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा । इसीलिए मैं श्रीगुरुचरणों में प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे ऐसी सामर्थ्य प्रदान करें कि मैं उनकी कृपा शक्ति ग्रहण कर सकूँ । श्रीगुरुदेव से मैं ऐसे मंगल की ही अभिलाषा करता हूँ । श्रीगुरुदेव की दया की तुलना नहीं हो सकती । औरों की तो बात ही क्या स्वयं ईश्वरों के भी ईश्वर श्रीकृष्ण उनके प्रेम के वशीभूत हैं । परन्तु मेरे जैसा दुर्भागा व्यक्ति ऐसे अपूर्व महिमा सम्पन्न श्रीगुरुदेव की महिमा नहीं जान पाता । परन्तु फिर भी उन्होंने मुझ पर जो दया की है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की सामर्थ्य भी मुझमें नहीं है । उनकी ऐसी अहैतुकी दया का मूल्य चुकाना मेरे लिए कदापि सम्भव नहीं है ।

112 **प्र०–निष्कपट गुरुसेवक की चित्तवृति कैसी होनी चाहिए ?**

उ०–निष्कपट शिष्य गुरु–देवात्मा होंगे । वे गुरु को देवता अर्थात् ईश्वर और आत्मा अर्थात् अपनी आत्मा के समान प्रिय जानेंगे । सर्वदा ही शिष्य के अन्दर यह अभिमान होगा कि श्रीगुरुदेव मेरे नित्य प्रभु हैं एवं मैं उनका नित्य सेवक हूँ । गुरु की सेवा ही उसका जीवन, भूषण एवं सत्ता होगी । वे गुरु के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानते । सोते समय, स्वप्न में, भोजन के समय, भजन के समय सदैव गुरु की ही चिन्ता करते रहते हैं, यही गुरु का आनुगत्य है । इसीलिए वे जानते हैं कि कृष्ण के परम प्रिय श्रीगुरुदेव ईश्वर वस्तु हैं– स्वतन्त्र वस्तु हैं । श्रीगुरुदेव मेरे जैसे अयोग्य व्यक्ति की सेवा ग्रहण करें या न करें परन्तु मैं निष्कपट रूप से तन, मन , वचन से उनकी ऐकान्तिकी सेवा करने के लिए तैयार रहूँगा । यदि वे मुझको ठोकर मारेंगे, तभी मैं अपनी अयोग्यता समझ पाऊँगा । किन्तु श्रीगुरुदेव सत्य हैं मुझे सावधान रहना चाहिए कि कहीं क्षणभंगुर विषयभोग मुझे एक क्षण के लिए भी श्रीगुरुदेव की सेवा से वास्तव सत्य श्रीगुरुदेव से विमुख न कर पायें । मेरी एकमात्र यही प्रार्थना है कि श्रीगुरुदेव कृपापूर्वक मेरी सेवा ग्रहण करें । वे ऐसी कृपा करें कि मेरा किसी प्रकार का भी

दुःसंग न हो और मैं उनकी सेवा से च्युत न होऊँ । यद्यपि मैं सर्वदा अयोग्य हूँ, परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे अयोग्य व्यक्तियों पर अधिक दया करते हैं । यही मेरा भरोसा है । मैं श्रीगुरुदेव की अहैतुकी दया प्राप्ति की आशा से उनकी सेवा अधिक से अधिक लोभयुक्त होऊँ ।

113 **प्र० – हरिनाम क्या वस्तु हैं ?**

उ० – हरिनाम जड़ पदार्थ नहीं है, और न ही कोई काल्पनिक वस्तु है । वह दृश्य – वस्तु नहीं है और न ही दृश्य जगत की कोई वस्तु हैं । हरिनाम भगवान का अवतार है, वे साक्षात् भगवान ही हैं । नाम ही हरि हैं, एवं हरि ही नाम हैं । हरिनाम अप्राकृत एवं परिपूर्ण वस्तु हैं । वे स्वयं सर्वशक्तिमान भगवान हैं । श्रीनाम can take initiative अप्राकृत नाम ही स्वयं नामी हैं । हरिनाम स्वतः प्रकाशित वस्तु हैं । अप्राकृत नाम ही स्वयं नामी हैं, अप्राकृत नाम ही रूपी, अप्राकृत नाम ही गुणी, अप्राकृत नाम ही परिकरवान एवं अप्राकृत नाम ही लीलामय है । अप्राकृत नाम ही रूप, गुण, परिकर वैशिष्ट्य एवं लीला भी है । नाम एवं नामी में कोई भेद नहीं है । अप्राकृत नाम शब्दब्रह्म हैं । जो नाम हैं, वही कृष्ण हैं । इस कलियुग में कृष्ण ही नाम के रूप में अवतरित हुए है । विभु – चेतन हरिनाम स्वयं बोल भी सकते हैं । जो हरिनाम करते हैं । , वे भी चेतन वस्तु हैं । वे बोल रहे हैं – हे हरिनाम ! मैं आपका दास हूँ, मैंने आपका आनुगत्य स्वीकार किया है ।

जो हरिनाम करते हैं, वे हरिनाम प्रभु के सेवक हैं । साक्षात् कृष्ण ही कृष्णनाम के रूप में जगत में आये हैं । इसीलिए हम पूर्ण रूप से हरिनाम का ही आश्रय ग्रहण करेंगे । इसके अतिरिक्त और किसी के पास नहीं जायेंगे ।

114 **प्र० – क्या आत्मकल्याण के लिए हरिनाम संकीर्तन के अतिरिक्त और कोई सरल, सहज एवं श्रेष्ठ उपाय नहीं हैं ?**

उ० – आत्मकल्याण के लिए हरिनाम को छोड़कर अन्य उपाय नहीं है । इस संसार में जिस व्यक्ति की किसी के धर्म – कर्म में रुचि नहीं है वही हरिनाम करते हैं । हरिनाम संकीर्तन ही एकमात्र उपाय है । इस हरिनाम को सिवा वैकुण्ठ जाने का अन्य कोई उपाय नहीं है । हरिनाम संकीर्तन ही एकमात्र लक्ष्य – कृष्णप्रेम को प्राप्त करने का उपाय है । हरिनाम – संकीर्तन के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है । नाम संकीर्तन के माध्यम से जो लक्ष्य (कृष्णप्रेम) प्राप्त होता हैं, उसके अतिरिक्त जीवों के लिए और कोई श्रेष्ठ

लक्ष्य हो ही नहीं सकता । इसीलिए शास्त्र कह रहे हैं–

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।।

अर्थात् इस कलियुग में आत्मकल्याण के लिए हरिनाम के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, नहीं है, नहीं है । इस श्लोक में हरिनाम को ही निश्चित उपाय बताने के लिए ही तीन बार 'नहीं है' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

कलौ तु नाममात्रेण पूज्यते भगवान हरिः ।

115 **प्र० – मनुष्य जीवन का क्या कर्तव्य है ?**

उ० – विचार दो प्रकार का होता है – श्रेयः पर (आत्मकल्याण सम्बन्धी विचार) एवं प्रेयः पर (जागतिक विषय सम्बन्धी विचार)। मनुष्य को श्रेयः के लिए ही चेष्टा करनी चाहिए । प्रेयः (जागतिक वस्तुएँ) तो अति सहजता से ही प्राप्त हो जाती हैं । परन्तु श्रेयः अर्थात् भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है । श्रीमद्भागवत में कहा गया है – अनेक जन्मोंके पश्चात् मनुष्य जन्म प्राप्त होता है । अतः यह अत्यन्त दुर्लभ है । यद्यपि यह मनुष्यजन्म अनित्य है, परन्तु इसके द्वारा भक्ति प्राप्त की जा सकती है । **अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग करके भगवान का आश्रय ग्रहणकर निष्कपट रूप से भजन करने पर एक जन्म में ही भगवान को प्राप्त किया जा सकता है ।** इसलिए मृत्यु आने से पूर्व ही एक क्षण भी विलम्ब किये बिना निरन्तर आत्मकल्याण के लिए चेष्टा परायण होना चाहिए । विषय – भोग तो सभी जन्मों में प्राप्त होंगे ही किन्तु भक्ति अन्य किसी जन्म में सम्भव नहीं है ।

हमारा कोई भी जन्म क्यों न हो, विषय – भोग तो प्रत्येक जन्म में मिलेंगे ही । मनुष्य – जन्म न होने पर भी अन्यान्य जन्मों में भी विषय भोग अवश्य ही मिलेंगे ।

मनुष्य – जन्म में केवल श्रेयः अर्थात् आत्मकल्याण हेतु ही चेष्टा करनी चाहिए । प्रेयः अर्थात् जागतिक विषय भोगों के लिए पशु भी चेष्टा करते ही हैं । मनुष्य की यही विशेषता है कि वह भगवान की कथाओं को सुन सकता है, उसका आचरण एवं आलोचना भी कर सकता है । किन्तु पशु परस्पर आलोचना नहीं कर सकते । अतः श्रेयः केवल मनुष्य जन्म में ही प्राप्त किया जा सकता है । मनुष्य जन्म प्राप्त कर भी यदि आत्मकल्याण के सम्बन्ध में विचार न किया जाय, तो निम्न श्रेणी के पशु – पक्षियों के साथ मनुष्यजन्म की समानता हो जाती

है । किन्तु हमारे पास विवेक है । देवजन्म प्राप्त होने पर भी हम भोगों में ही उन्मत्त हो जायेंगे हमारा अच्छे-बुरे का विचार ढक जायेगा । इस जगत में सुख और दुःख दोनों ही प्राप्त होते हैं । देवजन्म में प्राकृत सुख ही अधिक प्राप्त होते हैं, किन्तु प्राकृत होने के कारण वे सुख भी नित्य स्थायी नहीं होते-**"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"** अर्थात् पुण्य समाप्त होने पर जीव को स्वर्गलोक से इस मृत्युलोक में आना पड़ता है । यद्यपि हमें यह मनुष्य जीवन बहुत ही कष्ट से प्राप्त होता है । परन्तु ऐसा दुर्लभ जन्म प्राप्त करके भी हमें इस जगत में ही अनेक प्रकार के कार्य दिखाई देते हैं और उन कर्तव्यों को पूरा करते-करते सारा जीवन ही नष्ट हो जाता है । इस जगत में आकर हम मालिक बन जाते हैं और भगवान की सेवा न कर दूसरों से सेवा ग्रहण करते हैं । विभिन्न प्रकार की कामनाओं के वशीभूत होकर विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं की सेवा करने में लग जाते हैं ।

जीव, धर्म के लिए सूर्य, अर्थ के लिए गणेश, काम के लिए शक्ति एवं मोक्ष हेतु शिव की आराधना करता है । परन्तु वास्तव में यह पूजा नहीं है । बल्कि अपने आराध्य को अपनी कामनाओं की पूर्ति करने वाला सेवक मानना हो जाता है । सेवा किसे कहते हैं ? यह जानना अत्यन्त आवश्यक है । केवल अपने आराध्य को आनन्द प्रदान करने का नाम ही सेवा है । श्रीहरि ही सबके मूल (fountain head) हैं । हम सभी उनके दास हैं । उनकी सेवा करने से ही सभी की सेवा करना हो जाता है-"यथा तरोर्मूल निषेचनेन" (भागवत) यह श्लोक ही इसका प्रमाण है । यह श्लोक बतलाता है-जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में जल देने से वृक्ष की शाखाएँ, पत्ते इत्यादि हरे-भरे हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान की सेवा करने से सभी सन्तुष्ट हो जाते हैं । जो वास्तव में हमारा कल्याण कर सकते हैं, उनके विषय में न जानने के कारण ही हमारे मार्ग में अनेक प्रकार की असुविधाएँ आ रही हैं । इन असुविधाओं या कष्टों से पार होने के लिए एक मात्र मनुष्य जीवन ही उपयुक्त है । यदि हम थोड़ा धैर्य धारणकर साधुओं के मुख से भगवान की कथाओं का श्रवण करें, तो इस जगत के रूप, रस, गन्ध स्पर्श, शब्द के द्वारा, मछुआरे की बंड़शी में लगे काँटे के प्रति आकृष्ट मछली की भाँति आकर्षित नहीं होंगे । तब हम भगवान के नित्य आकर्षण द्वारा आकृष्ट होंगे । जो सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करने में ही लगे हुए हैं, वे भगवान की सेवा को कभी नहीं समझ सकते । किन्तु भगवान की कथाओं की ही

आलोचना करनी चाहिए, परन्तु वह आलोचना कैसे होगी ?–साधुसंग के प्रभाव से ।

साधु का संग अवश्य करना चाहिए । सांसारिक लोगों का संग करने से हम अनेक प्रकार की विपत्तियों में पड़ जाएंगे । यदि हम सचमुच में ही साधुओं का संग करें, तो हमें भगवान की शक्ति का अनुभव अवश्य होगा। साधुसंग का अभाव होते ही माया हमें अनेक प्रकार का कष्ट देगी ।

यदि हम भगवान के शरणापन्न हो जायें, तभी हमारा जड़ अहंकार दूर हो सकता है । इसके अतिरिक्त जड़ अहंकार से मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है । भगवान ही एकमात्र पूर्णवस्तु एवं जीवों के एकमात्र उपास्य या आश्रय हैं यदि उनकी सेवा प्राप्त करनी हो, तो उसका उपाय यही है कि उनके विषय में जानकारी प्रदान करने वाले भगवान के प्रकाशविग्रह श्रीगुरुदेव के चरणों का ही आश्रय ग्रहण करना होगा । श्रीगुरुदेव से ही अप्राकृत शब्द–ब्रह्म वैकुण्ठ नाम (हरिनाम) प्राप्त होता है । उस नाम के आभास से ही संसार से मुक्ति हो जाती है । भगवान का नाम ग्रहण करनेवाले को पुनः मातृगर्भ में नहीं आना पड़ता । इस प्रकार आत्मकल्याण–जनक बातें एक बार सुनने से समझ में न आयें तो पुनः–पुनः सुननी चाहिए । जो शब्द–ब्रह्म एवं श्रुति–वेद इत्यादि का आश्रय ग्रहण नहीं करता, उसे पुनः इस संसार में आना पड़ता है ।

जो भगवान का दर्शन करा सकते हैं, जो स्वयं चौबीस घन्टे भगवान की सेवा में नियुक्त रहते हैं, उनसे ही भगवान की कथाओं को सुनना चाहिए । मठ–मन्दिर भगवान का सेवागार है अथवा शिक्षागार है । भगवान के भक्त भक्तिरूपी नेत्रों के द्वारा श्यामसुन्दर–कृष्ण का अपने हृदय में दर्शन करते हैं, ऐसे वैष्णवों की कृपा होने पर हम भी भगवान के दर्शन अपने हृदय में कर सकते हैं । इन जड़ नेत्रों के द्वारा भगवान का दर्शन करने की चेष्टा करने पर वे इस जड़ जगत की ही कोई वस्तु दिखाई पड़ेंगे । यदि इन सांसारिक विषयों में ही हम मुग्ध हो जायें तो कदापि भगवान को नहीं जान सकते । अतः हमें बिल्कुल भी समय नष्ट न कर सम्पूर्ण रूप से समस्त सुखों के आधार स्वरूप भगवान का ही स्मरण एवं उनका ही अनुशीलन करना चाहिए । इसके फलस्वरूप भगवान के दर्शन में आने वाली बाधाएँ जैसे अनर्थ, अपराध इत्यादि दूर हो जाते हैं । कृष्ण की आराधना के द्वारा ही हमारा परम मंगल होगा । जिस क्षण हम समझ जायेंगे कि भगवान ही मेरे प्रभु हैं । उसी क्षण हमारे समस्त

दुःख-कष्ट दूर हो जायेंगे, तथा हमारे लिए सुविधा हो जायेगी । भगवान की कथाओं का श्रवण एवं कीर्तन करने से ही वास्तविक कल्याण होगा । भगवान को भूलकर कर्त्ता अभिमान से जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, उनसे अमंगल ही होता है । वर्तमान समय में हम अपने स्वरूप अर्थात् भगवत् दासत्व से पतित हो गए है तथा हमारा सम्बन्ध जड़ जगत से हो गया है । अतः हमें भगवान के साथ सम्बन्ध जोड़कर अपने नित्यस्वभाव भगवान की सेवा को प्रकट करना होगा । हम सदैव के लिए इस जगत में नहीं रह सकते, जो भगवान की सेवा प्राप्त करना चाहते हैं, उनके हृदय में जागतिक किसी भी वस्तु की कामना नहीं रहती । वे अकिञ्चन होते हैं । जगत के कल्याण के लिए एवं स्वयं अपने कल्याण के लिए भी निष्किञ्चन होकर भगवान की सेवा करनी चाहिए ।

116 **प्र०–किसके मुख से हरिकथा सुननी चाहिए ?**

उ०-श्रीगुरुदेव के मुखकमल से ही भगवान की कथाएँ सुननी चाहिए और भगवान की प्रसन्नता के लिए श्रद्धालु एवं सुनने के इच्छुक लोगों को वे कथाएँ सुनानी भी चाहिए । परन्तु अश्रद्धालु को कदापि हरिकथाएँ नहीं सुनानी चाहिए ।

गुरु से श्रवण करना चाहिए-पाषण्डी से नहीं । यदि भूल से किसी ने एक अवैष्णव को गुरु बना लिया हो, तो ज्ञान होने पर उसका परित्यागकर पुनः किसी वैष्णव गुरु की कृपा प्राप्त करनी चाहिए ।

117 **प्र०–भगवान को प्राप्त करने का उपाय क्या है ?**

उ०-भगवान की सेवा ही जीव का नित्य धर्म है । भगवान की सेवा त्यागकर जीव इस संसार में जिन वस्तुओं के पीछे भाग रहा है, वे सभी वस्तुएँ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के अधीन हैं । अतः असत् वस्तु में सत्य बुद्धि तथा अनित्य वस्तुओं में नित्य बुद्धि के कारण ही जीव को इस अनित्य संसार में सुख के स्थान पर दुःख ही दुःख प्राप्त होते हैं । परन्तु जब मनुष्य का विवेक जागृत हो जाता है, जागतिक वस्तुओं का परिणाम देखकर या सुनकर वह चतुर हो जाता है, तब वह साधुओं का संग करता है, और संग के प्रभाव से अशोक, अभय एवं अमृत के आधारस्वरूप श्रीभगवान की सेवा में अपने जीवन को लगा देता है । श्रीराधागोविन्द की सेवा ही जीवों का चरम साध्य है । श्रीराधागोविन्द की उस सेवाश्री को प्रदान करने के लिए ही स्वयं श्रीराधागोविन्द-मिलित-तनु श्रीगौरसुन्दर इस प्रपञ्च जगत में अवतीर्ण हुए थे । केवल श्रीहरिनाम के आश्रय

द्वारा ही वह कृपा प्राप्त होतीहैं । इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ।

118 **प्र०–क्या शरणागत व्यक्ति का मंगल अवश्य ही होता है ?**

उ०–अवश्य ही होगा । जिस क्षण हम शरणागत होंगे उसी क्षण मंगल हमारे हाथ में आ जाएगा । मूल मालिक पर निर्भर रहने से ही मंगल होता है । हम जब तक भगवान के शरणागत नहीं हो जाते, तब तक समझना चाहिए कि हमने अपने अमंगल को ही आलिगंन किया हुआ है ।

कृष्ण हमें इस जगत में क्लेश प्रदान करने के लिए नहीं लाये हैं । हमने अपनी स्वतन्त्रता का गलत उपयोग कर स्वयं कर्त्ताभिमान के द्वारा अपने लिए अमंगल एवं क्लेशों को वरण कर लिया है । भगवान की मंगलमयी वाणी में श्रद्धा होने पर हमारा कर्त्ता अभिमान सदैव के लिए दूर हो जाएगा । उस समय हम कर्मवीर बनने के लिए लालायित नहीं होंगे, बल्कि उनकी वाणी श्रवण करने के लिए उनके श्रीचरणों में शरणागत हो जाएंगे ।

119 **प्र०–शरणागत का क्या लक्षण है ?**

उ०–कर्त्तापन का त्याग करना ही शरणागति का लक्षण है । कर्त्तापन का परित्याग करके कृष्ण को ही अपने पालक के रूप में ग्रहण करना शरणागति का स्वरूप लक्षण है (अर्थात् मैं अपना पालन-पोषण एवं रक्षा स्वयं ही करता हूँ, ऐसा अभिमान त्यागकर कृष्ण ही मेरे एकमात्र पालक एवं रक्षक हैं ऐसा विश्वास ही शरणागत का लक्षण है ।) किसी पर आश्रित व्यक्ति को अपने कर्त्तृत्व (अर्थात् अपने पालन-पोषण इत्यादि की चेष्टा) की आवश्यकता नहीं रहती । यदि हमारे हृदय में ऐसा विचार आ जाए कि मैं वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाजी का पाल्य हो जाऊँ, तो किसी प्रकार का तुच्छ जागतिक अभिमान हमारे हृदय पर अपना अधिकार नहीं जमा सकता । मैं केवल कृष्ण पर ही आश्रित हूँ, यदि ऐसा अभिमान हमारे हृदय में नहीं आया तो समझना चाहिए कि अभी शरणागति नही हुई है । जिसके फलस्वरूप कर्त्ता अभिमान, पिता (पालक) अभिमान रहना स्वाभाविक है ।

120 **प्र०–क्या देवजन्म की अपेक्षा मनुष्य जन्म श्रेष्ठ है ?**

उ०–अवश्य ही । देवजन्म से मनुष्य जन्म ही श्रेष्ठ है । इसीलिए देवता भी मनुष्य जन्म प्राप्त करने की आकांक्षा करते हैं । देवता स्वर्ग के भोगों में इतने प्रमत्त रहते हैं, कि उन्हें यह विचार करने का समय ही नहीं है कि भविष्य में उनके भोग के लिए दुःखों का भण्डार भी भरा हुआ है । वे थोड़े समय

के लिए प्राप्त सुख के नशे में ही डूबे रहते हैं । देवता तो वे कुछ समय के लिए ही हैं, कुछ समय पश्चात् पुण्यों के क्षय होने पर उन्हें पुनः इस मर्त्य जगत में आना पड़ता है–"**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।**"

अन्यान्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य को भविष्य की चिन्ता अधिक रहती है । मनुष्यों की अपेक्षा देवता अधिक सुख और स्वतन्त्रतापूर्वक रहते हैं, वे अधिक दिनों तक भोग कर सकते हैं, किन्तु उन देवताओं को अन्त में असुविधा की प्राप्ति होती है । देवता जन्म, ऐश्वर्य, सौन्दर्य एवं विद्या इत्यादि चार प्रकार के मदों से घिरे रहते हैं, तथा उनको ही बढ़ाने के लिए वे चेष्टारत रहते हैं । हम लोग देवताओं को इसलिए बड़ा मानते हैं, क्योंकि उनके पास मनुष्य की तुलना में अधिक भोग सामग्रियाँ हैं । परन्तु उनके पास मनुष्य जन्म में एक विशेष लाभ यह है कि वे देवताओं की भाँति भोगों में न डूबे होने के कारण अपने आत्मकल्याण की चिन्ता कर सकते हैं । मनुष्य भी यदि देवताओं का अनुकरण करते हुए जन्म, ऐश्वर्य, इत्यादि के मद में डूबा रहे, तो वह भी अपने कल्याण की चिन्ता नहीं कर सकता । देवताओं की तुलना में मनुष्यों को भगवान का भजन एवं साधुओं का संग करने का अधिक सुयोग प्राप्त है। इसलिए देव-जन्म से मनुष्य-जन्म श्रेष्ठ है ।

मनुष्य जीवन में क्षण-क्षण में प्राप्त होने वाले कष्ट हमें जागतिक वस्तुओं एवं जागतिक क्षण भंगुरता का अनुभव कराते रहते हैं । किन्तु स्वर्ग सुख के कुछ दिव्य होने के कारण देवताओं को जगत की क्षण भंगुरता का अनुभव नहीं हो पाता । अतः ऐसा मनुष्य जन्म प्राप्त करने के कारण हमारे पास समय है कि हम अपना आत्म कल्याण कर लें । इस मनुष्य जन्म में ही हम जान सकते हैं कि किसमें हमारा मंगल है, किसमें अमंगल ।

121 **प्र० – हमारा सर्वश्रेष्ठ उपकारी बन्धु कौन है ?**

उ० – जो हरिनाम के द्वारा जीव को आकर्षण करते हैं, उनके समान वास्तविक बन्धु एवं उपकारी जगत में कोई नहीं है । यदि कर्ण जैसे करोड़ों दाता भी मिलकर दान करें, तो भी उनका दान हरिनाम का प्रचार करने वाले वैष्णवों की दयालुता के सामने बहुत ही सामान्य एवं तिरस्कृत है ।

122 **प्र० – कृपा या शक्ति कैसे प्राप्त होती है ?**

उ० – ऐकान्तिकरूप से श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने पर ही गुरु की कृपा से जीव के हृदय में कृष्ण की शक्ति सञ्चरित होती

है । वही कृपाशक्ति सेवा के द्वारा पुष्ट होकर क्रमशः अनर्थों को ध्वंस करती रहती है । किन्तु सेवा बन्दकर देने पर या सेवा के प्रति उदासीन होने पर पुनः अनर्थ बढ़ने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप कृष्ण की शक्ति क्रमशः दूर होने लगती है । जैसे किसी बीज को भूमि में रोपणकर अच्छी प्रकार से जल से सिंचाई करने पर उससे अंकुर फूटता है । जब तक वह अंकुर मजबूत होकर वृक्ष नहीं बन जाता, तब तक उसकी बाहरी किसी भी प्रकार के आक्रमण से रक्षा की आवश्यकता होती हैं, उसी प्रकार गुरुदेव से प्राप्त कृष्णशक्ति को भजन के द्वारा क्रमशः बढ़ाने की आवश्यकता होती है ।

123 **प्र० – भक्ति एवं अभक्ति किसे कहते हैं ?**

उ० - इन्द्रियज्ञान को त्याग न करने का नाम ही अभक्ति है । यह तीन - तीन धाराओं में प्रवाहित होती है – अन्याभिलाष, कर्म एवं ज्ञान । अपनी सुविधा एवं दूसरे की सुविधा (इन्द्रियतर्पण) करने का नाम कर्म है । सुविधा भी नहीं करूँगा तथा असुविधा भी नहीं करूँगा, निरपेक्ष रहूँगा, इसी का नाम ज्ञान है । इन्द्रियज्ञान तथा निर्विशेष ज्ञान, दोनों का परित्यागकर अधोक्षज वस्तु श्रीहरि का इन्द्रियतोषण ही भक्ति है । जब तक भोग एवं मोक्ष के हाथ से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक भक्ति की भूमिका भी आरम्भ नहीं हो सकती ।

124 **प्र० – दुर्बलचित्त एवं अपराधी में क्या भेद है ?**

उ० - दुर्बलचित्त एवं अपराधी एक ही श्रेणी में नहीं आते । यद्यपि चित्त की दुर्बलता ही कुछ समय पश्चात् अपराध में बदल सकती है, तथापि हृदय की दुर्बलता की अवस्था में कामनारूप पाप एवं अपराधों के प्रति घृणा रहती है । परन्तु दुर्बलचित्त व्यक्ति पाप एवं अपराध को अत्यन्त अन्यायपूर्ण जानकर भी उसको परित्याग करने में असमर्थ होता है, जबकि अपराधी व्यक्ति इन सबको हानिकारक या अन्यायपूर्ण मानता ही नहीं है । वह सोचता है कि वह जो कुछ करता है या जो समझता है वही ठीक है, बल्कि साधुओं से ही समझने में भूल हुई है ।

यदि दुर्बलचित्त व्यक्ति कामनाओं को आदर एवं रुचिपूर्वक ग्रहण नहीं करके उनसे घृणा करते - करते उनका परित्याग कर देते हैं, तो समझना चाहिए कि उन पर कृष्ण की कृपा हो रही है । नहीं तो कृष्ण की कृपा से वञ्चित होना पड़ेगा ।

125 **प्र० – हरिजन किसे कहते हैं ?**

उ०–आजकल हरिजन शब्द का अपव्यवहार हो रहा है । वास्तव में जो अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, ऐसे अप्राकृत भगवान के भक्त ही हरिजन हैं । वे किसी भी कुल में जन्म ग्रहण क्यों न करें अथवा उनका अपना किसी भी प्रकार का बाह्य परिचय क्यों न हो, यदि वे सद्गुरु के श्रीचरणों का आश्रय ग्रहण कर हरिभजन करते हैं, तो वे ही हरिजन हैं । हरि की सेवा के अतिरिक्त वे किसी भी प्रकार की कामना के वशीभूत होकर कोई कार्य नहीं करते । जो अवैष्णव हैं, जिनको अपने स्वरूप के विषय में ज्ञान नहीं हुआ है, उन्हें हरिजन कहना अनुचित एवं शास्त्रविरुद्ध है । यद्यपि स्वरूपतः सभी नित्य हरिजन हैं, किन्तु मायाबद्ध अवस्था में उनका ऐसा परिचय प्रकट नहीं है । यदि उनका स्वरूप प्रकट हो जाए और वे हरिसेवा करें, तो उन्हें हरिजन कहने में कोई आपत्ति नहीं है । जिस प्रकार धान के भीतर चावल रहता है किन्तु धान चावल नहीं होता, धान का छिलका दूर होने पर ही उसे चावल कहते हैं । उसी प्रकार जीवमात्र ही हरिदास या हरिजन है, यह सत्य है, किन्तु जीव जब हरिसेवा में नियुक्त हो जाता है, तभी हरिजन कहलाने योग्य है, उससे पहले नहीं ।

126 **प्र०–कुछ लोग कहते हैं कि सभी एक समान हैं, क्या यह ठीक है ?**

उ०–सत् और असत्, भक्त और अभक्त, पापी और पुण्यवान, शिक्षित और अशिक्षित, देवता और भगवान, सती और असती, धर्म और अधर्म, प्रकाश और अन्धकार, आत्मधर्म और अनात्मधर्म तथा भक्ति और अभक्ति–ये सब एक समान कैसे हो सकते हैं ? जिन्हें आन्तरिक वस्तु का ज्ञान नहीं है, जिन्होंने वस्तु के तत्त्व सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों में प्रवेश नहीं किया है, उनके लिए सब कुछ ठीक है । एक अज्ञ बालक कह सकता है कि उसने जो कुछ टेढ़ी–मेढ़ी रेखाएँ खीचीं हैं, उनका अर्थ क्यों नहीं होगा ? यदि ज्ञानी व्यक्ति के लिखे हुए का अर्थ हो सकता है, तो उसके द्वारा लिखे हुए का अर्थ भी अवश्य होना चाहिए । अज्ञ बालक के द्वारा लिखे हुए निरर्थक एवं विज्ञ व्यक्ति द्वारा लिखे हुए अर्थ सूचक शब्दों में भेद दिखाने वाले पर मूर्ख व्यक्ति, साम्प्रदायिकता तथा पक्षपात का आरोप लगाते हैं । जिन्हें भगवान के विषय में हरिकथा या वास्तविक सिद्धान्तों के विषय में आन्तरिक ज्ञान नहीं है, ऐसे अतत्त्वज्ञ व्यक्तियों को यदि वास्तविक तथ्य बताया जाता है तो वे कहेंगे–वास्तविक सिद्धान्त बताना ही साम्प्रदायिकता है और असत् सिद्धान्त का खण्डन करना ही

निन्दा है । उनका कहना है कि जब हम कुछ भी नहीं जानते, तो सबको समान मानना ही उचित है । इससे सब हमारे ऊपर प्रसन्न रहेंगे और किसी के साथ हमारा मन-मुटाव भी नहीं रहेगा । किन्तु सत्य और असत्य और भक्ति और अभक्ति कभी एक समान नहीं हो सकते । जिनमें भक्ति नहीं है, जो भगवान की सेवा की आवश्यकता नहीं समझते, जो अपना यथार्थ आत्मकल्याण नहीं चाहते, जो विषय भोग एवं प्रतिष्ठा के लिए ही लालायित रहते हैं, ऐसे लोगो के लिए ही भक्ति एवं अभक्ति समान होती है ।

127 **प्र०–शुद्धभक्त गुरु को कैसे देखेंगे ?**

उ०-साधारण लोग गुरु को एक रूप में देखते हैं और अन्तरंग भक्त अन्य रूप में देखते हैं । अन्तरंग या शुद्धभक्त गुरु को अपना परम आत्मीय, कृष्ण का परमप्रिय, प्रीति के एकमात्र आधार, नित्यसेव्य, अपना जीवनस्वरूप एवं सर्वस्व मानते हैं । श्रीगुरुदेव कृष्ण के परमप्रिय तथा उनसे अभिन्न हैं । श्रीगुरुदेव का दास हुए बिना कृष्ण का दास बनने की लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है । जो गुरु के दास्य या उनकी सेवा में नियुक्त रहते हैं, वे ही शुद्धभक्त या वैष्णव हैं ।

पापयुक्त नेत्रों से गुरुदेव का दर्शन नहीं होता है । मनुष्य दर्शन-गुरु-दर्शन नहीं है, अर्थात् गुरु को मनुष्य रूप में देखना, उससे नरक जाना पड़ता है । गुरु लघु नहीं हैं, या मनुष्य नहीं हैं । वे तो ईश्वर हैं अर्थात् भगवान के निजजन हैं । वे महापुरुष, महाजन, नामाचार्य-कृष्ण प्रेष्ठप्रिय हैं ।

128 **प्र०–हमारे विघ्ननाश और अभीष्ट पूर्ण क्यों नहीं हो रहे हैं ?**

उ०-भगवान से अभिन्न श्रीगुरुदेव के प्रति हमारी मर्त्यबुद्धि और उससे उत्पन्न दोषदृष्टि दूर नहीं हुई है । इसलिए हम उनके श्रीचरणों में निष्कपट रूप से आत्मसमर्पण नहीं कर पा रहे हैं । वेदवाक्य, भगवान के वाक्य एवं गीता के वचनों का उल्लंघन अर्थात् उनपर विश्वास न कर गुरु के प्रति मनुष्य बुद्धि, वैष्णवों के प्रति जाति बुद्धि तथा भगवान के विग्रह के प्रति पत्थर, लकड़ी, मिट्टी आदि की बुद्धि करने के कारण ही हमारी ऐसी दुर्गति हो रही है ।

129 **प्र०–जीव का क्या कर्त्तव्य है ?**

उ०-व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही कामदेव हैं अर्थात् सभी के एकमात्र नित्य सेव्य हैं । उनकी सेवा ही जीव का नित्य धर्म या कर्त्तव्य है । भगवान की सेवा को भूल कर जीव कभी 'मैं खुदा हूँ' की बुद्धि से 'अहं ब्रह्मास्मि' की

भ्रान्त धारणा करके निर्विशेष-ज्ञानी होता है, कभी भोगी होकर वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने में व्यस्त हो पड़ता है और कभी स्त्री मनोरंजन करना ही उसका प्रधान कर्म हो जाता है। इसीलिए कहते हैं,-हे जीवगण ! आप दम्भ, स्त्रीपूजा और स्त्रैण-भाव (स्त्रीरत) का परित्याग करो । श्रीमती राधारानी के दास्य और श्रीरूपमञ्जरी के कैंकर्य में आत्मनियोग करो । व्रजगोपियों के आनुगत्य में प्रतिक्षण कृष्णसेवा में नियुक्त हो जाओ ।

130 **प्र०-श्रीनाम करते समय जगत की चिन्ता क्यों आती है ?**

उ०-गुरुदेव के आनुगत्य में श्रीकृष्णनाम ग्रहण करने से मंगल होता है । श्रीनाम करते समय जागतिक चिन्ता उदय होती है, इस कारण से श्रीनाम-ग्रहण करने में शिथिलता न करें । श्रीनाम ग्रहण करते-करते क्रमशः यह समस्त वृथा चिन्ता दूर हो जाएगी । जागतिक चिन्ता को दूर करने में ही व्यस्त नहीं होवे क्योंकि श्रीनाम ग्रहण से पहले उसका फल मिलने की सम्भावना नहीं है (अर्थात् श्रीनाम ग्रहण किए बिना जागतिक चिन्ता दूर होने की सम्भावना नहीं है) कृष्णनाम में अत्यन्त प्रीति उदित होने से जागतिक चिन्ता के प्रति लोभ कम हो जाएगा । कृष्णनाम में अत्यन्त आग्रह न होने से जागतिक चिन्ता किस प्रकार दूर होगी ? काय-मन-वाक्य से श्रीनाम की सेवा करने से ही श्रीनामी अपना परममंगल-स्वरूप प्रदर्शन करेंगे ।

131 **प्र०-किस प्रकार सहज में ही भगवान को पाया जा सकता है?**

उ०-जो भगवान की सेवा करते हैं, ऐसे भक्तों के संग से ही भगवान की भक्ति प्राप्त होती है । भक्तों ने भगवान की सेवा को ही अपने जीवन का सार बना लिया है । उन्होंने भगवान के नाम-रूप-गुण-लीला और उनकी कथाओं को ही अपना जीवन सर्वस्व बना लिया है । इसीलिए वे सदैव उन विषयों की आलोचना करते रहते हैं । जो केवल भगवान के सुख के लिए ही उनकी सेवा करते हैं, उनका संग करने पर ही मंगल होगा । भक्त लोग अपने सुख के लिए भगवान की सेवा का ढोंग नहीं करते । वे इहकालिक सुख (जीवित अवस्था में जागतिक सुख) एवं परकालिक सुख (मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग आदि लोकों का सुख), शरीर एवं गृह सम्बन्धी सुख, यहाँ तक कि वे मुक्ति भी नहीं चाहते । वे सदैव ही अपने हृदय रूपी भवन में भावपूर्वक भगवान की सेवा करते रहते हैं । उनकी वह सेवा प्रवृत्ति किसी बाधा को नहीं मानती

(अर्थात् बड़ी से बड़ी बाधा उपस्थित होने पर भी ऐसे भक्त विचलित नहीं होते, उनकी भगवान की सेवा सुचारू रूप में चलती रहती है) । भक्तों की सदैव ही भगवान और उनके भक्तों से प्रीति रहती है । अपने शरीर, स्त्री-पुत्र, कन्या, घर तथा घर में रहने वाले आत्मीय स्वजन या बन्धु-बान्धवों से उनकी प्रीति नहीं होती । भक्त केवल भगवान के ही शरणागत होते हैं । भक्तों ने भगवान को ही अपने जीवन का सार बना लिया है । यद्यपि भगवान सार वस्तु के भी सार हैं, परन्तु अपने ऐसे प्रेमी भक्तों के प्रेम मे बंधकर उन्होंने भी उन्हें अपना सार बना लिया है । ग्रन्थ भागवत और भक्त भागवत की सेवा द्वारा ही सहज रूप में भगवान को पाया जा सकता है । श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

नष्ट प्रायेष्वभदेषु नित्यं भागवत सेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ।।

(नित्य प्रति भागवत की सेवा अर्थात् भागवत का श्रवण एवं कीर्त्तन करने से समस्त प्रकार के अनर्थ नष्ट हो जाते हैं और उत्तम श्लोक भगवान में नैष्ठिकी भक्ति उदित हो जाती हैं ।)

132 **प्र०-श्रीमन्दिर के निर्माण में अर्थदान (धनदान) क्या मंगल कर है ?**

उ०-बहुत धन खर्च करके अपने भोग-विलास के लिए घर बनाने की अपेक्षा उस धन के द्वारा भगवान की सेवा, गुरु-वैष्णवों की सेवा या भगवान का मन्दिर बनाने का सुविचार या सुबुद्धि कितनी प्रशंसनीय एवं महामंगलकर है, इसका वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता ।

133 **प्र०-श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी प्रभु कौन हैं ?**

उ०-यद्यपि श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास थे, परन्तु उनका प्रबल अभिमान था, वे श्रीरूपानुग हैं, स्वरूप दामोदर एवं श्रीरूप गोस्वामी के दास हैं, वे स्वरूप के रघु हैं, महाप्रभु के सेवक के सेवक हैं । स्वरूप-रूप के परमप्रिय हैं । श्रीरघुनाथ श्रीराधागोविन्द के अतिप्रिय सेवक हैं । श्रीरूप-मञ्जरी के आनुगत्य में वे श्रीराधागोविन्द की सेवा करते हैं । श्रीरघुनाथ दास का चैतन्य दास अभिमान रहने पर भी श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीरूप गोस्वामी का दास अभिमान अधिक प्रबल था । क्या श्रीवार्षभानवी (श्रीमती राधिका)जी की सेवा का वर्णन किसी ने ऐसे विस्तार रूप में किया है ?

134 **प्र०-गृहस्थ भक्त का विचार कैसा होना चाहिए ?**

उ०-गृहस्थ भक्त को याद रखना चाहिए कि जिस घर में वह रहता है, वह उसका नहीं, बल्कि कृष्ण का है। वह तो उस घर में एक पालतू कुत्ते की तरह ही है "भाल-मन्द नाहि जानि सेवामात्र करि। तोमार संसारे आमि विषय प्रहरी।" अर्थात् 'हे प्रभो! अच्छा-बुरा क्या है, मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो केवल सेवा करता हूँ। मैं तो आपके संसार में आपकी सम्पत्ति का प्रहरी मात्र हूँ।' श्रीकृष्ण को ही घर का मालिक जानकर सब प्रकार से उनकी सेवा करनी चाहिए। गृहव्रत लोगों की (जिन्होंने अपने घर को ही अपनी धुरी बना रखा है अर्थात् जो कुछ भी करते हैं अपने घर और पत्नी-पुत्र-कन्या आदि के लिए करते हैं।) श्रीभगवान एवं श्रीगुरु के प्रति पूज्य बुद्धि नहीं होती। वे श्रीगुरुदेव एवं श्रीविग्रह को अन्य जड़ वस्तुओं की भाँति सामान्य ही मानते हैं। जो गृहव्रत का त्यागकर अपना सर्वस्व कृष्ण की सेवा में अर्पण कर देते हैं, वे ही कृष्णनाम कर सकते हैं। गृह के प्रति आसक्ति छोड़े बिना, सर्वस्व कृष्ण की सेवा में अर्पण किये बिना तथा गुरु एवं कृष्ण का दास बने बिना कृष्णनाम नहीं हो सकता।

135 **प्र०-हमें श्रद्धा कहाँ करनी चाहिए ?**

उ०-हमें जगत में सब बातों को छोड़कर गुरुदेव की बातों पर ही पूर्णस्वरूप से विश्वास करना चाहिए। क्योंकि गुरु की कृपा के बिना अन्य किसी भी उपाय से हमारे अनर्थ दूर नहीं हो सकते एवं हमारा मंगल नहीं हो सकता। इसलिए हमें श्रीगुरुदेव को ही भगवान के पास जाने का एकमात्र उपाय या अपना एकमात्र नित्यबान्धव समझना होगा। श्रद्धा शब्द का अर्थ है-Full confidence in the words of Sri Gurudeb. We have got no reliance in the words of the so called gurus or religious reformers or pretenders. गुरु-वैष्णवों का संग करने से ही अमंगल दूर हो जाएंगे और शुद्धभक्ति प्राप्त होगी। इसलिए We should have implicit reliance in Sri Gurudeb on order to approach and serve the Absolute Person.

A sadhu is he who will relieve me from all puzzling doubts. A sadhu will give me the highest good. I should make friends with such a real Guru who is really wishing my highest good. If perchance we meet a

real Guru then we must be saved and must be able to reach our goal. He will always supply and enrich us with transcendental knowledge and service.

136 **प्र० – अनुसरण एवं अनुकरण में क्या वैशिष्ट्य है ?**

उ० – जिस प्रकार आनुगत्य एवं तोषामोद (चापलूसी) एक नहीं है, उसी प्रकार अनुसरण एवं अनुकरण भी एक नहीं है । अनेक लोग अनुकरण कार्य को अनुसरण मानकर भ्रमित होते हैं । यहाँ पर दो बातें हैं – अनुकरण व अनुसरण । नाटक मण्डली का नारद सज्जित होना अनुकरण है (अर्थात् किसी नाटक में नारदजी का वेष धारणकर उनके जैसा अभिनय करना, उनका अनुकरण है) परन्तु श्रीनारदजी के द्वारा प्रदर्शित एवं आचरित भक्तिपथ पर चलना उनका अनुसरण है । कृत्रिमरूप में नकल करने का नाम अनुकरण एवं महाजनों के द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना अनुसरण है ।

हम सोचते हैं कि हम अनुसरण कर रहे हैं, किन्तु वास्तव में हम महाजनों का अनुकरण ही कर रहे हैं, अनुसरण का तात्पर्य आचरण से है । अनुकरण (imitation) विकृत (मूलवस्तु का) प्रतिफलन मात्र है । अनुकरण एवं अनुसरण बाह्यरूप से एक समान दीखते हैं । जैसे मेकि सोना (chemical gold) एवं शुद्ध सोना बाहर से देखने पर एक जैसे दिखाई देते हैं । अनुकरण का दूसरा नाम ढोंग भी है । हमारे हृदय में विप्रलिप्सा नामक एक वृत्ति है, जिसके द्वारा हम दूसरों की वञ्चनाकर उनसे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ऐसा ढोंग या अनुकरण करते हैं । श्रौतपथ का मात्र अनुकरण करने से ही अनुसरण नहीं हो जाता । अनुकरण के द्वारा अनुसरण न होने के कारण उसका कोई मूल्य नहीं है ।

137 **प्र० – भगवान का नाम एवं भगवान की कथा तो वैकुण्ठ की वस्तु हैं । हम इस जगत में रहकर उन्हें कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?**

उ० – भगवान का नाम भगवान के राज्य (धाम) से कृपापूर्वक इस जगत में अवतीर्ण होते हैं । अर्चावतार (श्री विग्रह), श्रीनामावतार (भगवान का नाम) और श्रीगुरुदेवावतार (श्रीगुरुदेव) भगवान की कथाओं को वहनकर इस जगत में लाते हैं । ये तीनों ही अभिन्न हैं । श्रीअर्चावतार तथा श्रीनामावतार विषयजातीय भगवान हैं, और श्रीगुरुदेवावतार आश्रयजातीय भगवान हैं । अर्थात् श्रीगुरुदेव या आचार्य का आश्रय ग्रहणकर हम विषय – विग्रह कृष्ण को प्राप्त कर

सकते हैं । परन्तु यहाँ पर एक विशेष बात यह है कि श्रीमती राधिकाजी आश्रय जातीय विग्रह हैं । उनका नाम एवं उनका विग्रह भगवद् वस्तु हैं । भगवन्नाम एवं भगवान में कोई भेद नहीं है, किन्तु जड़वस्तु के नाम एवं जड़ वस्तु में भेद होता है ।

138 **प्र०–यीशुखीष्ट जगद्गुरु हैं । उनके उपदेश ही तो हमारे मंगल के लिए पर्याप्त हैं, तो फिर हमें महान्त गुरु की क्या आवश्यकता है ?**

उ०–हम जगद्गुरु एवं महान्त गुरु–दोनों को ही स्वीकार करते हैं । केवल जगद्गुरु–वाद को स्वीकार करने से, उसमें अनेक प्रकार के अनर्थ आ जाते हैं । महात्मा यीशु को जगद्गुरु स्वीकार कर यदि कोई वर्तमान समय में उनका अनुसरण करना चाहे एवं महान्त गुरु की अनावश्यकता समझे, तो वह खीष्ट के विचारों का कितना अनुसरण कर पाएगा, यह विषय विचारणीय है । महान्त गुरु परम्परा ही भगवान या जगद्गुरु आचार्यों की बातों को कृपापूर्वक हम तक पहुँचाते हैं । उसी प्रकार महान्त गुरु भगवान के श्रीचरण कमलों से निकलने वाली शुद्धभक्ति गंगा की धारा को हमारे पास तक लाकर हमारे हाथों एवं सिर पर प्रदान करते हैं । किन्तु यदि ऐसी गंगा की धारा नहीं होती, तो मेरे जैसा साधारण बलहीन एवं अर्थहीन व्यक्ति हिमालय पर चढ़कर उस जलधारा को स्पर्श नहीं कर पाता । इसके अतिरिक्त हिमालय से निकलने वाले स्रोत के अवरुद्ध हो जाने पर अनेक समय दूषित जलधारा को ही हिमालय की पवित्र जलधारा के रूप में स्वीकार करना पड़ता । महात्मा यीशु ने दो हजार वर्ष पूर्व जिन कथाओं का प्रचार किया, वे कथायें यदि गुरुपरम्परा के माध्यम से अभी तक प्रवाहित होकर किसी व्यक्ति विशेष तक न पहुँच पायें और केवल पुस्तकों एवं उपदेशों में से स्वयं ही उन्हें खोजना पड़े, तो हो सकता है कि महात्मा यीशु के द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों के विकृत स्वरूप को ही यहाँ तक कि उनमें विरुद्ध सिद्धान्तों को ही उनका अपना सिद्धान्त मानने की भ्रान्ति फैल सकती है ।

महान्तगुरु भी जगद्गुरु हैं । वे पूर्व जगद्गुरु के ही प्रकाश हैं । वे जगद्गुरु के ही विचारों को गुरु परम्परा के माध्यम से प्राप्तकर कृपापूर्वक हम तक पहुँचाते हैं । किसी भी प्रकार से वे वञ्चक नहीं हैं । वे मेरे तोषामदकारी नहीं हैं । वे मुझसे किसी भी प्रकार की जागतिक वस्तु नहीं चाहते । वे निरपेक्ष सत्य की बातों को ही वहन करते हैं ।

139 **प्र०–जीव तो तटस्था शक्ति है । अतः वह सेवा भी कर सकता है, तथा भोग भी । भोगबीज भी उसमें अव्यक्तरूप में रहता है । क्या सिद्धि के पश्चात् भी जीव के हृदय में वह भोगबीज या भोगवासना रहती है ?**

उ०–नहीं। शास्त्र कहते हैं–

जगत् डुबिल, जीवेर हैल बीजनाश । (चै . च . आ .७/२७)

भगवान की तटस्था नामक जीव शक्ति में कृष्णोन्मुखी चेष्टा के साथ ही कृष्ण विमुखता रूप भोगवासना बीज भी अव्यक्तरूप में रहता है । काल के प्रवाह से संसार–वृक्ष से वह वासना–बीज सिञ्चित होकर नाना प्रकार के भोगबन्धन के द्वारा बद्धजीव को रात–दिन तीन प्रकार के तापों (आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक) से क्लेश प्रदान कर रहा है ।

जिस प्रकार मिट्टी में बोये गये बीज के जल में डूबने पर उससे अंकुर निकलने की सम्भावना नहीं रहती है, उसी प्रकार भगवत् सेवासमूह की अतल वारि में कृष्ण सेवा के अतिरिक्त अन्यान्य भोगवासना बीज प्रेम की बाढ़ में डूबकर नष्ट हो जाता है तथा उससे वासना अंकुर के उद्‌गम की सम्भावना भी नहीं रहती ।

140 **प्र०–अर्थ का सद्व्यवहार कैसे होता है ?**

उ०–हमलोग सत्कर्मी या कुकर्मी नहीं हैं । हम अकैतव (निष्कपट) हरि भक्तों के पादुका वहनकारी हैं तथा 'कीर्तनीयः सदा हरिः मन्त्र में दीक्षित हैं । ग्रन्थों के प्रकाशन में, हरिकथा प्रचार में और हरि–गुरु एवं वैष्णवों की सेवा में अर्थ (धन) का प्रयोग करना ही अर्थ का सद्व्यवहार है । यह अक्षय फलप्रद है ।

141 **प्र०–क्या परनिन्दा ग्रहणीय (परित्यज्य) है ?**

उ०–दूसरों के स्वभाव या कर्मों की निन्दा तथा प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, भागवत में ऐसा कहा गया है । श्रीचैतन्य भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है–'परचर्चकेर गति नाहि कोन काले ।' (अर्थात् दूसरों की चर्चा करने वाले की कभी भी सद्‌गति नहीं हो सकती ।) परनिन्दा करने वाले को नरक की प्राप्ति होती है । दूसरे के स्वभाव की निन्दा न कर हमें स्वयं को शोधन करना होगा । श्रीगुरुदेव के द्वारा किया जाने वाला शासन या समालोचना जगत के मंगल के लिए होती है । हमारे लिए ऐसे हंगामा वाले कार्यों में न जाना ही

उचित है ।

142 **प्र० – क्या संसार में सुख है ?**

उ० – वास्तव में संसार में सुख है ही नहीं । संसार नाना प्रकार की अनहोनियों को घटाकर अशान्ति उत्पन्न कर देता है । उसमें अच्छा, बुरा या आंशिक पवित्रता रहने पर भी अनेक समय नाना प्रकार की अशान्ति उत्पन्न कर देता है । इसीलिए श्रीमद्भागवात में "तत्तेऽनुकम्पां" श्लोक प्रकाशित किया गया है । श्रीगोलोक धाम में इस संसार की जैसी यथेच्छाचारिता नहीं है । स्थान या कालविशेष से जो समस्त असुविधाएँ उपस्थित होती हैं, उन्हें सहन करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

143 **प्र० – कौन – कौन सी वस्तुएँ भजन में सहायक होती हैं ?**

उ० – भगवद् – विमुख प्रपञ्च जगत तो दुःखमय परीक्षा का स्थल है । सहिष्णुता, दीनता तथा दूसरों की प्रशंसा इत्यादि हरिभजन में परम सहायक हैं ।

144 **प्र० – भगवान के विषय की रक्षा करना भी क्या सेवा है ?**

उ० – हम सभी का मूल प्रयोजन भगवान एवं भक्तों की सेवा ही है । उनकी सेवा करने के लिए हमें साधारण विषयी – व्यक्ति की भाँति जिन समस्त कार्यों को करना पड़ता है, वे भजन के प्रतिकूल नहीं हैं, बल्कि वे कार्य ही भगवद् भजन के अनुकूल हैं । सांसारिक भोगों से विरक्त होने के लिए गृहस्थ अथवा संन्यास – दोनों के लिए ही कृष्णभजन करना अति आवश्यक है

145 **प्र० – वैष्णवों का क्या कर्तव्य है ?**

उ० – वैष्णवों के आचरण के विषय में श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है कि गृहस्थ वैष्णवों को धन सञ्चय तथा विरक्त वैष्णवों को भिक्षा के द्वारा अपने – अपने कार्यों को पूर्ण (जीवन निर्वाह) करते हुए भगवद् भजन अथवा कृष्णानुशीलन करना चाहिए । दोनों को ही भोजन एवं शरीर को ढकने के लिए भगवान की कृपा पर ही निर्भर रहनाचाहिए । इसलिए भगवान के ऊपर सभी को निर्भर रहना आवश्यक है । जिस प्रकार शरीर की रक्षा के लिए समस्त इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, किन्तु यदि कोई एक अंग उदासीनता प्रकाशित कर शरीर की रक्षा करना बन्द कर दे, तो अवश्य ही शरीर कम या अधिक क्षतिग्रस्त हो जाएगा – इसे जानकर अपना मंगल चाहने वाले सभी लोगों को गुरु एवं वैष्णवों की सेवा, जीवों के प्रति दया एवं कृष्णनाम कीर्तन करना चाहिए ।

146 **प्र० – क्या हरिनाम एवं श्रीहरि एक ही वस्तु हैं ?**

उ० – श्रीहरिनाम एवं भगवान श्रीहरि दोनों पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, एक ही वस्तु हैं । श्रीनाम एवं नामी अभिन्न हैं । श्रीनामप्रभु की कृपा से रूप, गुण, परिकर वैशिष्टय और लीलाएँ नाम में ही प्रस्फुटित हो जाती हैं तथा जीव को मायिक जगत की अनुभूति से अलग कर देती हैं । उस समय जड़बद्ध जीव की भगवान के अतिरिक्त अन्यान्य चिन्ताएँ एवं मन की चञ्चलता दूर हो जाती हैं । जैसे नाम की कृपा हो, श्रीनाम के निकट वैसी ही प्रार्थना करनी चाहिए । अष्टकालीय लीलाओं का स्मरण इत्यादि अनर्थयुक्त अवस्था में करणीय नहीं है । कीर्तन के द्वारा ही श्रवण होता है एवं स्मरण का भी सुयोग प्राप्त होता है, ऐसी अवस्था में ही अष्टकालीन सेवा की अनुभूति सम्भव है । कृत्रिमरूप से अष्टकालीन लीलाओं का स्मरण नहीं करना चाहिए ।

147 **प्र० – क्या भक्तमात्र ही पूजनीय है ? भक्तों का रक्षक कौन है ?**

उ० – धनहीन भक्तों पर यदि कोई धनी या सम्भ्रान्त व्यक्ति अत्याचार करता है, तो श्रीनृसिंहदेव उसकी रक्षा करते हैं । सामाजिक उच्च या नीच जातियों में से जो व्यक्ति भगवद् भक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही हमारे पारमार्थिक सम्मान एवं पूजा के उचित पात्र हैं । वैष्णवों के प्रति जातिबुद्धि अपराध है ।

148 **प्र० – वैकुण्ठ एवं जगत में क्या भेद है ?**

उ० – चिज्जगत (वैकुण्ठ जगत) परम उपादेय मूल बिम्बसदृश तथा अचित् जगत उसका प्रतिबिम्ब है । इन दोनों में भेद यह है कि चित् जगत में जो समस्त इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, उनमें किसी प्रकार की अचित् गुणों की बाधा नहीं होती । चित् गुण समूह इस अचित् जगत के गुणों के समान होने पर भी अचित् जगत, चिज्जगत का ही विकृत प्रतिफलित छायामात्र है । अचित् जगत (जड़ जगत) में कालक्षोभ्य विषय, आनन्दबोध और नाना प्रकार के अभाव आदि छाया की भाँति देश, काल एवं पात्र को विजड़ित किये हुए हैं । चिन्मय जगत नित्य अर्थात् अचित् वर्जित, सर्वशुभ और सुखमय विचित्रतापूर्ण, सर्वसद्गुण मण्डित एवं अनुक्षण नित्य आनन्दप्रद है । अचित् जगत में नाना प्रकार की हेयता, अनुपादेयता एवं अभाव आदि हमारे प्रयोजन में व्याघात पहुँचाते हैं । हम सभी अपने दैनन्दिन जीवन में इसका अनुभव करते हैं ।

149 **प्र०–नास्तिक का क्या परिणाम होता है ?**

उ०–श्रीभगवान हमारे मंगल के लिए ही सब कुछ प्रस्तुत कर देते हैं–मैं इस पर विश्वास करता हूँ । नास्तिक लोग जगत में कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकते । कुछ दिन वे उछलकूद करने के पश्चात् अन्त में भगवान के दण्ड से ठण्डे हो जाते हैं । वैष्णवों के प्रति विद्वेष के फलानुसार नास्तिक लोगों का ऐहिक एवं पारत्रिक (लोक एवं परलोक में) अमंगल ही होता है

150 **प्र०–काम के हाथ से बचने का क्या उपाय है ?**

उ०–स्वसुख वाञ्छा का दूसरा नाम ही काम है । पूर्ण वस्तु की सेवा करना ही अपूर्ण अंश का एकमात्र कार्य है । भगवान पूर्ण चिद् वस्तु है, जीव उनका अंश है, अतः अंशी–भगवान की सेवा करना ही अंश का कर्त्तव्य है । भगवान की सेवा से विमुखता ही हमें अनेक प्रकार के कष्टों में डुबा देती है । इन क्लेशों से मुक्ति प्राप्त करनी हो, तो मात्सर्यहीन कृष्णभक्तों की सेवा ही एकमात्र औषधि है । इस जगत में कृष्णभक्त ही कृष्णप्रेम के विरोधी काम से हमारी रक्षा कर सकते हैं । अप्राकृत कामदेव श्रीकृष्ण की सेवा में उन्मुखता के अभाव में ही हमारे हृदय में प्राकृत कामवृत्ति जागृत हो जाती है । काम में आंशिक रूप में व्याघात पड़ने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है । वर्तमान अवस्था में काम को मेरी व्याधिग्रस्त इन्द्रियों का तोषण करने वाला जानना चाहिए । अप्राकृत कामदेव का इन्द्रिय–तर्पण करना ही व्याधिविमुक्त (मायामुक्त) आत्मा (भक्त)की एकमात्र वृत्ति है । कृष्ण के श्रीचरणों में शरणागति या कृष्णसेवा ही जड़ कामबीज का (वासना का) विनाशक है ।

151 **प्र०–क्या संशयात्मा का कल्याण नहीं होता है ?**

उ०–नहीं । संशयात्मा (जिसके हृदय में शास्त्रों या भगवान के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है) का विनाश हो जाता है, अर्थात् वह अवश्य ही संसार–दशा को प्राप्त होता है । साधु–गुरु के निकट न जाकर, केवल अनुकरण आदि की सहायता से अनुसरण पद्धति का त्याग करना उचित नहीं है । हमारे पास Return journey के टिकट के लिए कोई धन नहीं है । क्योंकि हम कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं को केवल कृष्ण के भोग की वस्तु ही मानते हैं । इसके विपरीत विचार वाले लोगों के हृदय में ही दुर्भाग्य के कारण सन्देह की उत्पत्ति, प्रणिपात परिप्रश्न एवं सेवा का अभाव होता है ।

152 **प्र०–क्या गौरांगदेव कृष्ण ही हैं ?**

उ० - श्रीगौरसुन्दर कृष्ण से सम्पूर्ण रूप में अभिन्न होने के कारण बारह रस उनमें पूर्ण रूप में विद्यमान हैं । दोनों में भेद मात्र इतना ही है कि कृष्ण सम्भोग विचारमयी तथा गौरसुन्दर विप्रलम्भ विचारयुक्त हैं । श्रीकृष्ण सेव्य मूर्ति तथा श्रीगौरांगदेव सेवक की चेष्टा के अभिनयकारी हैं । श्रीराधा गोविन्द मिलित तनु औदार्य विग्रह ब्रजेन्द्रनन्दन ही श्रीकृष्णचैतन्यदेव हैं । श्रीगदाधर पण्डित उन्हीं की आश्रय जातीय शक्ति हैं । जिस समय हम श्रीगौरसुन्दर को Predominating Half मानकर उनकी Transcendental Entity आलोचना करें, तो उस समय उनकी शक्ति श्रीगदाधर को Predominated Transcendental Entity के रूप में औदार्य प्रकोष्ठ को लक्ष्य करते हैं ।

153 **प्र० - क्या भक्तसेवा और भगवान की सेवा अपने हाथो से करनी चाहिए ?**

उ० - दूसरों के द्वारा भगवान का अर्चन एवं भगवान की रसोई बनवाना शोभनीय नहीं है । परन्तु किसी प्रकार विपत्ति के समय आतुर अवस्था में किसी दिन इसे स्वीकार किया जा सकता है । यदि हम आलस्य के कारण कृष्ण को न खिलाएँ और अपने खाने एवं रहने को ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लें, तो यह निश्चित है कि भगवान की सेवा के प्रति हमारी श्रद्धा कम हो जायेगी । मठ के सेवकों को विचारों के विपरीत आचरण करना उचित नहीं है । "**द्रव्यम् मूल्येन शुद्धयति**" - मूल्य के द्वारा द्रव्य शुद्ध हो जाते हैं । यह विचार असमर्थ लोगों के लिए है । यदि समर्थ व्यक्ति इस विचार को ग्रहण करता है, तो यह उसके आलस्य का परिचय होगा । हमारी समस्त प्रकार की चेष्टाएँ कृष्ण के लिए ही होनी चाहिए । अन्यथा हमारा व्यवहारिक जीवन Godless विचार पूर्ण हो जाएगा । Godloving होने पर ही ऐसी इच्छा होगी कि कृष्ण के लिए रसोई बनाकर उन्हें भोग लगाकर उनका प्रसाद भक्तों को दिया जाय, अन्यथा नहीं। करने पर दिन भक्त - सेवा से विमुख होना नहीं चाहिए ।

154 **प्र० - क्या श्राद्ध में पितृ पुरुषों को प्रसाद देना ही उचित है ?**

उ० - श्राद्ध के अवसर पर परलोकगत हरिनाम परायण व्यक्ति को महाप्रसाद दिया जाता है । भगवत् प्रसाद के अतिरिक्त अन्य पिण्ड देना बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं है । जो हरिनाम करते हैं उनके लिए कर्म फल भोग विचार नहीं है । किन्तु उनके आत्मीय स्वजनों का कर्त्तव्य है कि श्राद्ध के

अवसर पर भगवान को भोग निवेदन कर, उनके कुछ प्रसाद द्वारा परलोकगत आत्मा का मंगल करने में सहायता करें । इस अवसर पर भगवान के प्रसाद द्वारा भक्तों को तृप्त करना एवं हरिनाम संकीर्त्तन करना परम कर्त्तव्य है ।

155 **प्र० – मायातीत कृष्ण के साथ मायाबद्ध हमारे जैसी जीवों का सम्बन्ध स्थापन कैसे सम्भव है ?**

उ० – कृष्ण के साथ हमारा सम्बन्ध असम्भव होने पर भी करुणामय श्रीकृष्ण कृपापूर्वक हमारी अधीनता (वश) में आने की व्यवस्था कर देते हैं सूर्य अति बृहत् होने पर भी बृहत्त्व हमारे इन्द्रिय ज्ञान की अधीनता में दिखाई देता है, जो कि भूताकाश नामक एक पदार्थ के द्वारा सम्भव हो रहा है । उसी प्रकार जीव के भक्ति रूप चिद्-आकाश कृष्ण के सान्निध्य एवं कृष्ण की सेवा के लिए कृष्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता कर रहा है ।

सूर्य बृहत् एवं बहुत दूर रहने पर भी सूर्य के प्रकाश की सहायता से ही उसका दर्शन सम्भव होता है । उसी प्रकार श्रीकृष्ण की कृपा-आलोक से ही अर्थात् कृष्ण कृपा की मूर्ति श्रीगुरुदेव की सहायता या उनका आश्रय ग्रहण करने पर ही हम कृष्ण के साथ सम्बन्ध स्थापन का सुयोग पा सकते हैं । भगवान की कृपा से सब कुछ सम्भव है ।

156 **प्र० – श्रीकृष्ण नाम भजन का क्या फल है ?**

उ० – श्रीकृष्णनाम ग्रहण करते समय श्रीकृष्ण का अनुशीलन होता रहता है एवं कर्मफल भोग और मुक्ति की इच्छा भी दूर होती रहती है । श्रीनाम के प्रभाव से जीव के समस्त प्रकार के अनर्थ क्रमशः दूर हो जाते हैं ।

कृष्णनाम स्वयं कृष्ण ही हैं । केवल स्वयं नहीं, स्वयं रूप ही नाम हैं। हमारे दुर्भाग्य को दूर करने के लिए नाम भजन के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है । कृष्ण नामानन्द ही जड़ानन्द अर्थात् विषय भोगों की चिन्ताओं से बचाता है । मैं कृष्णभोग्य हूँ, मेरे नित्य स्वरूप से प्रसन्न होकर कृष्ण जब मुझे आकर्षण करेंगे, तभी मैं उनके रूप पर मुग्ध हाऊँगा ।

157 **प्र० – क्या चण्डीदास शुद्ध भक्त हैं ?**

उ० – निश्चय ही । शुद्धभक्त होने के कारण ही भगवान श्रीगौरांगदेव चण्डीदास के कीर्त्तनों को श्रवण करते थे । चण्डीदास की चित्तवृत्ति सेवक की चित्तवृत्ति थी । Servitor (सेवक) सर्वदा ही अपने को कृष्ण प्रेष्ठानुग मानते हैं । चण्डीदास एवं रामी के बीच किसी प्रकार का निकृष्ट व्यवहार नहीं था ।

चण्डीदास प्रेमी भक्त थे, उनके हृदय में अपने सुख की कामना लेशमात्र भी नहीं थी । जड़ भोगी लोग उनके भावों को न समझ पाने के कारण ही उनके चरणों में अपराधी होकर नरकगामी हो रहे हैं । आध्यक्षिक या Sensuous विचार में जो चण्डीदास है, वह शुद्ध भक्त चण्डीदास नहीं है । आध्यक्षिक लोग अप्राकृत चण्डीदास को पहचान पाने में असमर्थ हैं ।

अप्राकृत देह में मधुर रस के सेवकों की जड़भोगी पुरुष - आकृति नहीं होती । प्राकृत स्त्री देह तथा अप्राकृत भक्ति राज्य के चिदानन्द देह में आकाश पाताल का अन्तर है । यही शुद्ध भक्त चण्डीदास का मत है ।

चण्डीदास और विद्यापति के पाठकगण यदि अपने मायिक प्रभु अभिमान या प्रभुत्व स्पृहा (मालिक होने की इच्छा) का परित्याग कर कृष्णदास्य के सम्बन्ध में नियुक्त होवें, तो उनमें कृष्ण को भोग्यज्ञान के स्थान पर सम्पूर्ण रूप से उन्हें प्रभु जानने का चिद्बोध का प्रकाश होता है एवं विद्यापति और चण्डीदास की कृष्ण कथाओं का वास्तविक अर्थ समझकर विद्यापति को लक्ष्मी के उपपति या चण्डीदास को रामी के उपपति के रूप में स्थापन पूर्वक अपनी ऐसी धारणा के द्वारा वञ्चित नहीं होते हैं ।

158 **प्र० - क्या अपनी चिकित्सा स्वयं करना उचित है ?**

उ० - सांसारिक लोगों का इतना कष्ट देखकर भी जो संसार में प्रविष्ट होते हैं, उनकी सुख की इच्छा अति प्रबल न होने पर इस प्रकार विपदग्रस्त होने की इच्छा नहीं हो सकती है । प्रत्येक जन्म में माता - पिता पाये जा सकते हैं, परन्तु सभी जन्मों में मंगलप्रद उपदेश प्राप्त नहीं हो सकते हैं । अपनी चिकित्सा स्वयं न कर सद्वैद्य का आश्रय करने से ही मंगल होता है।

159 **प्र० - क्या सेवा अवश्य ही करनी चाहिए ?**

उ० - हमारा कर्तव्य है कि हम गुरु एवं कृष्ण की सेवा निरन्तर करते जायें । आगे कृष्ण की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा । कृष्ण जिसे जैसी बुद्धि प्रदान करते हैं, उस व्यक्ति को उसे स्वीकार कर लेना चाहिए । लोकलाञ्छन के भय से श्रीवार्षभानवी देवी श्रीमती राधिकाजी कृष्ण की सेवा का परित्याग नहीं करतीं ।

160 **प्र० - क्या वापसी का टिकट (Return ticket) कराकर गुरु एवं गौरांग के निकट आना उचित है ?**

उ० - कभी नहीं । जो वापसी का टिकट कराकर मठ में आते हैं, वे

सम्पूर्ण रूप से भगवान को नहीं चाहते । जो वास्तव में भगवान को चाहते हैं, वे क्या भगवान के पास आकर वापस जाना चाहेंगे ? यदि किसी के हृदय में भगवत् सेवक का अभिमान जाग जाय, तो क्या वह भगवान की साक्षात् सेवा छोड़कर माया की सेवा करने के लिए तैयार हो सकता है ? जिन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया है, वे कभी भी वापसी टिकट कराकर अपने इष्टदेव के पास नहीं आते, न आ सकते हैं । जिनके हृदय में प्रभु अभिमान या कर्ता अभिमान है । जिनका कोई लाल्य-पाल्य है, जगत में जिसका भगवान के अतिरिक्त कोई दूसरा भी है, जिनके हृदय में गुरुदास अभिमान के स्थान पर पति, पिता, पुत्र, पण्डित, मुर्ख, निर्धन इत्यादि मायिक अभिमान हैं, वे ही अपने को भगवान का दास न मानकर स्त्री, पुत्र, कन्या इत्यादि का सेवक मानते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें उद्वेग एवं दुःख ही प्राप्त होताहै । इसीलिए शास्त्र हमें गुरु एवं कृष्ण के निकट गमन करने के लिए नहीं, बल्कि अभिगमन करने के लिए कहते हैं । अभिगमन में वापसी का कोई प्रश्न ही नहीं होता । श्रुति कहती है-**"तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्"** । अभिगमन का अर्थ आश्रय ग्रहण करना है ।

161 **प्र०-लोगों से किस प्रकार की बातें करनी चाहिए ?**

उ०-मनुष्यों के रोग विभिन्न प्रकार के होते हैं । अतः सब की चिकित्सा अलग-अलग करनी चाहिए । रोग का निर्णय न होने पर चिकित्सा अच्छी प्रकार से नहीं हो सकती, जिससे रोग दूर नहीं होगा । अनुभवहीन चिकित्सक ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार के रोगियों की चिकित्सा नहीं कर सकते अर्थात् उनकी चिकित्सा से थोड़ा-बहुत ही लाभ हो सकता है । मुझे चालीस वर्ष तक कोई व्यक्ति ही नहीं मिला । अब जो लोग मिल रहे हैं, वे कुछ कथा तो सुन रहे हैं । परन्तु अपने विद्या बुद्धि का भरोसा नहीं छोड़ना चाहते हैं । जगत में लोग लोकप्रियता चाहने वाले है, वास्तव सत्य-वस्तु को कोई नहीं चाहता । जो अपने को धर्म का प्रचारक मानते हैं, वे लोगों के कल्याणजनक कथाओं को न कहकर सबके मन के अनुसार कथाओं को कहकर अपना मान-सम्मान अर्जन करने में ही व्यस्त हैं । सत्यकथा कहने एवं सुनने से लोकप्रिय नहीं हुआ जा सकता, इसीलिए हम बहिर्मुख लोगों की सहानुभूति नहीं चाहते हैं ।

162 **प्र०-क्या भगवान की सेवा स्वयं या अन्य लोगों के साथ नहीं की जा सकती ?**

उ०-जो सेवा करते हैं, परमेश्वर ने जिन्हें अपने सेवक के रूप में नियुक्त किया है, उनका संग छोड़कर अन्य किसी के संग में सेवा करने का विचार कैसे आ सकता है ? जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चाहते हैं, वे सेवक नहीं है अथवा जो सेवा का अभिनय मात्र करते हैं, और भगवान को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति का साधन मानते हैं, वे भी सेवक नहीं हैं । अत: ऐसे लोगों के संग में सेवा कैसे होगी ? साधारण बद्ध जीवों की स्वयं ही या ऐसे लोगों के उपदेशों को सुनकर कृष्ण के चरणों में मति नहीं लग सकती । क्योंकि वे गृहव्रत अर्थात् गृह में आसक्त हैं । वे लोग ही गृहव्रत हैं, जो सांसारिक कार्यों में ही व्यस्त रहते हैं । इसीलिए शास्त्र ऐसे बहिर्मुख लोगों का दु:संग त्याग करने के लिए कहते हैं ।

साधु का कार्य २४ घण्टे में २४ घण्टे अस्त वस्तु भगवान के संस्पर्श में रहना है । ऐसे साधुओं का संग होने पर ही भगवान की सेवा की प्रवृत्ति जागती है । साधु उसे ही कहते हैं, जो अपने उपदेशरूपी अस्त्र के द्वारा अपने निकट आने वाले व्यक्ति के समस्त विपत्तियों को छिन्न-भिन्न कर सकते हैं, संसार के प्रति आसक्ति एवं मनोधर्म सब कुछ नष्ट कर सकते हैं ।

संग कैसे होता है ? कान के द्वारा । कान के अतिरिक्त अन्य प्रकार से दु:संग भी हो सकता है । कान से भी सत्संग नहीं हो सकता है, यदि हम लोग आत्समर्पण न करें या हमारे हृदय में अहंकार प्रबल रहे ।

163 **प्र०-क्या हरिनाम के अतिरिक्त हमारे कल्याण का कोई अन्य उपाय नहीं है ?**

उ०-कैसे होगा ? कलियुग का युगधर्म तो हरिनाम संकीर्तन है । अत: युगधर्म का परित्यागकर युग-वासियों (कलियुग) का मंगल हो ही नहीं सकता । मंगलमय भगवान ने हमारे मंगल के लिए जो व्यवस्था की है, उस हरिनाम को छोड़कर अन्य उपाय के द्वारा हमारा मंगल कैसे हो सकता है ?

जो हरिनाम के अतिरिक्त आत्मकल्याण का कोई अन्य alternative या उपाय बताते हैं, वे तार्किक हैं । हरिनाम के अतिरिक्त अन्य उपायों की कल्पना करना ही आजकल के लोगों का स्वभाव बन गया है । जो हरिनाम करने वाले को एक Party मानते हैं, जो ऐसा मानते हैं कि हनिाम श्रवण अथवा कीर्तन ही आत्म-कल्याण का एकमात्र उपाय नहीं है । वे अप्राकृत वस्तु को जड़ इन्द्रियों के द्वारा जानना चाहते हैं इस प्रकार वे

भगवान के आदेशों का उल्लंघन करते हैं । इसीलिए वे सब माया के दल हैं, अथवा अभक्त सम्प्रदाय हैं । खुदा के ऊपर खुदागिरि करना अच्छा नहीं है, इससे सर्वनाश ही होता है, अमंगल ही होता है । इस विषय में शास्त्र कहते हैं–

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलो नास्त्यैव नास्त्यैव नास्त्यैव गतिरन्यथा ।।

अर्थात् कलियुग में हरिनाम के अतिरिक्त आत्मकल्याण का कोई अन्य उपाय नहीं हैं ।

164 **प्र० – चैत्यगुरु या अन्तर्यामी की कृपा कैसी है ?**

उ० – चैत्यगुरु, दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु के उपदेशों को ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करते हैं । चैत्यगुरु की कृपा के बिना (अन्तर्यामी की कृपा के बिना) महान्तगुरु (दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु) के उपदेशों को नहीं समझा जा सकता, उनकी कृपा नहीं प्राप्त की जा सकती, चित्त की मलिनता दूर नहीं हो सकती तथा शिक्षा दृढ़ नहीं हो सकती । चैत्यगुरु ही कृपापूर्वक दीक्षा – शिक्षा गुरु की कृपा ग्रहण करने की योग्यता प्रदान करते हैं । श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं ही दीक्षागुरु के रूप में दिव्यज्ञान और शुद्धभक्ति प्रदान करते हैं तथा अपने से अभिन्न शिक्षा गुरु को जगत में भेजकर उस भक्ति की रक्षा भी करते हैं एवं स्वयं ही चैत्यगुरु होकर सेवोन्मुख जीवों के हृदय में उस दीक्षा और शिक्षा को ग्रहण करने की शक्ति देते हैं ।

165 **प्र० – क्या वेदान्त अध्ययन करना चाहिए ?**

उ० – वेदान्त शास्त्र की आलोचना अवश्य ही करनी चाहिए, परन्तु वेदान्त पर शंकराचार्य द्वारा रचित भाष्य नहीं पढ़ना चाहिए । 'श्रीभाष्य या गोविन्दभाष्य' की सहायता से ही वेदान्त का अध्ययन करने पर कल्याण होगा । श्रीमद्भागवत वेदान्त का अकृत्रिम (असली) भाष्य है । अतः श्रीमद्भागवत के आनुगत्य में ही वेदान्त का अध्ययन करना चाहिए । वेदान्तशास्त्र में श्रीहरिनाम प्रभु की महिमा का प्रचुर रूप में गुणगान किया गया है । 'अनावृत्तिः शब्दात्, अनावृत्तिः शब्दात्' । हरिनाम प्रभु का कीर्तन करते हुए वेदान्त का अध्ययन करना चाहिए ।

166 **प्र० – ज्ञानी एवं भक्तों के संन्यास में क्या अन्तर है ?**

उ० – भगवान का भजन ही संन्यास की पूर्ण अवस्था है । ज्ञानमार्गी लोगों के अनुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' के विचार में परब्रह्म की सेवा त्याग करने का

नाम ही संन्यास है । वे संन्यास ग्रहण करते समय भगवान की सेवा का परित्याग कर देते हैं । निरन्तर भगवान की सेवा ही संन्यास का वास्तविक अर्थ है, वे दुर्भागे लोग इसे समझ नहीं पाते । इसीलिए मायावादी संन्यासी लोग कृष्ण के नाम, रूप, गुण परिकर वैशिष्ट्य एवं लीला इत्यादि से संन्यास ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् इन सबको मायिक वस्तु मानकर इनका परित्याग कर देते हैं । परन्तु भक्तलोग भुक्ति एवं मुक्ति से संन्यास ग्रहण करते हैं, अर्थात् वे भुक्ति (समस्त प्रकार के भोगों के इच्छा) एवं मुक्ति का परित्याग कर देते हैं । परन्तु मायावादी भुक्ति से संन्यास करते-करते भक्ति से भी संन्यास ग्रहण कर लेते हैं । भगवद्भक्त भुक्ति और मुक्ति की कामनाओं से संन्यास लेकर श्रीभक्तिदेवी के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करते हैं । श्रुतिदेवी जिनके श्रीचरणकमलों के नख की पूजा करती हैं, भगवद्भक्त ऐसे अप्राकृत श्रीनामप्रभु की सेवा से संन्यास ग्रहण नहीं करते, वे श्रीनामप्रभु को अनित्य नहीं मानते, क्योंकि वे श्रीनामाश्रित अर्थात् श्रीनामप्रभु के सेवक हैं, इसीलिए वे सर्वदा श्रीनाम-भजन में तत्पर रहते हैं ।

167 **प्र०-हमारा मंगल कैसे होगा ?**

उ०-कृष्ण एवं कार्ष्ण (कृष्णभक्त) के श्रीचरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने से ही हमारा कल्याण होगा । जो व्यक्ति स्वयं को कर्ता मानता है उसका कल्याण नहीं हो सकता । आत्मा की वृत्ति को प्रकाशित करने के लिए शुद्धभक्तों का संग अत्यन्त आवश्यक है । नामधारी भक्तों के संग से कल्याण नहीं होगा ।

श्रीकृष्ण के चरणकमलों की सेवा के अतिरिक्त सब कुछ अमंगल ही अमंगल है । धर्म, अर्थ, कामिनी(स्त्री), प्रतिष्ठा एवं मोक्ष की कामना भक्ति नहीं है । यदि हमारे प्रत्येक कार्य में, पद-पद पर एवं प्रत्येक प्रकार की चिन्ता में कृष्ण सेवा होती है, तभी सब कुछ ठीक है, उसी से हमारा कल्याण होगा ।

अपने कल्याण के इच्छुक लोगों को अकृत्रिम (असली) साधुओं की खोज करनी चाहिए। यदि हमारे हृदय में, आलस्य, कपटता या अनेक प्रकार की कामनाएँ रहेंगी, तो हमें वैसे ही साधु या गुरु प्राप्त होंगे । श्रीकृष्ण का कीर्तन करने वाले कृष्ण के प्रिय श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने से ही हमारा वास्तविक मंगल होगा । भाग्य यदि अच्छा हो, तो कृष्ण-कृपा से अवश्य ही हमें सद्गुरु की प्राप्ति होगी ।

दुश्चरित्र व्यक्ति श्रीमद्भागवत का पाठ नहीं कर सकते । भक्त

भागवत ही श्रीमद्भागवत का पाठ एवं हरिकीर्तन कर सकते हैं। चरित्रहीन, अन्याभिलाषी एवं दाम्भिक व्यक्ति के मुख से हरिकथामृत नहीं निकलती । वे जो कुछ कहते हैं, वह विष ही होता है । इसीलिए जिस किसी के मुख से श्रीमद्भागवत एवं हरिकथा नहीं सुननी चाहिए । उससे कल्याण के स्थान पर अकल्याण ही होता है ।

गुरुत्यागी एवं गुरुसेवा विमुख व्यक्ति का संग दृढ़तापूर्वक त्याग करना चाहिए । वे असत् हैं, उनका संग करने से जीवों का सर्वनाश हो जाता है । गुरुनिष्ठ भक्तों से ही हरिकथा सुननी चाहिए, जिससे हमारी भी गुरु के प्रति एवं नाम के प्रति निष्ठा हो जाएगी । हरि एवं गुरुदेव के चरणकमलों में हमारी शरणागति होगी, हृदयमें दृढ़ता, बल एवं साहस आएगा । ऐसे निष्किञ्चन गुरुनिष्ठ भक्तों से हरिकथा श्रवण करने से उनके संग के प्रभाव से हमारे हृदय में ऐसा विचार आएगा कि एकमात्र भक्ति ही कल्याण का मार्ग है । उस समय निर्विशेषवाद, कर्म, ज्ञान एवं योग इत्यादि सब कुछ तुच्छ प्रतीत होंगे ।

कृष्ण का आश्रय ग्रहण करने पर ही कल्याण होता है । यदि भगवान के चरणों का आश्रय ग्रहण किया जाए, तो हमें पढ़ना, लिखना, बोलना आये अथवा नहीं आए, इसका कोई महत्व नहीं रह जाता ।

भगवान के भक्त जीवों का कल्याण करने के लिए इस जगत में आते हैं । इस जगत में उनका कोई कर्तव्य नहीं है । उन्हें इस जगत में आने की कोई आवश्यकता भी नहीं है । जीवों की बहिर्मुख प्रवृत्ति को बदलकर कृष्ण उन्मुख करना ही उनका एकमात्र कार्य और कर्त्तव्य हैं । ऐसे शुद्ध भक्तों का संग ही मंगलप्रद है ।

168 **प्र० – हम साधु को कैसे पहचानेंगे ?**

उ० – अनेक समय हम साधु को पहचानने की चेष्टा करते है । उनकी सेवामय क्रिया – कलापों को न समझ पाने के कारण उन्हें त्याग कर देते है, जैसे कि हम परीक्षक हैं । हम किस यन्त्र के द्वारा साधु की परीक्षा कर रहे हैं ? हमें अहंकार परित्यागपूर्वक दैन्य एवं आर्ति भाव के साथ साधुओं के पास जाना चाहिए । उनके शरणागत होकर उनका संग करने पर ही उनकी कृपा से ही उन्हें जाना जा सकता है । अन्य किसी प्रकार से साधु को नहीं जाना जा सकता है । निष्कपट होकर साधुओं से हरिकथा सुनने पर हमारी समस्त प्रकार की असुविधाएँ एवं अमंगल दूर हो जाएँगे और हमारे हृदय में प्रचुर बल आएगा।

गीता में कृष्ण कह रहे हैं–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिन : ।।

(गीता ४/३४) प्रणिपात, परिप्रश्न एवं सेवाभाव को लेकर भगवद्तत्वविद् साधुओं के निकट जाने पर वे हमें भगवद् भजन के इच्छुक एवं शरणागत जानकर उपदेश प्रदान करेंगे ।

169 **प्र० – हमलोग किस प्रकार से रहेंगे ?**

उ० – आपलोग शुद्धभक्तों से हरिकथा सुनते रहें, सम्पूर्ण विश्व को भगवान् के सेवक के रूप में देखें, ऐसा करने से आपलोगों का कोई दुःख नहीं रहेगा ।

आपलोग भगवान की कथाओं में अपने मन को नियुक्त करें । भगवान् क्या कह रहे हैं, इसे कानों को खड़ाकर सुनते रहिये । भगवान् क्या कह रहे हैं ? भगवान् कह रहे हैं–"हे जीव ! तुम्हारे अनादिकाल से बहिर्मुख होने पर भी, अन्तर्मुख धर्म भी तुझमें था, तू मेरी सेवा कर सकता था, किन्तु ऐसा न कर उल्टा तू मुझसे सेवा चाह रहा है । मुझे भूलकर तू स्वयं प्रभु सजना चाह रहा है, किन्तु ध्यान रखना कि तू सेवक है, प्रभु कभी भी नहीं है ।"

श्रीहरि ही सबके प्रभु हैं, बाकी सब उनके सेवक हैं । हरिकथा श्रवण करना ही उनकी सेवा है । हरिकीर्तनकारी गुरु होते हैं तथा श्रवणकारी शिष्य होता है । श्रवणकारी Submissive (अनुगत) को होना होगा । हरिकथा सुनने के लिए आग्रह रहना चाहिए । जिस दिन हरिकथा सुनने का सुयोग नहीं मिलता, वही दिन दुर्दिन है ।

आपलोग श्रीमद्भागवत की कथा सुनें । श्रीमद्भागवत कह रही है–अनेक जन्मों के बाद मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, अतः यह अत्यन्त दुर्लभ है । मनुष्य जन्म अनित्य होने पर भी परमार्थप्रद है । स्वतन्त्रता का परित्याग कर शरणागत होकर निष्कपटरूप में भजन करने पर इसी जन्म में भगवान की प्राप्ति हो सकती है । अतः बुद्धिमान् व्यक्ति मृत्यु से पूर्व ही क्षणमात्र भी विलम्ब न कर चरम-कल्याण प्राप्त करने के लिए यत्न करेंगे । आहार-विहार आदि सभी जन्मों में पाये जाते हैं, किन्तु परमार्थ (भक्ति) अन्य जन्मों में नहीं पायी जा सकती । हमारा कोई भी जन्म क्यों न हो, विषय सभी जन्मों में प्राप्त हो जायेंगे । मनुष्य न होने पर भी विषय सभी जन्मों में पाये जायेंगे, इसलिए मनुष्य जन्म में

श्रेय (आत्म-कल्याण) का ही अनुशीलन करना चाहिए । भगवान् की सेवा ही एकमात्र श्रेय या मंगल है । सेवा किसे कहते हैं, इसे जानने की आवश्यकता है । केवल सेव्य (भगवान) का सुख विधान ही सेवा है । श्रीहरि सबके मूल हैं, सबके प्रभु हैं, सबके उपास्य हैं, सबके एकमात्र सेव्य हैं । हम सभी उन श्रीहरि के ही सेवक हैं । उनकी सेवा ही हमारा धर्म, कार्य या कर्तव्य है । इसके अलावा हमारा अन्य कोई कर्तव्य नहीं है ।

भगवान् ही पूर्ण वस्तु हैं तथा जीव के एकमात्र उपास्य वस्तु हैं । उनकी सेवा प्राप्त करने के लिए उनके विषय में जानकारी देनेवाले उनके प्रकाशविग्रह श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करना होगा और प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी होगी । श्रीगुरुदेव के अतिरिक्त इस जगत में ऐसा निःस्वार्थ बन्धु तथा परमात्मीय अन्य कोई नहीं हो सकता । गुरु को अपना जानकर प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करने से ही हमारा मंगल होगा । आदरपूर्वक उनकी सेवा करते-करते ही यह अभिमान उत्पन्न होगा कि मैं उनका सेवक हूँ तथा श्रीगुरु-गोविन्द के प्रति प्रीति उत्पन्न होगी ।

170 **प्र० – किससे भगवान् की कथा सुनने से मंगल होगा ?**

उ० - जो भगवान का दर्शन करा सकते हैं, जो २४ घण्टे में २४ घण्टे ही भगवान की सेवा में रत रहते हैं, ऐसे श्रीगुरुपादपद्म के श्रीमुख से ही भगवत् कथा एवं भगवत् सेवा की कथा सुननी होगी । तभी हमारा मंगल होगा, हमारे हृदय में भगवान की सेवा की प्रवृत्ति जागेगी ।

श्रीभगवान का सेवागार या सेवाशिक्षागार ही हरिकीर्तन से गुञ्जायमान मठ-मन्दिर है । वहाँ पर हरिकथा और हरिसेवा की ही प्रधानता होती है । श्रीचैतन्यदेव के निजजन श्रीगुरुपादपद्म एवं गुरुनिष्ठ भक्तों से ही प्रणिपात (शरणागत होकर) परिप्रश्न तथा सेवावृत्ति सहित हरिकथा श्रवण करने से ही मंगल होगा-जीव की चेतनता जाग्रत होगी (वह तभी समझ पायेगा कि मैं भगवान् का सेवक हूँ) । भगवान के भक्त भक्तिनेत्रों के द्वारा हृदय में श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण का दर्शन करते हैं । ऐसे साधुओं का संग करने से और उनकी कृपा होने से ही हम अपने हृदय में भगवान का दर्शन कर सकते हैं । इन नेत्रों के द्वारा भगवान का दर्शन नहीं हो सकता, भक्तिनेत्रों से ही भगवान का दर्शन होता है । श्रीकृष्ण की आराधना करने से ही हमारा नित्य मंगल होगा । जिस क्षण हम समझ पायेंगे कि भगवान श्रीकृष्ण ही हमारे प्रभु हैं, मैं उनका

सेवक हूँ, उसी क्षण हमारी समस्त असुविधाएँ दूर हो जायेंगी और हमारे मंगल का द्वार खुल जायेगा हमें दृढ़तापूर्वक इसे जान लेना चाहिए कि इस जगत में श्रीहरि के अतिरिक्त कोई भी वस्तु आराधना के योग्य नहीं है ।

171 **प्र० – हम कैसे जान पायेंगे कि हमारा शुद्धनाम हो रहा है ?**

उ० – जिसके मुख से एक बार भी शुद्धनाम उच्चारित हो जाता है, उसमें चरित्रहीनता नहीं रह सकती, उसकी गुरुगिरी करने की दुष्प्रवृत्ति पूर्णरूप से नष्ट हो जाती है तथा कनक, कामिनी और प्रतिष्ठा की इच्छा उसके हृदय में स्थान नहीं पा सकती । श्रीनाम के आभास से ही पाप, पापवासना और अविद्या नष्ट हो जाती है । यदि इन तीनों में से कोई एक भी हृदय में रहे, तो समझ लेना चाहिए कि एकबार भी शुद्धनाम उच्चारित नहीं हुआ है ।

श्रीनाम साक्षात् भगवान हैं । श्रीनाम शब्द – ब्रह्म हैं । ब्रह्मवस्तु श्रीनाम को मैं Regulate नहीं कर सकता, श्रीनाम ही मुझे Regulate करेंगे, मुझपर कृपा करेंगे, मेरा उद्धार करेंगे । यदि साधु – गुरु की कृपा से यह जानने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय कि मैं श्रीनाम का सेवक हूँ, तो हृदय में कनक, कामिनी और प्रतिष्ठा प्राप्ति की इच्छा रह ही नहीं सकती । जो कनक, कामिनी और प्रतिष्ठा के जबड़े से मुक्त हो गये हैं, उनके मुख से ही शुद्धनाम उच्चारित होता है । शुद्धसत्ता में ही शुद्धनाम की स्फूर्ति होती है । कृष्णनाम साक्षात् कामदेव हैं। काम तथा कामदेव एक साथ नहीं रह सकते ।

172 **प्र० – हमारे हृदय से कामना वासना कैसे दूर होगी ?**

उ० – श्रीमद्भागवत में कहा है–साधुओं के हितकारी कृष्ण अपने नाम – गुण – श्रवणकारी व्यक्तियों के हृदय में अन्तर्यामी चैत्यगुरु के रूप में विद्यमान रहकर उसके हृदय में स्थित कामनाओं – वासनाओं को जड़ से ध्वंस कर देते हैं ।

जो भगवान की मंगलमयी कथाओं को श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन श्रवण करते हैं अथवा कीर्तन करते हैं, भगवान अति शीघ्र स्वयं उसके हृदय में आविर्भूत हो जाते हैं । यदि सद्गुरु से हरिनाम श्रवण किया जाय, उनसे श्रीनाम ग्रहणकर निरन्तर कीर्तन किया जाय, तो अन्य चिन्ता और कामनाएँ सब दूर हो जायेंगी तथा सब समय कृष्णस्मृति होती रहेगी । कीर्तन के प्रभाव से ही स्वाभाविकरूप में स्मरण होता है । सरल हृदय से निरन्तर या प्रतिदिन श्रवण – कीर्तन किया जाय, तो अवश्य ही मंगल होगा तथा समस्त प्रकार की असुविधाएँ दूर

हो जायेंगी ।

173 **प्र०–हम अपने को कैसे जान पायेंगे ?**

उ०–कृष्णप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव की कृपा से ही हम स्वयं को जान पायेंगे–अपने चिदानन्द–स्वरूप को पा सकेंगे । सदैव साधुसंग करना होगा । साधुसंग के फल से ही असल–देह की खोज पाई जायेगी–स्वस्वरूप का प्रकाश होगा । तभी जड़देह के प्रति आत्मबुद्धि या प्राकृत अभिमान दूर होगा और तभी सर्वनाशकर अपने सुख की वासना हमेशा के लिए दूर होगी । मैं भगवान का सेवक हूँ–यही जीव का स्वरूप है । भगवत्–सेवकों के साथ भगवान् की सेवा करते–करते ही हमारा स्वरूप जागृत होगा । तब और विरूप की चेष्टा भोगप्रवृत्ति नहीं रहेगी ।

174 **प्र०–हम कृष्ण की सेवा क्यों नहीं कर पा रहे हैं ?**

उ०–महापुरुषों की कृपा के बिना कृष्णसेवा कोई नहीं कर सकता । इसीलिए सद्गुरु–चरणाश्रय की इतनी आवश्यकता है । "महत्कृपा बिना कोन कर्मे भक्ति नय । कृष्णभक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय ।।"

जो सब समय कृष्णसेवा करते हैं, उन साधुओं के संग में रहने से ही हमारी सेवाप्रवृत्ति जागेगी । कृष्णभक्तों के संग के बिना कृष्णसेवा की इच्छा नहीं जाग सकती । हरिसेवा कोई तमाशे की चीज नहीं है । यह केवल साधुसंग और कृपा–सापेक्ष है (कृष्णसेवा केवल साधुओं के संग में या साधुओं की कृपा से ही होती है ।) साधु एवं गुरु का पूर्ण आनुगत्य करने पर ही सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता है ।

सेवक अभिमान न होने पर सेवा नहीं होती सेव्य और सेवक का योगसूत्र ही है–भक्ति या सेवा । हम सेवक न होकर सेव्य होना चाहते हैं । अतः सेवा कैसे होगी ? सेवक ही तो सेवा करेगा ।

मैं कर्ता होकर श्रवण करूँगा, दर्शन करूँगा, कीर्तन करूँगा, स्मरण करूँगा– यह तो कर्मियों का या अभक्तों का विचार है । इस भयानक कर्ता–अभिमान को त्यागकर सेवक अभिमान प्रतिष्ठित होने पर ही सेवा होगी । इसलिए भगवान के सेवक हमलोग २४ घण्टे में २४ घण्टे ही साधुओं के संग में रहकर उनके आनुगत्य में और उनके निर्देशानुसार भगवान की सेवा करेंगे, तभी हमारा मंगल होगा– हमें शुद्ध सेवा प्राप्त होगी अपने ऊपर भरोसा छोड़कर सम्पूर्ण रूप से श्रीगुरु–गौरांग के ऊपर निर्भर रहने से ही हमारे समस्त

प्रकार की असुविधाएँ एवं सेवा की बाधाएँ कट जायेंगी । तब हमलोग श्रीगुरुदेव के आनुगत्य में आनन्दपूर्वक सेवा कर पायेंगे । पति-पत्नी (मधुर भाव) का सम्बन्ध पिता-पुत्र (वात्सल्य भाव)का सम्बन्ध बन्धु-बन्धु (सख्य भाव) का सम्बन्ध और प्रभु-सेवक (दास्य भाव) का सम्बन्ध,-इन चार सम्बन्धों में से कृष्ण के साथ कोई एक सम्बन्ध होने पर ही मंगल होगा तथा तभी सेवा होगी ।

सम्बन्ध न होने पर सेवा नहीं होती । सेवा करते-करते सम्बन्ध परिस्फुटित होता है । इस जगत में भी लोग इन चार सम्बन्धों के द्वारा ही सेवा करते हैं । कृष्ण के साथ सम्बन्धज्ञान के अभाव में ही इस जगत में हमारा अनित्य सम्बन्ध हुआ है ।

हमलोग गुरु-कृष्ण के eternal slaves हैं, गुरु-कृष्ण के नित्य खरीदे हुए गुलाम हैं-इस बात को भूलने के कारण ही हमारी ऐसी दुर्गति हो रही है । अब साधु-गुरु की कृपा से इसका स्मरण होते ही हमें सुविधा होगी, हम भक्ति-पथ या सेवा-पथ में अग्रसर हो पायेंगे ।

175 **प्र०-किस विषय में हमें सावधान रहना होगा ?**

उ०-जगत की सभी वस्तुएँ भगवान की हैं । अतः उन सभी वस्तुओं के प्रति भोगबुद्धि करने पर विपत्ति में पड़ जाएंगे । जो भगवान की कथा के श्रवण से विमुख होंगे, वे संसार में आसक्त और आबद्ध हो जायेंगे । इसलिए मंगलाकांक्षी सज्जन व्यक्ति शुद्ध साधुओं के मुख से हरिकथा श्रवण करने के लिए चेष्टाशील रहेंगे ।

मैं बहुत सेवा कर रहा हूँ, मैंने बहुत सेवा की है, मैं वैष्णव हो गया हूँ-ऐसा सोचना दुर्बुद्धि है । इन सब पागलपन को छोड़कर दीन-हीन होकर कृपा की भिक्षा करते-करते सेवा प्राप्त करने के लिए यत्न करना होगा । गुरुवैष्णवों की सेवा को त्यागकर कृष्ण की सेवा का अभिनय फूटी हांडी में जल रखने के समान ही है । गुरुवैष्णवों की सेवा को त्यागकर कृष्ण की सेवा का छल या हरिनाम करने का अभिनय केवल दाम्भिकता है । सब समय साधुओं के साथ में रहना होगा । दुर्बल होने के कारण मैं सत्संग के बिना बच नहीं पाऊँगा । सब समय साधुओं के साथ में न रहने पर स्वयं ही प्रभु होने की दुर्बुद्धि प्रबल हो जायेगी और नाना प्रकार की दुश्चिन्ताएँ आकर हमें विपत्ति में डाल देंगी ।

यह संसार नरक का द्वार है । प्रेयः या संसार प्रारम्भ में कुछ अच्छा लगने पर भी अन्त में निराशापूर्ण है ।-'माधव हाम परिणाम निराशा' अर्थात् हे

माधव ! यह संसार परिणाम में निराशापूर्ण है ।

176 **प्र० – क्या गुरु – कृपा ही कृष्ण – कृपा है ?**

उ० – निश्चय ही । कृष्ण गुरु के रूप में ही जीवों पर कृपा करते हैं, उन्हें आश्रय प्रदान करते हैं –

कृष्ण यदि कृपा करेन कौन भाग्यवाने ।
गुरु – अन्तर्यामीरूपे सिखाय आपन ।।
गुरु कृष्णारूप हन शास्त्रेर प्रमाणे ।
गुरुरूपे कृष्ण कृपा करेन कौन भक्तगणे ।।

गुरुकृपा और कृष्णकृपा पृथक् नहीं है । गुरुदेव कृष्णभजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते । कृष्ण भी अपने प्रियजन की सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा ग्रहण नहीं करते । सभी प्रकार की सेवाओं को गुरुदेव ही कृष्ण के चरणों में निवेदन करते हैं । जिनकी सब समय सेवा करनी होगी, वे श्रीगुरुदेव ब्रह्माण्डवासी कोई साधारण जीव नहीं हैं । वे कृष्ण की इच्छा से पतित जीवों का उद्धार करने के लिए इस जगत में अवतीर्ण होकर जीवों को भक्तिलता का बीज प्रदान करते हैं । भगवान की सेवा करने की सुबुद्धि प्रदान करते हैं । कृष्ण की कृपा गुरु के द्वारा ही हम तक पहुँचती है –

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव ।
गुरुकृष्णप्रसादे पाय भक्तिलता – बीज ।।

अर्थात् ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते – करते कोई भाग्यवान् जीव गुरु एवं कृष्ण की कृपा से ही भक्तिलता का बीज प्राप्त करता है ।

177 **प्र० – भक्त का विचार कैसा होता है ?**

उ० – जो वास्तव में ही भगवत्सेवक हैं, वे सुख – दुःख, सुविधा – असुविधा, किसी भी अवस्था में विचलित न होकर सभी अवस्थाओं में ही तन – मन – वचन से भगवान की सेवा करते रहते हैं । भक्त सदैव सेवा में ही अवस्थित रहते हैं । भक्तों का विचार होता है – मैं भगवान का सेवक हूँ । अतः भगवान की सेवा ही मेरा जीवन है, सेवा ही मेरा कार्य है; इसके अतिरिक्त सब कुछ मृत्यु या संसार है ।

भक्त सेवात्मा होते हैं, इसीलिए वे सेवा के बिना नहीं रह सकते । सेव्यात्मा ही सेवात्मा हो सकते हैं । सेव्य, सेवक और सेवा – तीनों एक सूत्र में गुथे हुए हैं ।

178 **प्र०–जो भगवान को चाहते हैं, उनका प्रथम कार्य क्या है ?**

उ०–जो वास्तव में भगवान को चाहते हैं, उनका प्रथम कार्य है–दुःसंग का त्याग । दुःसंग या असत्संग का त्याग किये बिना साधुसंग नहीं होता । कृष्णसेवा के अतिरिक्त अन्य कामनाएँ ही दुःसंग है । शास्त्र कह रहे हैं–

दुःसंग कहिये कैतव, आत्मवञ्चना । अर्थात् कृष्ण और कृष्णभक्ति के अतिरिक्त अन्य कामनाएँ दुःसंग हैं, जो कपट या आत्मवञ्चना है ।

निष्कपट भक्तलोग दुःसंग या असत्संग का दृढ़तापूर्वक परित्याग करते हैं और आदर एवं प्रीतिपूर्वक साधुओं का संग तथा उनकी सेवा करते हैं ।

लेकिन अब प्रश्न है कि साधु कौन हैं ? जो सब समय हरिनाम, हरिकथा और हरिसेवा करते हुए दिन व्यतीत करते हैं, वे ही साधु हैं, वे ही भक्त हैं, वे ही सत् हैं । परन्तु जो सांसारिक बातों में, अपने इन्द्रियतर्पण में और सुख-सुविधाओं के चक्कर में ही दिन व्यतीत करते हैं, वे ही असत् या असाधु हैं । जो निष्कपट साधक हैं, वे भोगों को निन्दनीय जानकर यथायोग्यरूप में उन्हें स्वीकार करते हुए साधुसंग और साधुसेवा में तत्पर रहते हैं, जिसके फल से क्रमशः उनका मंगल होता है । इसीलिए श्रीमद्भागवत में असत्संग को त्यागकर सत्संग करने के लिए कहा गया है–

ततो दुःसंगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः ।।

(भा . ११/२६/२६)

अर्थात् इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वे दुःसंग छोड़कर सत्पुरुषों का संग करें । सन्त पुरुष अपने सदुपदेशों से उनके मन की आसक्ति नष्ट कर देंगे ।

भगवद्-विमुख व्यक्ति ही असत् हैं । जितने भी dear and near ones हैं, यदि वे भगवद्-विमुख हों, तो उन्हें छोड़ देना होगा । श्रीचैतन्य महाप्रभु से विमुख व्यक्ति ही भगवद्विमुख हैं । जिन्होंने श्रीचैतन्यदेव के श्रीचरणों का आश्रय ग्रहण नहीं किया है, जिन्होंने उनकी अमूल्य शिक्षाओं को ग्रहण नहीं किया है, वे ही चैतन्यविमुख हैं । जो श्रीचैतन्यदेव के भक्तों के आश्रित हैं, गौरभक्तों के प्रति श्रद्धालु और उनकी सेवा में रत हैं, वास्तव में वे ही भगवद् उन्मुख हैं ।

जिस प्रकार कोई विद्याप्रार्थी(विद्या प्राप्ति का इच्छुक) विद्वान का आश्रय ग्रहण किये बिना विद्या ग्रहण नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार जो भगवान को चाहते हैं, वे भाग्यवान् सज्जनलोग कलिकाल में अवतीर्ण भगवान् श्रीगौरांगदेव और उनके भक्तों के श्रीचरणों का आश्रय ग्रहण किये बिना नहीं रह सकते । भक्तों के आश्रय में ही भगवान को पाया जाता है, भक्तगुरु का आश्रय ही भगवत् प्राप्ति का एकमात्र उपाय है । इसलिए उनकी ऐसी प्रचेष्टा रहती है ।

179 **प्र० – क्या धाम सर्वत्र ही है ?**

उ० – प्रत्येक जीव का हृदय तथ प्रत्येक परमाणु ही श्रीविष्णु का अधिष्ठान क्षेत्र या वासस्थान है । अतः सर्वत्र ही श्रीधाम है । जिस दिन गुरुदेव की कृपा से हृदय में स्फूर्ति होती है, उसी दिन ऐसा दर्शन होता है । तब और विश्वदर्शन नहीं होता है ।

180 **प्र० – अनर्थ क्या है ?**

उ० – अपने सुख की वाञ्छा ही अनर्थ है । इन्द्रियतर्पण की स्पृहा ही भगवान की सेवा में प्रधान बाधक है । उसके द्वारा भगवत्स्मृति बाधित हो जाती है और अन्य चिन्ताएँ हृदय में उदित हो जाती हैं ।

181 **प्र० – हम भगवत्कृपा कैसे पायेंगे ?**

उ० – जो सब समय हरिसेवा करते हैं, ऐसे श्रीगुरुदेव के उपदेशों और आदेशों का उल्लघंन न कर उनका आनुगत्य करने से हम अनायास ही भगवान की कृपा प्राप्त कर सकेंगे । गुरु की कृपा से ही कृष्ण की कृपा प्राप्त होती है । यदि गुरु प्रसन्न न हों, तो जीव का मंगल किसी प्रकार से नहीं हो सकता ।

182 **प्र० – क्या भगवान कृष्ण स्वयं ही अपनी सेवा की शिक्षा देने के लिए गुरु के रूप में अवतीर्ण होते हैं ?**

उ० – निश्चय ही । सच्चिदानन्द भगवान के शरीर में जो हाथ हैं, मानो उन हाथों से वे जैसे अपना ही शरीर खुजला रहे हैं । भगवान के हाथ उनके शरीर ही है । इस प्रकार मानों भगवान स्वयं ही अपनी सेवा कर रहे हैं । भगवान स्वयं ही अपनी सेवा की शिक्षा देने के लिए गुरु के रूप में अवतीर्ण होते हैं । उसी प्रकार मेरे श्रीगुरुदेव भी भगवान से अभिन्न – भगवान के साथ एकदेह – सेव्य – भगवान और सेवक – भगवान, विषय – भगवान और आश्रय – भगवान हैं । मुकुन्द सेव्य – भगवान या विषय – भगवान हैं तथा मुकुन्दप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव सेवक – भगवान

या आश्रय-भगवान हैं । मेरे श्रीगुरुदेव के समान भगवान का प्रिय अन्य कोई नहीं है । वे भगवान के अत्यन्त प्रिय हैं ।

चने के दो दलों की भाँति विषयजातीय कृष्ण आधे और आश्रयजातीय कृष्ण आधे, इन दोनों का विलासवैचित्र्य ही पूर्ण है । विषयजातीय पूर्णप्रतीति स्वयं कृष्ण तथा आश्रयजातीय पूर्णप्रतीति मेरे श्रीगुरुदेव हैं । (जिस प्रकार चने के दो दलों के मिलने पर ही पूरा चना बनता है, उसी प्रकार विषयजातीय कृष्ण(भगवान) और आश्रयजातीय कृष्ण (गुरुदेव) का संयुक्त स्वरूप ही पूर्ण कृष्णस्वरूप है । अर्थात् दोनों में से एक को भी नहीं मानने से कृष्ण को मानना नहीं होगा ।)

श्रीकृष्ण विषयजातीय ब्रह्मवस्तु और श्रीगुरुदेव आश्रयजातीय ब्रह्मवस्तु हैं । हमलोग लघु से भी लघु , उससे भी लघु हैं और जो सब समय वृहत् (भगवान) की सेवा करते हैं, वे सेवाविग्रह श्रीगुरुदेव वृहत् से भी वृहत् तथा उससे भी वृहत् हैं । श्रीगुरुपादपद्म मुकुन्दप्रेष्ठ हैं । श्रीगुरुपादपद्म सबसे श्रेष्ठ आश्रय हैं । उन कृष्णप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव को आश्रयजातीय भगवान मानना होगा, तभी हमारा कल्याण होगा ।

183 **प्र०-भक्ति क्या है ?**

उ०-जिस पथ में कृष्ण की सेवा की बात नहीं है, वह अभक्तिमार्ग है । कृष्णानुशीलन ही भक्ति है । अनुशीलन का अर्थ है-निरन्तर सेवा । भक्ति के उदित होने पर जीव भक्त कहलाता है ।

कृष्ण को सुखी रखने का नाम ही भक्ति है । भक्ति में अन्याभिलाष बिल्कुल भी नहीं रहेगी । कृष्ण के सुख की कामना के अतिरिक्त भक्त किसी अन्य उद्देश्य से भगवान की सेवा नहीं करते ।

भक्ति के प्रारम्भ में ही श्रद्धा की बात है । 'श्रद्धावान् जीव हय भक्ति-अधिकारी' अर्थात् श्रद्धावान् जीव ही भक्ति का अधिकारी है । सर्वप्रथम साधुसंग में शास्त्रों का श्रवण करने से श्रद्धा अर्थात् शास्त्र की बातों में विश्वास हो जाता है । कृष्ण के साथ सम्बन्धज्ञान तो हुआ नहीं, फिर भी भक्ति हो गयी, ऐसा कदापि नहीं हो सकता । क्योंकि शास्त्र कहते हैं-**'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैषत्रिक एककालः ।'** अर्थात् विषयों से वैराग्य और भगवद्-ज्ञान भक्ति के साथ एक ही समय उदित होते हैं । भक्ति का उदय हुए बिना विषयों से वैराग्य और भगवान की अनुभूति की कोई सम्भावना नहीं है । शुद्धभक्ति में

धर्म - अर्थ - काम - मोक्ष की वाञ्छा नहीं रहती । भक्तों के संग से ही भक्ति होती है ।

184 **प्र० - भक्तिप्राप्ति का उपाय क्या है ?**

उ० - भक्ति प्राप्त करने के लिए सबसे पहले भक्ति के ६४ अगों में से मुख्य भक्ति - अंग श्रीगुरुपादपद्म का आश्रय ग्रहण करना होगा । श्रीगुरुपादपद्म का आश्रय ग्रहण न करने पर किसी भी काल में भक्ति का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता । श्रीगुरुदेव का आश्रय ग्रहण किये बिना श्रवण - कीर्तन आदि नवविधा भक्ति भी सुफल प्रदान नहीं कर सकती । आश्रित या शरणागत हुए बिना श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करने पर केवलमात्र सुकृति सञ्चित होती है, वास्तव में शुद्धभक्ति में अधिकार प्राप्त नहीं होता ।

सौभाग्य से कृष्ण की कृपा से सद्गुरु की प्राप्ति होती है । जो सर्वस्व अर्पणकर श्रीगुरुपादपद्म का आश्रय ग्रहण करते हैं, उसे ही कृष्णदीक्षा और कृष्णशिक्षा प्राप्त होती है । आंशिक आदान - प्रदान से 'सर्वात्मनाश्रितपद' नहीं हुआ जाता ।

185 **प्र० - भगवद्दर्शन का पथ क्या है ?**

उ० - श्रीमद्भागवत ३/९/११ में कहा गया है - श्रुतेक्षित पथ ही भगवद्दर्शन का पथ है । श्रीधरस्वामी - टीका - 'श्रुतेन श्रवणे ईक्षितः' पन्था ही भगवद्दर्शन का पथ है ।

श्रवण के द्वारा शुद्ध हुए चित्त में ही भगवान का दर्शन होता है ।

आदौ गुरुमुखे श्रुत, तत्परे ईक्षित - (श्रीविश्वनाथ टीका) शास्त्र कहते हैं - **भक्तेर इच्छाय कृष्णेर अवतार ।**(चै . च . आ . ३/१११) भागवत ३/९/११ में कहते हैं - **यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।** श्रीधर स्वामी टीका - भक्तगण अपने हृदय में जिस रूप की चिन्ता करते हैं, भगवान उसी रूप को उसके हृदय में प्रकाशित करते हैं ।

186 **प्र० - श्रीराधारानी कौन हैं ?**

उ० - श्रीराधा श्रीकृष्ण की नित्या पत्नी - कृष्णकान्ता शिरोमणि हैं । श्रीराधाजी की भाँति इतना प्रिय कृष्ण को अन्य कोई नहीं है ।

श्रीकृष्ण की अपेक्षा श्रीराधाजी किसी अंश में कम नहीं हैं । श्रीकृष्ण ही आस्वादक और आस्वादित के रूप में दो देह धारणकर विलास करते हैं ।

राधाकृष्ण एक आत्मा, दुइ देह धरि ।
अन्योन्ये विलसे रस आस्वादन करि ।।
(चै. च. अ)

जिन कृष्ण का अपूर्व सौन्दर्य देखकर वे स्वयं ही मुग्ध हो जाती हैं, उन कृष्ण की अपेक्षा श्रीमती राधिकाजी का सौन्दर्य अधिक नहीं होता, तो वे भुवनमोहन कृष्ण को मोहित नहीं कर सकती थीं । इसीलिए उनका एक नाम भुवनमोहिनी है । वे पूर्णचन्द्र कृष्ण की पूर्णिमा स्वरूपिणी हैं एवं कृष्ण की कान्ताओं में शिरोमणि-स्वरूपा-अंशिनी हैं । सेवक की ऐसी भाषा नहीं हो सकती, जिससे कि सेव्यवस्तु का सम्पूर्णरूप से वर्णन हो सके । किन्तु सेवक के तत्त्व का वर्णन करने में सेव्य ही समर्थ है । इसीलिए भगवान कृष्णचन्द्र स्वयं ही हमें श्रीमती राधारानी का तत्त्व बता सकते हैं । एक व्यक्ति और हैं, वे भी गोविन्दानन्दिनी के तत्त्व को बता सकते-जो वृषभानुसुता एवं कृष्ण की साक्षात् सेवा करते हैं अर्थात् श्रीगौरसुन्दर के निजजन श्रीगुरुदेव भी श्रीमती राधिका के तत्त्व को बता सकते हैं ।

श्रीकृष्णचन्द समस्त रसों और शोभा-सौन्दर्य आदि गुणों के मूल सम आश्रय हैं । वे समस्त ऐश्वर्य, वीर्य और ज्ञान आदि के मूल आश्रयतत्त्व हैं । अतः ऐसे पूर्णतम भगवान जिनके आश्रय और विषय हैं, ऐसी श्रीराधाजी कितनी बड़ी हैं, यह मनुष्य ज्ञान यहाँ तक कि अनेक मुक्त पुरुषों की धारणा से अतीत है । जिनके ऐश्वर्य और माधुर्य के प्रति सारा जगत लालायित तथा मोहित रहता है, ऐसे भुवनमोहन मदनमोहन कृष्ण स्वयं ही जिनके द्वारा मोहित हो जाते हैं, वे कितनी श्रेष्ठ होंगी, इसे भाषा के द्वारा दूसरे को नहीं समझाया जा सकता ।

187 **प्र० – श्रीगौरसुन्दर कौन हैं ?**

उ०-ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही श्रीगौरांग के रूप में विश्व में अवतीर्ण हुए हैं । श्रीगौरसुन्दर त्रिकालसत्य असल वस्तु हैं । वे श्रीजगन्नाथ मिश्र के नन्दन अर्थात् आनन्दवर्धक हैं । श्रीजगन्नाथ मिश्र पिता के रूप में उनके सेवक हैं । श्रीगौरांगदेव परात्परतत्त्व स्वयं-भगवान हैं और कोई भी उनके समान या उनसे बड़ा नहीं है । वे असमोर्ध्व वस्तु हैं । पिता-माता आदि गुरुवर्ग भी गुरु-रूप में उन असमोर्ध्व परतत्त्व के सेवक ही हैं ।

वे गौरसुन्दर अपने सेवकों के साथ, अपने पाल्यवर्ग के साथ, शक्तियों के साथ अद्वयज्ञान तत्त्व के रूप में नित्य विराजमान हैं । वे नित्य वस्तु हैं ।

अतः उनके भृत्यवर्ग, पाल्यवर्ग और शक्तिवर्ग सभी नित्य हैं । भृत्य का तात्पर्य उनके सेवकों से है तथा जो प्रीतिपूर्वक सेवा करने के कारण उनके पाल्यवर्ग में परिगणित हुए हैं, वे उनके पुत्र हैं । श्रीगौरसुन्दर अपने पाल्यवग के पिता हैं । वे अपने पाल्यवर्ग के विशुद्धचित्त में उदित होकर श्रीनाम-प्रेम का प्रचार कर रहे हैं । ये ही उनके पुत्र हैं । ये ही श्रीगौरांग के निजवंश हैं । श्रीभगवान के ये अच्युत-गोत्रिय वंशधरों ने ही जगत में श्रीगौरसुन्दर के नाम-प्रेम प्रचार-धारा की रक्षा की है और कर रहे हैं ।

श्रीगौरसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन से अभिन्न हैं । वैध विचार से श्रीलक्ष्मीप्रिया देवी तथा श्रीविष्णुप्रिया देवी उनके कलत्र हैं । परन्तु वास्तव में भजन-विचार से श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीगदाधर पण्डित, श्रीरायरामानन्द आदि अन्तरंग भक्तगण उनके उज्ज्वल-मधुर-रसाश्रित त्रिकालसत्य कलत्र हैं । श्रीगौरसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन से अभिन्न होने पर भी विप्रलम्भावतार हैं । श्रीकृष्ण सम्भोग-रसमय विग्रह हैं और श्रीगौरसुन्दर विप्रलम्भ-रसमय विग्रह हैं ।

188 **प्र०-श्रीगौर उपासना क्या है ?**

उ०-श्रीगौरसुन्दर का आदेश-पालन ही गौर-उपासना है । गौरभजन में दास्य रस की पराकाष्ठा है । मधुर रस में गौरसुन्दर युगल-आकार में हैं ।

अनर्थयुक्त व्यक्ति कृष्ण के पास नहीं जा सकते । किन्तु परमौदार्यमय विग्रह श्रीगौरसुन्दर ने सार्वभौम भट्टाचार्य के समान विषयी को और जगाइ-माधाइ के समान अत्यन्त पापी व्यक्तियों को भी अनर्थों से मुक्तकर कृष्ण की आराधना में नियुक्त कर दिया था ।

भाग्यवान् सज्जन लोग सद्गुरु का चरणाश्रय करके गुरु के आनुगत्य में गौर और कृष्ण की उपासना करते हैं । श्रीगुरुदेव भी गौर से अभिन्न विग्रह हैं । वे गौरांगदेव की प्रकाशमूर्ति हैं । वे आश्रयजातीय भगवत्-तत्त्व हैं । श्रीगुरुदेव भगवान होते हुए भी भगवत्श्रेष्ठ हैं, मुकुन्द के प्रियतम हैं । वे आश्रय-विग्रह सेवक-भगवान हैं । उन्हें विषय-विग्रह या भोक्ता-भगवान मानना अन्याय और अपराध है ।

189 **प्र०-क्या मनुष्य जन्म पाकर हरिभजन करना आवश्यक है ?**

उ०-भाग्यक्रम से भगवान की कृपा से ही हमने मनुष्य जन्म प्राप्त किया है । यह जन्म सुदुर्लभ है । अगले जन्म में, हम मनुष्य होंगे कि नहीं, यह कोई निश्चित नहीं है । क्योंकि दुर्भाग्य के कारण हम भूत, प्रेत, पिशाच, पशु,

पक्षी, कीट भी हो सकते हैं । इन सब जन्मों में भगवान का भजन सम्भव नहीं है । अतः इस जन्म में जितने भी दिन बचे हैं, उन्हें दूसरे कामों में लगाना उचित नहीं है ।

जीवन क्षणस्थायी है । यह मनुष्य जन्म अनित्य होने पर भी अर्थप्रद अर्थात् भक्तिप्रद है । अतः जीवन रहते-रहते ही शीघ्र से शीघ्र अर्थ अर्थात् परमार्थ प्राप्त कर लेना चाहिए ।

मनुष्य स्वयं के प्रति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी का अभिमान करते हैं । किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा मिथ्या अभिमान नहीं करते । क्योंकि हम भगवान के दास हैं । हम इस जगत की कोई वस्तु नहीं हैं । शरीर के प्रति आत्मबुद्धि भ्रान्तिमात्र है । महाप्रभु ने कहा है- **जीवेर स्वभाव - कृष्णदास - अभिमान ।**
देहे आत्मज्ञाने आच्छादित सेइ ज्ञान ।।

अहं-मम-भावकारी (शरीर के प्रति मैं और शरीर सम्बन्धी वस्तुओं के प्रति मेरी बुद्धिवाले) व्यक्तियों की जिह्वा पर हरिनाम उच्चारित नहीं होता । हम कृष्ण बहिर्मुख जीव हैं । कृष्ण को भूलकर हम लोग माया के गाल में पड़े हुए हैं । ऐसी अवस्था में अहंकार का त्यागकर हरि-गुरु के पादपद्मों में शरणागति के अतिरिक्त आत्म-कल्याण का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

हाथी अपने को हाथी तथा कुत्ता अपने को कुत्ता मानता है, किन्तु मनुष्य को ऐसा न कर अपने स्वरूप का अभिमान करना चाहिए । अर्थात् मनुष्य को ऐसा अभिमान होना चाहिए कि मैं भगवान का दास हूँ । महाप्रभु ने कहा है-

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास ।

अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्ण का नित्यदास है । प्रत्येक अणु-परमाणु में श्रीहरि अवस्थित हैं । वे मूर्ख से उसकी मूर्खता और पण्डित से उसका पाण्डित्य छुड़वाकर सभी को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं । जिसकी भोग की वासना, बड़ा बनने की आशा और साधु के रूप में प्रशंसा पाने की अभिलाषा नहीं हैं, वे ही उनकी कथाओं को सुनेंगे । किन्तु जो इन सब तुच्छ वस्तुओं को चाहते हैं, उनके कानों में प्रभु की आवाज नहीं पहुँचेगी । लेकिन उन्हें यह जानना चाहिए कि मृत्यु अवश्यम्भावी है । '**अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः**' अर्थात् आज या सौ वर्षों के बाद प्राणियों की मृत्यु निश्चित है ।

हम चैतन्य वस्तु हैं । किन्तु चेतन होकर भी जब हम लोग भगवान के भक्तों के निकट न जाएँ, उनकी कथाओं को न सुनें, तो हमारा सर्वनाश अनिवार्य है ।

मनुष्य जन्म के अतिरिक्त अन्य जन्म में हरिभजन का सुयोग नहीं है । अतः श्रेयः प्राप्त करने के लिए जीवन के अन्तिम समय तक जगत की समस्त बातों को छोड़कर हम केवलमात्र भगवद् भजन करेंगे । जगत के सभी लोग मेरा सर्वनाश करने के लिए प्रस्तुत हैं । इस बन्धुविहीन देश में आत्मीय-नामधारी सभी लोग भगवद् भजन के प्रतिकूल हैं । आत्मीय के रूप में एकमात्र वैष्णव के आश्रय के अतिरिक्त हमारा अन्य उपाय नहीं है । किसी मनुष्य के लिए कोई कार्य करने की आवश्यकता नहीं है– सब लोग मिलकर केवल मात्र भगवान के सेवकों की सेवा करें । विद्या, बुद्धि, पाण्डित्य, बल, अर्थ, सामर्थ्य के द्वारा सभी लोग भगवान की सेवा करें । 'तूर्ण यतेत' (तुरन्त प्रयास करो)-विलम्ब करने से असुविधा में पड़ जाएंगे ।

अवैष्णव-धर्म ग्रहण करनेवाले का मंगल नहीं हो सकता । समस्त प्रकार के मंगल वैष्णव के चरणकमलों के आश्रय लेने वाले के लिए हस्तामलक (हथेली में आँवले) के समान है । अवैष्णव ने ही अपने गले में जन्म-मरण की माला धारण की है । हरिपरायण लोगों का कदापि मातृगर्भ में पुनर्जन्म नहीं होता है । वैष्णव की बात दूर रहे, वैष्णव के अलौकिक असामान्य चरणकमलों के दर्शन का सुयोग जिन्हें प्राप्त हुआ है, उनका भी पुनर्जन्म नहीं है ।

190 **प्र०–गुरु का कार्य कौन कर सकता है ?**

उ०-कृष्णतत्त्वविद् कृष्ण-भक्त ही गुरु हैं । कर्मी, योगी तथा निर्विशेष ब्रह्मज्ञानी अभक्त होने के कारण कभी भी गुरु नहीं हो सकते । Personality of Godhead के उपासक ही गुरु हो सकते हैं । परन्तु श्रीकृष्ण के सेवक अभिमानी (कृष्ण के उपासक) भी गुरु नहीं हो सकते, यदि वे अपने को अपने शिष्य का शिष्य न मानें । अपने प्रति वैष्णव अभिमान रहने पर गुरु नहीं हुआ जा सकता । इसलिए जो गुरु का कार्य करते हैं, वे कभी भी अपने को वैष्णव या गुरु न कहते हैं तथा न ही मानते हैं । इसीलिए हमारे श्रीगुरुदेव कभी भी अपने को गुरु नहीं कहते थे । क्योंकि जो स्वयं को वैष्णव कहता है, वह तो Branded अवैष्णव है । इसीलिए महाजनों ने गाया है-

आमि त वैष्णव, ए बुद्धि हइले, अमानि ना हब आमि ।
प्रतिष्ठाशा आसि, हृदय दूषिबे, हइब निरयगामी ।।

तोमार किंकर, आपने जानिब, गुरु अभिमान त्यजि ।
तोमार उच्छिष्ट, पद-जल-रेणु, सदा निष्कपटे भजि ।।
निजे श्रेष्ठ जानि, उच्छिष्टादि दाने, हबे अभिमान भार ।
ताइ शिष्य तव, थाकिया सर्वदा,ना लइब पूजा कार ।।

अर्थात् हे गुरुदेव ! यदि मेरी बुद्धि ऐसी हो गयी कि मैं वैष्णव हो गया हूँ, तो फिर मैं कभी भी अमानी (अपना मान न चाहने वाला) नहीं हो पाऊँगा । प्रतिष्ठा प्राप्ति की आशा मेरे हृदय में आकर उसे दूषित कर देगी, जिसके फलस्वरूप मैं नरकगामी हो जाऊँगा । इसलिए मैं गुरु होने का अभिमान त्यागकर सर्वदा ही अपने को आपका दास मानता रहूँगा और सदा ही आपका उच्छिट प्रसाद, चरणामृत, चरणधूलि को गहण करता रहूँगा । यदि मैं अपने को श्रेष्ठ मानकर दूसरों को अपना उच्छिष्ट प्रदान करूँगा, तो भयंकर अभिमान के भार से मैं दब जाऊँगा । इसीलिए मैं सदा ही आपका शिष्य होकर रहूँ तथा किसी की भी पूजा ग्रहण न करूँ ।

महाभागवत ही गुरु होते हैं । जो सर्वत्र ही गुरु दर्शन करते हैं, ऐसे महाभागवत ही गुरु का कार्य कर सकते हैं । वे लघु को गुरु कर सकते हैं तथा सभी को कृष्णभक्त बना सकते हैं । स्वयं भक्त हुए बिना दूसरे को भक्त नहीं बनाया जा सकता । इसलिए गुरु होने का तात्पर्य है-कृष्णभक्त होना । जो गुरु होना चाहता है, उसे सब समय अपनी समस्त इन्द्रियों को कृष्ण की सेवा में नियुक्त करना होगा । गुरुनिष्ठ न होने पर अर्थात् गुरु के प्रति दृढ़निष्ठा न रहने पर गुरु का कार्य करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता ।

महाभागवत तृण से दीन-हीन होते हैं, वे अपने को सबसे छोटा मानते हैं । शिष्य होकर मैंने बहुत दिनों तक दासता की, अब शिष्यगिरि अच्छी नहीं लगती, अतः अब मुझे गुरुगिरि करनी चाहिए-वे ऐसा कभी नहीं कहते । वे गुरु का कार्य तो करते हैं, परन्तु उनके हृदय में गुरु होने का अभिमान नहीं होता ।

191 **प्र० - सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ?**

उ० - श्रीगुरु एवं श्रीगौरांग के चरणकमलों में शरणागत होकर निष्कपट रूप से भजन करने पर ही सिद्धि प्राप्त होगी । कपटी व्यक्ति कदापि सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता । भक्ति-पथ में कपटता के लिए कोई स्थान नहीं है । कपटता भक्ति में भीषण बाधक है । खाते समय यदि मैं सभ्य दीखने के लिए कम खाऊँगा, तो मेरा पेट ही नहीं भरेगा । लोहार को इस्पात् (स्टील) ठगने से

(नकली स्टील देने से) स्वयं ही ठगा जाऊँगा । इसलिए हरिभजन करते समय कपटता नहीं करनी चाहिए । अत्यन्त सरलतापूर्वक भगवान की सेवा करनी होगी । भगवान का वाक्य मेरे गुरुदेव तक है, मैं उस वाक्य का सरलता से पालन करूँगा, तभी सिद्धि होगी ।

192 **प्र० – असली शिष्य के विचार कैसे होते हैं ?**

उ० – गुरु ही जिनके जीवन हैं, गुरु ही जिनके आदर्श हैं, गुरुसेवा ही जिनका व्रत है, गुरु एवं कृष्ण में समान रूप से प्रीतियुक्त होने पर भी जो गुरु के अधिक पक्षपाती हैं, वे ही गुरुभक्त या असली शिष्य हैं । असली शिष्य दुर्बल नहीं होते, वे गुरु की कृपा के बल से बलवान् होते हैं । गुरु की कृपा या गुरुसेवा ही उनका बल या भरोसा है । असली शिष्य प्राण जाने पर भी कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते । श्रीगुरुदेव कृपापूर्वक उसे जिस सेवा का भार प्रदान करते हैं, उसे वह प्राण देकर भी पूरा करते हैं, इसीलिए वे गुरु की कृपा भी पाते हैं ।

193 **प्र० – क्या भक्तों का आश्रय लिये बिना भगवान की सेवा नहीं होती ?**

उ० – कदापि नहीं । भगवान के भक्तों का आश्रय ग्रहण किये बिना भगवान के श्रीचरणकमलों का आश्रय ग्रहण नहीं किया जा सकता । भक्तों का संग उनके आश्रय बिना हमें भगवान की प्राप्ति नहीं हो सकती । हमलोग पतित जीव हैं । हम अपना मंगल स्वयं नहीं कर सकते । जब तक हमलोग पतितपावन अर्थात् पतितों को भी पावन करने वाले भक्तों के चरणों का आश्रय ग्रहण नहीं करेंगे, तब तक हमारा कल्याण सम्भव नहीं है । भक्तों के संग के अतिरिक्त मंगल का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

194 **प्र० – दीक्षा का स्वरूप क्या है ?**

उ० – आदौ सम्बन्ध ज्ञान । अर्थात् भक्तिमार्ग में सर्वप्रथम सम्बन्ध ज्ञान की आवश्यकता होती है । सम्बन्ध ज्ञान का दूसरा नाम ही दिव्यज्ञान या दीक्षा है । केवल मन्त्र का उपदेश ही दीक्षा नहीं है । बल्कि जिसके द्वारा दिव्यज्ञान प्राप्त होता है, उसी का नाम दीक्षा है । जीव अपने – आप सैकड़ों ग्रन्थों के पाठ के द्वारा या अपनी इच्छानुसार भजन का अभिनय करके भी अपना कल्याण नहीं कर सकता । गुरु ही कृपापूर्वक निष्कपट एवं सेवापरायण शिष्य को दिव्यज्ञान प्रदान करते हैं । जो अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग कर गुरु के निर्देशानुसार

चलते हैं, वे ही गुरुकृपा प्राप्ति के अधिकारी होते हैं । वे ही दिव्यज्ञान प्राप्तकर धन्य या कृतार्थ हो जाते हैं ।

195 **प्र०–अब हमारा प्रधान कर्तव्य क्या है ?**

उ०–हम प्रत्येक जन्म में ही विषयों को प्राप्त करेंगे, भोक्ता होकर कर्मफल का भोग भी भोगेंगे । उन समस्त भोगों को भोगने के लिए तो बहुत से जन्म हैं, परन्तु जो काम सबसे बड़ा है–भगवान की सेवा, जो मनुष्य जन्म के अतिरिक्त किसी भी जन्म में सम्भव नहीं है, हमें उठकर तत्परता से उसमें लग जाना चाहिए । यदि हम देवता होते, तो हमें हरिकथा सुनने का अवसर या समय प्राप्त नहीं हो पाता । अतः जीवन रहते–रहते ही जिससे हमें भगवान की प्राप्ति हो जाय, इसके लिए हमें जी–जान से चेष्टा करनी चाहिए । क्योंकि भगवान की सेवा के अतिरिक्त जीव के लिए बड़ा कर्तव्य और कोई नहीं है ।

196 **प्र०–ब्रह्मचारी का क्या कर्तव्य है ?**

उ०–ब्रह्मचारी संसार में प्रविष्ट नहीं होते । संसारी लोगों का कष्ट देखकर वे पहले ही सतर्क हो जाते हैं । परन्तु कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि मुझे कौन बाँध सकता है ? जो भी हो, संसार में प्रविष्ट हो ही जाता हूँ, सुख या दुःख में कैसे भी जीवन कट ही जायेगा । ऐसा विचारकर अनेक लोग विपत्ति में पड़ जाते हैं ।

भगवान की सेवा की ही आवश्यकता है । उसी से ही मंगल होता है । इससे बड़ा कर्तव्य अन्य कुछ भी नहीं हैं । सेवा में ही शान्ति है, सेवा में ही सुख है, सेवा ही जीव का नित्यधर्म है । परन्तु भगवान की सेवा छोड़कर अपने सुख के लिए चेष्टा करने के कारण ही दुःखों की प्राप्ति होती है । इसलिए माया के संसार में प्रविष्ट न होकर कृष्ण के संसार में प्रविष्ट होने से ही कल्याण होगा ।

197 **प्र०–जागतिक शान्ति या अशान्ति कैसी है ?**

उ०–भगवान एक हैं, किन्तु मनुष्य आदि जीव बहुत हैं । बहुतों के साथ सम्पर्क रहने के कारण एक के साथ (भगवान के साथ) हमारा सम्पर्क कम हो गया है । परन्तु चित्–जगत में सभी एक की (भगवान की) सेवा में व्यस्त रहते हैं । वहाँ पर शान्ति या अशान्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है । जिसे हम शान्ति या अशान्ति समझते हैं, वास्तव में हमें इन दोनों की उपलब्धि तो हमारी भोगपिपासा के कारण ही होती है । भोगों के सामयिक अभाव का नाम अशान्ति है तथा सामयिक भोगों की प्राप्ति को ही हम शान्ति कहते हैं । किन्तु हम यह

विचार नहीं कर पाते कि वास्तव में क्षणिक शान्ति तो अशान्ति की ही पूर्व अवस्था है ।

शान्ति - अशान्ति या सुख - दुःख - दोनों ही परिवर्तनशील हैं । दुख का अनुभव कम होने पर सुख की उपलब्धि होती है, तथा सुख की अनुभूति कम होने के कारण दुःख का अनुभव होता है । अनेक लोग यह देखते या जानते हुए भी कि सुख के भीतर दुःख छिपा हुआ है, प्राप्त हुए भोगों को भोग ही लूँ- ऐसी कामना से प्रेरित होकर दुःख या अशान्ति के यूपकाष्ठ पर (जिसमें बकरे की गर्दन फँसाकर उसकी बलि दी जाती है) अपनी बलि दे देते हैं । इस प्रकार की असहिष्णुता या धैर्य - शून्यता ही हमारे लिए अनेक प्रकार की असुविधाएँ उत्पन्न कर देती है । इसलिए हमें सहिष्णु और धैर्यशील होना आवश्यक है । कैसी भी विपत्ति क्यों न आ जाय, मन में खूब धैर्य रखना चाहिए । मार्ग में जाते समय शराब की दुकान देखने पर शराब पीने के लिए उस ओर दौड़ना, किसी धनी व्यक्ति का धन देखकर धनी होने का यत्न करना, सुन्दर रूप देखकर उस रूप को भोगने के लिए उसके पीछे दौड़ना, किसी का पाण्डित्य देखकर पण्डित होने के लिए उत्कण्ठित हो जाना, ये सब अधैर्य के लक्षण हैं ।

198 **प्र० – साधक की कथा और सिद्ध की कथा में क्या वैशिष्ट्य है ?**

उ० - अपने अनुभव की बातों को या अपने स्वाभाविक आर्तिकी बातों को स्वयं वर्णन करना तथा दूसरे के अनुभव की या आर्ति (विरह) की बातों को सुनकर या दूसरे की ओर से कहना, दोनों ही सम्पूर्णरूप से अलग हैं । जो अपना case स्वयं ही plead करता है, वह जैसे सब बातें अकृत्रिम रूप से या सुष्ठुरूप से कह सकता है, दूसरा व्यक्ति वैसा नहीं कर सकता । साधक और सिद्ध दोनों की कथाओं में यही वैशिष्ट्य है ।

199 **प्र० – महाप्रभु गोपी गोपी क्यों जपा करते थे ?**

उ० - लोकशिक्षक भगवान श्रीचैतन्यदेव 'गोपी' नाम क्यों जपते थे, जड़बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति इसे नही समझ सकता । आश्रयविग्रह के नाम - कीर्तन के बिना कृष्णनाम नहीं हो सकता । आश्रयविग्रह श्रीगुरुदेव के आनुगत्य के बिना विषयविग्रह श्रीकृष्ण की सेवा नहीं हो सकती, यह शिक्षा प्रदान करने के लिए महाप्रभु ने ऐसी लीला की । **'राधा भजने यदि मति नाहि भेला । कृष्ण भजन तब अकारण गेला ।।'** अर्थात् यदि किसी की राधाजी के भजन में मति नहीं है, तो उसका कृष्णभजन व्यर्थ ही चला जाता है ।

200 **प्र०–सेवोन्मुख कर्ण के बिना क्या श्रवण नहीं हो सकता ?**

उ०–नहीं ! हरेकृष्ण नाम predominating Agent तथा कर्ण predominated Agent हैं । अर्थात् हरेकृष्ण नाम नियामक या प्रभु हैं और कर्ण नियम्य या वश्य है । कर्ण जहाँ पर नियामक या प्रभु हैं, वहाँ पर नामश्रवण या कीर्तन-श्रवण नहीं होता । जो कर्ण हरिकीर्तन को भोग करना या मापना चाहते हैं, ऐसे कर्णों के द्वारा हरिकीर्तन या हरिनाम नहीं सुना जा सकता । सेवोन्मुख कर्ण या सेवोन्मुख इन्द्रिय के द्वारा ही सेव्य की सेवा होती है । भोगोन्मुख कर्ण के द्वारा जो श्रवण का अभिनय होता है, वह अपराध है, सेवा नहीं । इसीलिए श्रीरूप गोस्वामी प्रभु ने कहा है–

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ।।

अर्थात् श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीला आदि को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता । जब साधक की समस्त इन्द्रियाँ सेवान्मुख हो जाती हैं, उस समय वे कृष्णनामादि साधक की जिह्वा आदि में स्वयं स्फुरित हो जाते हैं ।

201 **प्र०–अधोक्षज और अप्राकृत में क्या वैशिष्ट्य है ?**

उ०–भगवान को भक्ति के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है । भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से अधोक्षज-वस्तु भगवान को नहीं जाना जा सकता । भगवान या भक्त की कृपा से ही भक्ति प्राप्त हो सकती है । भगवान की कृपा के बिना भगवान को जानना सम्भव नहीं है । "ईश्वरेर कृपालेश हय त याहारे । सेइ त ईश्वर तत्त्व जानिबारे पारे ।।" अर्थात् जिस पर भगवान की लेशमात्र भी कृपा हो जाती है, केवल वही उन्हें जान सकता है । यदि Personality of Godhead ignored हुए, तो भगवान की भक्ति कभी भी नहीं हो सकती । क्योंकि Personality of Godhead is the indispensable factor of भक्ति ।

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे-इस शास्त्रवाक्य से जाना जाता है कि अधोक्षज (भगवान) की सेवा से ही अनर्थ दूर हो जाते हैं । इसीलिए अधोक्षज चतुर्भुज हैं । वे अपने अस्त्रों के द्वारा जीव के अनर्थों को नष्ट कर देते हैं । अधोक्षज वस्तु में मर्यादा का विचार है । वहाँ पर ईश्वर बुद्धि प्रबल होती है ।

अप्राकृत वस्तु बाह्यरूप से प्राकृत के समान ही होती है, किन्तु प्राकृत नहीं है । यहाँ पर ईश्वर बुद्धि नहीं है, बल्कि अपनत्व बुद्धि प्रबल है । अप्राकृत के विचार में अनर्थ नहीं है । सम्पूर्ण रूप से अनर्थों के दूर होने पर ही अप्राकृत का विचार उपस्थित होता है । अप्राकृत वस्तु द्विभुज-मुरलीधर हैं । उनकी सेवा विश्रम्भ या प्रीतिपूर्वक ही होती है । पर, व्यूह, वैभव, अन्तर्यामी और अर्चा-इस विचार से परतत्त्व एकमात्र कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता । परतत्त्व के लिए ही अप्राकृत शब्द का प्रयोग होता है । व्यूह और वैभव-तत्त्व में अधोक्षज शब्द, अन्तर्यामी तत्त्व में अपरोक्ष-शब्द एवं अर्चा तत्त्व में परोक्ष तथा प्रत्यक्ष-शब्द का प्रयोग होता है ।

202 **प्र०-क्या व्यक्तिगत कथा के द्वारा अधिक मंगल होता है ?**

उ०-अवश्य ही । Platform speaker की अपेक्षा जो प्रत्येक को व्यक्तिगत रूप से उपदेश प्रदान करते हैं, वे लोगों का अधिक व्यक्तिगत उपकार कर सकते हैं । Platform speaker साधारण रूप में जो कथाएँ करते हैं, उनसे कई बार सभी समस्याओं का समाधान या प्रत्येक व्यक्ति का मंगल नहीं होता । कालेजों या स्कूलों में साधारण रूप में वक्तृता सुनने की अपेक्षा coaching class या private tutorial class में व्यक्तिगत defect अधिक रूप में संशोधित होते हैं । इसलिए जो लोगों को पृथक्-पृथक् रूप में उपदेश प्रदान करते हैं, उसके द्वारा वे लोगों का अधिक स्थायी उपकार कर सकते हैं ।

203 **प्र०-शुद्ध कीर्तन क्या है ?**

उ०-कीर्तन श्रवण के ऊपर निर्भर करता है । जिसके द्वारा अपना या दूसरों का इन्द्रिय तर्पण होता है, वह कीर्तन या भक्ति नहीं है । भगवान के सुख के लिए जो कीर्तन होता है, वही शुद्ध कीर्तन है । श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है-श्रीहरि का कीर्तन ही Cent percent education अर्थात् हरिकीर्तन ही असली शिक्षा है । हरिकथा जितनी सुनी जाय, उतना ही मंगल होगा ।

204 **प्र०-क्या भक्ति का प्रयोग केवल भगवान के लिए ही होता है ?**

उ०-भगवान विष्णु किसी के भी Order Supplier नहीं हैं । वे तो Order Suppliers के प्रभुओं के भी प्रभु हैं । विष्णु ही सबके एकमात्र सेव्य (प्रभु) होने के कारण भक्ति शब्द का उपयोग केवल विष्णु के लिए ही होता है । यद्यपि अन्यान्य देवताओं के पूजक देवताओं की पूजा को भक्ति कहते हैं,

परन्तु अन्यान्य देवताओं के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता । अन्यान्य देवताओं की पूजा से हम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि चाहते हैं, किन्तु विष्णु की पूजा के समय विष्णु क्या चाहते हैं, केवल इसी का ध्यान दिया जाता है ।

भगवान, भक्ति और भक्त एक सूत्र में गुँथे होते हैं । भक्ति ही भगवान के साथ भक्त का योगसूत्र है । भगवान भक्त के उपास्य हैं और भक्त भगवान के सेवक हैं । **देवता भगवान नहीं हैं, वे जीव तत्त्व हैं, सेवक तत्त्व हैं ।** शास्त्र कहते हैं–

एकला ईश्वर कृष्ण आर सब भृत्य ।
यारे यैछे नाचाय से तैछे करे नृत्य ।। (चै . च .)

अर्थात् कृष्ण ही एकमात्र ईश्वर हैं, बाकी सब सेवक हैं । वे जिसे जैसे नचाते हैं, वह वैसे ही नाचता है ।

हरिरेव सदाराध्य सर्वदेवेश्वरेश्वरः ।
इतरे ब्रह्म–रुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन ।।
यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म–रूदादि–दैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ।।

(पद्मपुराण)

हरि ही सदा आराध्य हैं । वे समस्त देवाताओं के ईश्वरों के भी ईश्वर हैं । परन्तु कभी भी अन्यान्य देवाताओं की अवज्ञा भी नहीं करनी चाहिए । **जो ब्रह्म, रूद आदि देवताओं को नारायण के समान मानते हैं, अवश्य ही वे पाषण्डी हो जाते हैं ।**

शास्त्रों में पूर्णवस्तु भगवान श्रीहरि की सेवा को ही भक्ति कहा गया है । किन्तु आजकल भक्ति शब्द का अनेक प्रकार से अपव्यवहार हो रहा है । जैसे–पितृभक्ति, राजभक्ति या पाठशाला की गुरुभक्ति । भक्ति किसे कहते हैं, किस वस्तु के माध्यम से भक्ति प्राप्त की जा सकती है, इसका विचार ठीक–ठीक न होने पर हमें असुविधा में पड़ जाते हैं । समस्त इन्द्रियों से हृषीकेश श्रीहरि की सेवा को ही भक्ति कहते हैं । शास्त्र कहते हैं–

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते ।।

(नारदपञ्चरात्र)

भगवान श्रीगौरांगदेव ने भी कहा है-

अन्य वाञ्छा, अन्य पूजा छाड़ि ज्ञान कर्म ।
आनुकूल्ये सर्वेन्दिय कृष्णानुशीलन ।।
एइ शुद्धभक्ति, इहा हैते प्रेमा हय ।
पञ्चरात्रे, भागवते एइ लक्षण कय ।। (चै. च.)

अर्थात् पञ्चरात्र तथा भागवत में शुद्धभक्ति के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि भगवान की सेवा के अतिरिक्त सभी प्रकार की वाञ्छाओं, अन्यान्य देवी-देवताओं की पूजा और ज्ञान-कर्म को छोड़कर समस्त इन्द्रियों के द्वारा अनुकुलरूप में कृष्ण की सेवा को ही शुद्ध भक्ति कहते हैं । इसी शुद्ध भक्ति से प्रेम उत्पन्न होता है-

श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधा ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमें ।।
(भा. ३/२९-१०, १२)

भगवान श्रीहरि कह रहे हैं कि जिस प्रकार गंगा का जल अविच्छिन्न गति से समुद्र में मिल जाता है, ठीक वैसे ही जब मेरे गुणों का श्रवण करने मात्र से साधक का मन अविच्छिन्न गति से मुझ में लग जाता है, तो उसे निर्गुण भक्ति कहते हैं । पुरुषोत्तम मेरे प्रति वह भक्ति अहैतु की अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की इच्छा से रहित और अप्रतिहता होती है । अर्थात् नैरन्तर्यमयी होती है ।

205 **प्र०-हमारे प्रभु कौन हैं ?**

उ०-सब समय इसे स्मरण रखना चाहिए कि कृष्ण ही सबके एकमात्र प्रभु या सेव्य हैं तथा मैं कृष्ण का दास या सेवक हूँ । दूसरे लोग मेरी सेवा करेंगे, ऐसी दुर्बुद्धि से यदि हम नहीं बच सके, तो हमारा कल्याण नहीं हो सकता ।

प्रत्येक व्यक्ति ही अपने को सबसे अधिक दीन-हीन जानकर दूसरे मठवासी वैष्णवों की सेवा करेंगे । कहीं हम यह न भूल जाएँ कि सब समय कृष्ण की सेवा ही हमारा कर्तव्य है । परन्तु कृष्णसेवा की अपेक्षा गुरु-वैष्णवों की सेवा अधिक प्रयोजनीय है ।

206 **प्र०-क्या नामकीर्तन अवश्य करणीय है ?**

उ० - अवश्य ही । परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् - यही गौड़ीय मठ का एकमात्र उपास्य है । श्रीनाम के उच्चारण को ही भक्ति समझें । हरिनाम का अन्य कोई Alternative नहीं है । जो लोग प्रतिदिन लाख - नाम ग्रहण नहीं करते हैं, उनकी दी हुई किसी भी वस्तु को भगवान् स्वीकार नहीं करते । प्रत्येक भगवद्भक्त गुरु के आनुगत्य में प्रत्यह लाख - नाम ग्रहण करेंगे, अन्यथा विविध विषयों में आसक्त होकर भगवत् सेवा करने में असमर्थ हो जायेंगे । इसीलिए श्रीगौड़ीय मठ के आश्रित सभी भक्त लाख - नाम ग्रहण करते हैं । नामाचार्य श्रीगुरुदेव के निष्कपट आनुगत्य और प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा के बिना हरिनाम नहीं होता है, इसे भी सदैव स्मरण रखें ।

अपराधों का परित्याग करके गुरु के आनुगत्य में हरिनाम - ग्रहण की इच्छा करने पर सदैव हरिनाम करते - करते अपराध दूर होंगे । हमारे दुर्भाग्य को हटाने के लिए श्रीनामभजन के बिना कोई अन्य उपाय नहीं है । जो सब दुर्भागे व्यक्ति 'एकमात्र भजन' शब्दवाच्य श्रीनामकीर्तन के प्रति उदासीन होकर अन्य भजन का छल करते हैं एवं गुरु - वैष्णव - सेवा त्यागकर नामभजन या श्रीमद्भागवत पाठ आदि करने का अभिनय करते हैं, वे सब दाम्भिक होने के कारण उन लोगों का कदापि मंगल नहीं हो सकता ।

207 **प्र० – संन्यासी – भक्त के श्रीचरणों में क्या हाथ देना (स्पर्श करना) उचित है ?**

उ० - इस भोगोन्मुख शरीर या पाप - शरीर को लेकर साधु - गुरु के श्रीचरणों में हाथ देना उचित नहीं है । श्रीचरणों में हाथ देने पर यदि साधु - गुरु असन्तुष्ट या दुःखित होते हैं, तब तो अमंगल ही हुआ । संन्यासी - भक्त लोग ये सब बिल्कुल पसन्द नहीं करते । साधु - गुरु के श्रीचरणों में हाथ देना लोगों की एक बीमारी या ख्याल हो गया है । प्रत्येक कार्य में गुरु - कृष्ण सुखी हो रहे हैं या नहीं, उसकी ओर हमारी तीव्र दृष्टि रहनी चाहिए, तब तो मंगल होगा । अन्यथा अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारना हो जाएगा ।

जो लोग भाव - प्रवणता या उत्तेजना के वशीभूत होकर मेरे जैसे संन्यासी का चरणस्पर्श करने के लिए प्रस्तुत हैं, उन लोगों को मैं अपने गुरुदेव की भाषा में कह रहा हूँ–वे लोग साधु की पदधूलि ग्रहण करने के लिए हाथ फैलाने का साहस क्यों करेंगे ? ऐसा दुःसाहस क्या अच्छा है ? उन लोगों में ऐसी क्या योग्यता है, जिससे वे अपने को इस प्रकार योग्य या बड़ा मान सकेंगे ?

साधु-गुरु की सेवा या सुख की ओर दृष्टि नहीं है, ऐसे गृहासक्त लोगों का साधु-गुरु का चरणस्पर्श करना अन्याय है, यह सहज ही अनुमेय है

आपलोग यदि दूर से प्रणाम आदि करते हैं, तब हम भी दूर से प्रणाम कर सकते हैं । पुनः यदि पैर छूने की चेष्टा लेकर जबरदस्ती होने लगी, तो स्थूल बातों में ही चित्त आकर्षित हो जाएगा, यह तो मंगल के स्थान पर अमंगल को ही आवाहन करना हुआ-हितके विपरीत फल हुआ । अतः इस प्रकार अपराधमय कार्य से मंगलाकांक्षी व्यक्तिमात्र को ही सावधान होना चाहिए ।

208 **प्र०-शिष्य को क्या करना चाहिए ?**

उ०-वास्तव गुरु किसी को भी शिष्य नहीं करते, वे सभी को गुरु करते हैं, बहिर्मुख को कृष्णोन्मुख करते हैं, सभी को कृष्णभक्त करते हैं, सभी को कृष्णसेवा में नियुक्तकर कृष्ण का सुखविधान करते हैं । गुरु का दर्शन, क्रिया आदि-सभी भक्ति हैं । गुरु का सर्वत्र गुरुदर्शन-कृष्ण-सम्बन्ध दर्शन है, उनमें लघुदर्शन, भोग्यदर्शन या विश्वदर्शन नहीं है । मेडीकल प्रोफेसर जिस प्रकार छात्र तैयार न कर डॉक्टर तैयार करते हैं, गुरु का कार्य भी उसी प्रकार का है ।

यदि वैष्णव गुरुगिरी का कार्य नहीं करते, तो पारमार्थिक वैष्णववंश रुक जाएगा । पुनः यदि वे गुरु का कार्य करते हैं, तो अवैष्णव हो जाते हैं । इसीलिए अयोग्य होकर गुरु का कार्य करना ठीक नहीं है, उसमें अमंगल या अधःपतन ही होता है । गुरु में गुरु-अभिमान नहीं होता है, उनके हृदय में भगवद्-दास अभिमान ही प्रबल रूप से है । किन्तु गुरु यदि सोचते हैं-मैं गुरु हैं, तब गुरु शब्द के प्रथम वर्ण से उ-मात्रा लुप्त हो जाती है (अर्थात् गरु शब्द बनता है, बंगला भाषा में जिसका अर्थ गाय, बैल आदि है) असल गुरु २४ घंटों में से २४ घंटे ही भगवत् सेवा में व्यस्त रहते हैं । कृष्णसेवा के अतिरिक्त उनका कोई अन्य कार्य नहीं हैं । गुरुसेवाप्राण, गुरुनिष्ठ भक्त के अतिरिक्त गुरु का कार्य करने के लिए दूसरे का अधिकार नहीं है ।

209 **प्र०-हमलोग विषयों को किस प्रकार स्वीकार करेंगे ?**

उ०-हम यथायोग्य विषय स्वीकार करेंगे, अधिक विलासिता में नहीं जायेंगे, अथवा जिससे आत्महत्या हो जाए-शरीर को ऐसा पीड़ित भी नहीं करेंगे । हम सदैव हरिकीर्तन के अनुशीलन में, उसके अनुकूल जीवन यापन करेंगे । शब्दब्रह्म की सेवा के अतिरिक्त जीव के मंगल की सम्भावना नहीं है । इसलिए वेदान्त में कहा गया है-अनावृत्तिः शब्दात्, अनावृत्तिः शब्दात् ।

वस्तुतः हरिकीर्तन के द्वारा ही श्रीहरि का इन्द्रियतर्पण होता है, जिससे सबका मंगल होता है । बद्धजीव की इन्द्रियतृप्ति के द्वारा व्यष्टि या समष्टि किसी का भी असल उपकार या मंगल नहीं होता है ।

हम भगवत् सेवा के लिए ही शरीर की रक्षा करेंगे । अपने इन्द्रियतर्पण के लिए शरीर की रक्षा कर क्या लाभ होगा ? उससे तो नरक में ही जायेंगे ।

जितना विषय ग्रहण करने से हरिसेवा का सुयोग होता है, उतना ही विषय ग्रहणीय है, अधिक या कम नहीं ।

210 **प्र० – सद्धर्म क्या है?**

उ० – भागवतधर्म – भक्तिधर्म या भगवत्सेवाधर्म ही सद्धर्म है । भगवत्सेवा और भक्तसेवा दोनों ही सद्धर्म हैं । इसके अतिरिक्त अन्य सभी असद्धर्म – अनित्यधर्म या अनात्मधर्म हैं । सद्धर्म भगवान की भक्ति ही आत्मधर्म, नित्यधर्म या सनातन धर्म है ।

सभी भगवान के सेवक हैं – यह विचार आ जाने पर समदर्शी हो सकते हैं, बड़े – छोटे की भेदबुद्धि से मुक्त हो सकते हैं । सब प्रकार से शान्तिप्रद पथ का अनुसरण कर जो मंगल प्राप्त होता है, वह मंगल अन्य कुछ नहीं, भगवत् सेवा ही है ।

भगवद् भक्ति ही सनातन धर्म, नित्यधर्म, परमधर्म या आत्मधर्म है । भक्ति के बिना जीव का जीवन व्यर्थ है । भगवान की भक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी चेष्टाएँ प्रभु होने की चेष्टाएँ हैं । एक ओर भक्ति है और दूसरी ओर प्रभुत्व – प्राप्ति की चेष्टारूप कर्म, ज्ञान योग और अन्याभिलाष हैं । हरिनाम कीर्तन भागवत धर्म या सद्धर्म की पराकाष्ठा है । कृष्णनाम के अतिरिक्त जगत में भव – व्याधि की दूसरी कोई औषधि नहीं है ।

211 **प्र० – कर्ताभजा क्या है ?**

उ० – कर्ताभजा एक अपसम्प्रदाय है, ये लोग वैष्णव या भक्त नहीं हैं । इनका विचार है – गुरु ही स्वयं कृष्ण अर्थात् भोक्ता – भगवान हैं । अतः कृष्ण – आराधना की कोई आवश्यकता नहीं है । यह पाखण्ड मतवाद है ।

गुरुदेव कृष्ण तो हैं, किन्तु भोक्ता – भगवान नहीं हैं, वे सेवक – भगवान आश्रयविग्रह या सेवाविग्रह हैं । गुरु कृष्ण होने पर भी कृष्णप्रेष्ठ हैं । कृष्ण ही अपनी सेवा स्वयं शिक्षा देने के लिए गुरुरूप में विश्व में प्रकटित हैं । गुरु विषयविग्रह या शक्तिमान् तत्त्व नहीं हैं, वे कृष्ण की पूर्णशक्ति आश्रयजातीय

ब्रह्मवस्तु हैं । वे सेवाविग्रह, भक्तिविग्रह, आश्रयविग्रह या सेवक-भगवान होने के कारण उनमें भोगबुद्धि लेशमात्र भी नहीं है । इसीलिए गुरुनिष्ठ वैष्णवगण गुरु के आनुगत्य में कृष्णसेवा करते हैं, गुरु के होकर कृष्णसेवा को अपना जीवन बनाते हैं । वे लोग कदापि गुरु को रासविहारी, गोपीनाथ या राधानाथ नहीं समझते ।

212 **प्र०-लोगों को किस प्रकार सम्मान देना होता है ?**

उ०-भक्तगण कृष्णसम्बन्ध के अतिरिक्त किसी को भी सम्मान देने के पक्ष में नहीं हैं । वे लोग प्रत्येक वस्तु को अन्तर्यामी सूत्र से कृष्णाधिष्ठान जानकर देवता, मनुष्य आदि समस्त जीवों को भगवत् सेवक समझकर सम्मान देते हैं । इसलिए श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है-

उत्तम हञा वैष्णव हबे निरभिमान ।
जीवे सम्मान दिबे जानि, कृष्ण-अधिष्ठान ।।

अर्थात उत्तम होकर वैष्णव होंगे निरभिमान । जीवों को सम्मान देंगे, जानकर कृष्ण के अधिष्ठान ।।

213 **प्र०-दीक्षा ग्रहण के बाद क्या किसी की विषयों के प्रति आसक्ति रहती है ?**

उ०-कदापि नहीं । दिव्यज्ञान प्राप्ति का नाम है दीक्षा । श्रीभगवान अधोक्षज वस्तु हैं, मैं उन भगवान का सेवक हूँ, भगवान की सेवा के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई कार्य नहीं है या नहीं हो सकता -यही दिव्यज्ञान या असली दीक्षा है । जहाँ इस ज्ञान का अभाव है, वहीं अज्ञानता है अर्थात् दिव्यज्ञान नहीं हुआ-दीक्षा नहीं हुई, यह समझना होगा । 'दीक्षा' शब्द को समझने में ही गड़बड़ी हो जाती है । गुरु के निकट अभिगमन न कर 'मैंने सद्गुरु से दीक्षा ली है' मुख में यह कपट अभिमान कर रहा हूँ, इसीलिए समस्त अनर्थ उपस्थित हुए हैं । श्रीगुरुदेव के निकट दीक्षा अर्थात् दिव्यज्ञान प्राप्त करने के बाद विषय में अभिनिवेश किस प्रकार रह सकता है ? संसार में उन्नति करने की इच्छा भी किस प्रकार जग सकती है ? स्वतन्त्र दाम्भिक व्यक्तिगण सचमुच गुरु के निकट न जाकर अर्थात् दिव्यज्ञान या सम्बन्धयुक्त न होकर ही 'गुरु के निकट दीक्षा प्राप्त की है' इस प्रकार निरर्थक वाक्य बोलते रहते हैं । हम गुरुदेव को गुरु अर्थात् ईश्वर न समझकर कार्य में अपने शिष्य या शासन योग्य वस्तु में बदल देते हैं, उनको मनुष्य समझकर अपराधी हो जाते हैं । गुरु सेव्य वस्तु हैं । गुरु

से अधिक सेव्य कोई नहीं है । भगवत्सेवा से भी गुरुसेवा श्रेष्ठ है । गुरुसेवा के समान सर्वश्रेष्ठ धर्म अन्य कुछ भी नहीं है–इन सभी बातों को हम शास्त्र में सुनते हैं और मुख से भी बोलते हैं, किन्तु देहासक्ति, गृहासक्ति या स्वतन्त्रता प्रबल होने के कारण हम उसे (गुरुसेवा को) भूल कर अपनी सेवा और गृहसेवा को ही बड़ा कर्तव्य मानकर उसी में ही व्यस्त हो जाते हैं । जिस प्रकार बालक क्रीड़ा में प्रमत्त रहने के कारण कर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, खाना–पीना, लिखाई–पढ़ाई आदि सबकुछ भूल जाता है, हमारी अवस्था भी उसी प्रकार की हो गयी है । दीक्षाग्रहण के बाद भी हमारी भगवत् सेवा प्रवृत्ति जग नहीं रही है, प्रतिष्ठा और अर्थसंग्रही की स्पृहा एवं स्वजनों की सेवा की प्रचेष्टा ही हमारी नाक में रस्सी बाँधकर चारों ओर घुमा रही है । सौभाग्य से सेवा का सुयोग प्राप्तकर भी हम उसे पैरों से ठोकर मार रहे हैं । इसका परिणाम कैसा विषमय है, उसे बाद में समझ पाने पर अवश्य ही हताश होंगे, इसमें सन्देह नहीं है । साधुगुरु की बात न सुनकर वे लोग और क्या करेंगे ?

214 **प्र०–कर्म और ज्ञान क्या मेरा धर्म है ?**

उ०–नहीं । कर्मी होना या ज्ञानी होना जीव का प्रयोजन विषय नहीं है । कर्म और ज्ञान जीवात्मा के धर्म नहीं हैं । जीव भगवान का सेवक है, इसीलिए कृष्णसेवा ही जीव का नित्यधर्म है । **'जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास'** कर्मी और ज्ञानी दोनों ही स्वार्थी हैं, दोनों ही अपने सुख को लेकर व्यस्त हैं । वे लोग भगवान के भक्त नहीं हैं, बल्कि अभक्त हैं । इसीलिए भाग्यवान् सज्जन व्यक्ति कर्मी या ज्ञानी न होकर भगवान् के चरणकमलों का आश्रय करते हुए भक्तिपथ पर विचरण करते हैं ।

215 **प्र०–क्या श्रीकृष्णनाम–संकीर्तन ही एकमात्र साधन है ?**

उ०–अवश्य ही । हरिभजन के अतिरिक्त जीव का अन्य कोई कर्तव्य नहीं है– इस बात को लोग किसी भी प्रकार से समझ नहीं पा रहे हैं । बालक हो, वृद्ध हो, युवा हो, स्त्री हो, पुरुष हो, धनी हो, दरिद्र हो, पण्डित हो, मूर्ख हो, पापी हो, पुण्यवान् हो, किसी भी अवस्था में रहे, उनके लिए दूसरी कोई साधन प्रणाली नहीं है, साधन–एकमात्र श्रीकृष्णनाम–संकीर्तन है ।

216 **प्र०–सेवा क्या वस्तु है ?**

उ०–श्रीहरि के सेवकगण कहते हैं–हे जीव, तुम हरि की सेवा करो, और कुछ भी मत करो । हरिसेवा के नाम पर अपना इन्द्रियतर्पण नहीं करना,

बात रखो - कृष्ण के इन्द्रियतर्पण का नाम ही सेवा है । तुम्हारे बहिर्मुख आत्मीय स्वजनों का सुख जिसमें हो, उसी प्रकार के कार्यों को करने का नाम सेवा नहीं है । उसे सेवा मानने पर तुम ठगे जाओगे । गृहसेवा को भगवत् सेवा मानकर भूल मत करना, भगवान का आश्रय लेकर माया की सेवा में अधिक समय नष्ट मत करो, उसमें तुम्हारा मंगल नहीं होगा, परन्तु दिन प्रतिदिन संसार में ही आसक्त हो जाओगे, भगवत् प्राप्ति नहीं होगी । भगवान् के लिए व्याकुल होओ, तब तो भगवान को पाओगे । 'उड़ती खील कृष्णाय नमः' कहने पर क्या कृष्ण - सेवा होगी ? कृष्ण को धोखा देने पर स्वयं ही धोखा में पड़ जायेंगे । इसलिए कहता हूँ - चतुर होओ । सभी को धोखा देकर कृष्णसेवा करो । तभी अन्तर्यामी कृष्ण प्रसन्न होंगे ।

217 **प्र० - क्या हरिभजन रहित जीवन व्यर्थ है ?**

उ० - अवश्य ही । खाने की कोई आवश्यकता नहीं है - पीने की कोई आवश्यकता नहीं है, यदि कृष्णभजन नहीं करता हूँ । देवदुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्तकर यदि कृष्णभजन ही नहीं हुआ, तब तो जन्म - जन्मान्तर के लिए अत्यन्त असुविधा में ही पड़ना हुआ । 'कृष्ण भजिबार तरे संसारे आइनु । मिछे मायाय बद्ध हये वृक्षसम हैनु ।।' अर्थात् 'कृष्ण भजन करने के लिए संसार में आया । परन्तु झूठी माया में बँधकर वृक्ष के समान हो गया ।'

पशु मनुष्य होते हैं हरिभजन करने के लिए परन्तु हम मनुष्य होकर भी यदि पशु के समान आहार - विहार में ही व्यस्त रहे - संसार में ही मत्त रहकर हरिभजन नहीं किया अथवा हरिभजन के नाम पर जैसा विषयी था, वैसा विषयी ही रहा, तब हमारा जीवन व्यर्थ ही बीत गया, मनुष्य जन्म पाकर कोई लाभ नहीं हुआ ।

218 **प्र० - क्या श्रीनामसंकीर्तन ही साधन - शिरोमणि है?**

उ० - अवश्य ही । कलिकाल में श्रीनाम संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ साधन तो है ही, परन्तु यही एकमात्र साधन है - एकमात्र साधन है - एकमात्र साधन है । कलिकाल में हरिनाम कीर्तन के अतिरिक्त जीव का अन्य कोई साधन भजन कुछ भी नहीं है, नहीं है, नहीं है । इस श्रीनामसंकीर्तन के माध्यम से सर्वार्थसिद्धि होगी । शास्त्र कहते हैं -

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।।

कलिकाले नामरूपे कृष्ण-अवतार ।
नाम हैते हय सर्वजगत् निस्तार ।।
दार्ढ्य लागि हरेर्नाम उक्ति तिनबार ।
जड़ लोक बुझाइते पुनः एव-कार ।।
केवल शब्दे पुनरपि निश्चयकरण ।
कर्म-ज्ञान-योग-तप आदि निवारण ।।
अन्यथा ये माने, तार नाहिक निस्तार ।
नाहि, नाहि, नाहि-तिन उक्त एव-कार ।।

अर्थात् हरिनाम, हरिनाम, केवल हरिनाम ही है, कलियुग में इसके अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है । कलिकाल में श्रीकृष्ण का अवतार नामरूप में है, नाम से ही सम्पूर्ण जगत का उद्धार होता है । दृढ़ता के लिए 'हरेर्नाम' उक्ति की तीन बार पुनरावृत्ति की गयी है । जड़ जगत के लोगों को समझाने के लिए पुनः 'एव' का प्रयोग हुआ है । केवल शब्द में पुनः निश्चयकरण किया गया है और कर्म, ज्ञान, योग, तपस्या आदि का निवारण किया गया है । जो अन्यथा समझता है, उसका उद्धार असम्भव है । इसीलिए तीन बार 'नहीं, नहीं, नहीं' और 'एव' का प्रयोग हुआ है ।

शास्त्रों ने और भी कहा है-

नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म ।
सर्वमन्त्रसार नाम-एइ शास्त्रमर्म ।।
भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति ।
कृष्णप्रेम, कृष्ण दिते धरे महाशक्ति ।।
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नामसंकीर्तन ।
निरपराधे नाम लैले पाय पेमधन ।।

अर्थात् नाम के अतिरिक्त कलिकाल में कोई अन्य धर्म नहीं है । समस्त मन्त्रों का सार नाम है-यही शास्त्रमर्म है । भजन में नवधा भक्ति श्रेष्ठ है, जिसमें कृष्णप्रेम और कृष्ण को प्रदान करने में महाशाक्ति है । नवधा भक्ति में सर्वश्रेष्ठ नामसंकीर्तन है । निरपराध होकर नाम ग्रहण करने पर प्रेमधन प्राप्त होता है ।

६४ प्रकार के भक्ति-अंगों में श्रीनामसंकीर्तन की ही सर्वश्रेष्ठता है । नामसंकीर्तन द्वारा ही सर्वमंगल साधित होता है नामसंकीर्तन में भक्ति के नौ के

नौ अंग (श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि) आ जाते हैं । स्वयं भगवान श्रीगौरांगदेव की हार्दिक इच्छा यह है कि श्रीकृष्णकीर्तन ही एकमात्र अभिधेय है ।

जो नामकीर्तन करते हैं, उनका समस्त प्रकार से मंगल होता है । तब एक बात है - जो नामकीर्तन करेंगे, पहले उनको श्रवण करने की आवश्यकता है । श्रीकृष्णनाम - संकीर्तन ही साधन - शिरोमणि है । श्रीनामभजन में जीव की सर्वसिद्धि होती है । साधुसंग में नामकीर्तन के अतिरिक्त हमारा अन्य कोई कार्य नहीं है । श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य विषय - श्रीनामसंकीर्तन है । जो मुक्त हो चुके हैं, उनके लिए भी नामसंकीर्तन के अतिरिक्त अन्य कर्तव्य नहीं है । जो मन्त्र उच्चारणकारी हैं, वे अपने को श्रीनाम के चरणकमलों में अर्पण करते हैं । जिस दिन मन्त्रसिद्धि होती है, उसी दिन से उसके मुख में सब समय हरिनाम नृत्य करने लगते हैं । जो कृष्णकीर्तन करते हैं, ऐसे मठवासी भक्तों की सेवा से विमुख होकर भजन का अभिनय करने पर मंगल नहीं होगा । श्रीमद्भागवत - पाठ गृहस्थ एवं मठवासी सभी के लिए आवश्यक है ।

जिन - जिन वस्तुओं से हरिसेवा होती है, वे सब वस्तुएँ मठ में ही हैं । मठवासियों की सेवा करने पर ही श्रीनामसंकीर्तन में अधिकार प्राप्त होता है, श्रीनामभजन में रुचि बढ़ती है । किन्तु ऐसा न करके यदि हम बहिर्मुख आत्मीय स्वजनों की सेवा में ही लगे रहे, तो हरिनाम नहीं होगा ।

हरि - गुरु - वैष्णवों की सेवा से उदासीन होकर यदि संसार की सेवा में ही व्यस्त रहे, तो कभी भी नामपरायण नहीं हो पायेंगे । हमें नामपरायण करने के लिए ही श्रीराधागोविन्द - मिलित - तनु गौरांगदेव इस जगत में आये थे । किन्तु यदि हम उनकी बात न सुनकर श्रीनाम की सेवा से उदासीन रहें, तो हमारा कभी भी मंगल नहीं होगा ।

कृष्ण को प्राप्त करने का सबसे उत्कृष्ट साधन श्रीनामसंकीर्तन ही है । इसके अतिरिक्त अन्य साधन यदि कृष्णनाम संकीर्तन में सहायक हों, तभी उन्हें साधन कहा जायेगा, अन्यथा उन सभी साधनों को व्याघात समझना होगा ।

श्रीकृष्णनामसंकीर्तन साधनसम्राट् है । सर्वसिद्धि प्राप्ति का एकमात्र अमोघ साधन वैकुण्ठनाम कीर्तन ही है । श्रीमन्महाप्रभु ने अर्चन की शिक्षा नहीं दी है, बल्कि शिक्षाष्टक में उन्होंने श्रीनामभजन की ही शिक्षा प्रदान की है । भक्ति के अन्य अंगों का पालन करते समय भी मुख से श्रीनामसंकीर्तन

करने की ही विधि है । **'यद्यपि अन्याभक्ति कलौ कर्तव्या तदा कीर्तनाख्या – भक्तिसंयोगेनैव कर्तव्या ।'** कलियुग में कीर्तनाख्या भक्ति के साथ ही अन्यान्य भक्ति के अंगों का पालन करना होगा ।

कृष्ण एवं कृष्णनाम दोनों पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं । कृष्ण ही नाम हैं एवं नाम ही कृष्ण हैं । कृष्ण एवं कृष्णनाम अभिन्न हैं । कृष्णनाम ही नन्दनन्दन हैं, श्यामसुन्दर हैं । अतः कृष्णनाम संकीर्तन ही हमारे लिए एकमात्र अभिधेय या कर्तव्य है, ऐसा विचार करने पर ही हमारा मंगल होगा ।

219 **प्र० – श्रीकृष्ण – संकीर्तन किसे कहते हैं ?**

उ० - श्रीकृष्ण + संकीर्तन = श्री कृष्णसंकीर्तन । श्रीकृष्ण = श्री + कृष्णः, श्री - लक्ष्मी अर्थात् समस्त लक्ष्मियों की अंशिनी श्रीमती गान्धर्वा (श्रीमती राधिकाजी) हैं । अतः श्रीकृष्ण कहने से गान्धर्वा के साथ (श्रीराधाजी के साथ) गिरिवर ब्रजेन्द्रनन्दन का पता चलता है । बहुभिर्मिलित्वा यत्संकीर्तनं तदेव संकीर्तनम् अर्थात् सभी लोग मिलकर जो कीर्तन करते हैं वही संकीर्तन है । अथवा सम्यक् कीर्तन का अर्थ है - संकीर्तन अर्थात् श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, परिकर वैशिष्ट्य एवं लीलाओं के कीर्तन का नाम ही संकीर्तन है ।

220 **प्र० – हमारा क्या प्रयोजन है ?**

उ० - कृष्णचन्द्र ही पूर्णतम परतत्त्व वस्तु हैं । कृष्ण सभी के नित्य सेव्य हैं । हमलोग कृष्ण के सेवक हैं तथा कृष्ण हमारे सेव्य हैं । अतः कृष्णसेवा एवं कृष्णप्रीति ही हमारा प्रयोजन है । चेतन (आत्मा) की वृत्ति प्रकाशित होने पर हम अच्छे प्रकार से समझ पायेंगे कि कृष्ण ही एकमात्र सेव्य वस्तु हैं तथा कृष्णसेवा ही हमारा एकमात्र कृत्य है । अन्यथा हमें संसार करते - करते ही मरना होगा । संसार को ही अपना उपास्य या सार मानने पर नरक जाना पड़ेगा ।

आत्मा की अप्राकृत इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण की सेवा करनी होगी, मन की कल्पना के प्रभाव से कृष्णसेवा नहीं होगी । सम्बन्धज्ञान या दिव्यज्ञान होना चाहिये । हमें यह अनुभव होना चाहिये कि जिसका ऐसा विचार है कि केवल कृष्ण ही आराध्य हैं, ऐसे भक्तों के अतिरिक्त हमारा आत्मीय नहीं है, तभी हमारा मंगल होगा । यदि हम दूसरों को अपना मानें अर्थात् स्त्री - पुत्र - कन्या आदि को अपना मानें तो समझना चाहिये कि हमें दिव्यज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, मन्त्र लेकर भी हम अन्धकार के अन्धकार में ही रह गये ।

कृष्ण ही मेरे आराध्य या निजजन हैं, कृष्ण ही एकमात्र आत्मीय

हैं–वैष्णवों का ऐसा ही ज्ञान होता है । यही प्रयोजन है । भोगवाञ्छामयी जड़प्रतिष्ठा या अनात्मीय को आत्मीय मानना उचित नहीं है ।

मन के द्वारा भोग होता है । कृष्ण की सेवा हाड़-मांस के द्वारा नहीं होती, चेतन के द्वारा होती है । सेवोन्मुख इन्द्रियों के द्वारा ही सेव्य कृष्ण की सेवा होती है ।

221 **प्र०–आनन्द क्या वस्तु है ?**

उ०–शास्त्र कहते हैं–आनन्दं ब्रह्म । भूमैव सुखम् । परब्रह्म श्रीकृष्ण ही आनन्द वस्तु हैं । उनमें पूर्णानन्द है, वे पूर्णानन्दविग्रह हैं । ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।

शास्त्र कहते हैं–नाल्पे सुखमस्ति । क्षुद्रवस्तु में सुख नहीं है । जड़ानन्द में पूर्णानन्द नहीं है, इसीलिए उससे आशा नहीं मिटती वृहद्वस्तु या ब्रह्मवस्तु भगवान ही समस्त सुखों के मूल हैं । उन आनन्दमूर्ति कृष्ण की सेवा के द्वारा ही जीव पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकता है ।

222 **प्र०–क्या यह जगत जीव का भोग्य है ?**

उ०–कदापि नहीं । जगत तो जगदीश्वर का ही भोग्य या सेवा का उपकरण है । इसलिए उसके प्रति भोगबुद्धि करने पर अपराध होता है, जिसके फल से संसारी होकर सांसारिक ज्वाला में जलना पड़ता है । जब हम अपने स्वरूप को भूलकर नाना प्रकार के विचारों में आबद्ध होने के कारण भोगों की इच्छा करते हैं, तभी जड़ इन्द्रियों के द्वारा भोग करने की इच्छा हो जाती है । किन्तु हमारे लिए जानना उचित है कि प्रपञ्च जगत हमारे भोग की वस्तु नहीं है, भगवान की सेवा की वस्तु है । इसलिए भगवान की सेवा की वस्तु के प्रति भोगबुद्धि नहीं करनी चाहिए ।

223 **प्र०–क्या आत्मा भोग करती है ?**

उ०–आत्मा तो परमात्मा का सेवक है तथा कृष्ण की सेवा ही उसका धर्म या कार्य है । इसलिए भगवान की सेवा छोड़कर वह भोग करने क्यों जायेगी? आत्मा तो भोगी नहीं है, जो वह भोग के लिए व्यस्त होगी । आत्मा कभी भी भोग के लिए व्यस्त नहीं होती । वास्तव में मन ही भोक्ता के रूप में कार्य करता है । यह भोगवृत्ति ही आत्मा की वृत्ति को आवृत कर देती है ।

224 **प्र०–भगवान क्या वस्तु हैं ?**

उ०–भगवान सच्चिदानन्द विग्रह हैं । वे निराकार नहीं हैं । भगवान

का हमारे जैसा जड़ देह नहीं है । भगवान में देह-देही का भेद नहीं है-उनके नाम, रूप, गुण, लीला अभिन्न हैं ।

भगवान स्वराट् वस्तु हैं । He does not require any other help . He may come down upon the scene of anybody as he pleases. भगवान किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखते । वे पूर्ण निरपेक्ष हैं , पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वप्रकाश हैं । उनके चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियाँ जड़ नहीं हैं, बल्कि चिन्मय एवं पूर्ण हैं ।

225 **प्र० – श्रीमद्भागवत क्या कहती हैं ?**

उ० - श्रीमद्भागत कर्मकाण्ड का उपदेश नहीं देती । जिससे जीव का परममंगल हो, श्रीमद्भागवत भगवान की उन्हीं कथाओं का कीर्तन करती हैं । भागवत में परमधर्म शुद्धभक्ति की ही बात है । अतः भागवत को सुनना होगा, पढ़ना होगा और विचार करना होगा ।

शुद्धज्ञान, शुद्धविराग एवं शुद्धभक्ति का एक ही तात्पर्य है । इसमें अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के बदले केवल भगवान की सेवा की ही बात है । सुख एवं दुःख दोनों ही भिन्न वस्तुएँ हैं । सुख के लिए ही घूमते रहने से दुःख दोनों ही भिन्न वस्तुएँ हैं । सुख के लिए घूमते रहने से दुःख ही प्राप्त होते हैं । अतः फल की आकांक्षा करना उचित नहीं है । कर्म काण्ड मुक्तपुरुषों का कृत्य नहीं है । कर्म का फल कभी अच्छा तो कभी बुरा होता है ।

भागवत को छोड़कर अन्य ग्रन्थ का अध्ययन करने से कर्म-ज्ञानमार्ग, सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु प्राप्त करने के लिए बाध्य होना पड़ता है । कर्मकाण्ड से धर्म, अर्थ, काम प्राप्त हो सकते हैं । मोक्षकामी भोगों का त्याग करने पर भी ईश्वर की उपासना नहीं करते । भक्त ही भगवान की उपासना करते हैं ।

योग के द्वारा भगवान का भजन नहीं होता । इससे अणिमा, लघिमा आदि अष्टादश सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । मोक्षकामियों की मुक्ति की बात छोड़ ही दो, क्योंकि वे केवल संसार के दुःख-सुख से छुटकारा चाहते हैं । अतः उसमें भी अपना भोक्तापन है ।

जिन्होंने कर्म, ज्ञान या योगमार्ग ग्रहण किया है । भागवत कहती हैं, कि उन्होंने गलत पथ का अवलम्बन किया है । भक्ति होने पर सहजरूप में ही सब कुछ पाया जाता है ।

कर्मीलोग इस जीवन में और परजीवन में विषयभोग ही चाहते हैं। Bhakti is the eternal function of pure soul. If we regain our real position then we have the chance of dissociating ourselves from the world. भक्ति आत्मा की निर्मल वृत्ति है। यदि हम अपने प्रकृत स्वास्थ्य का पुनरुद्धार कर सकें, तभी इस पृथ्वी से अलग हो सकते हैं।

226 **प्र० – हमारे लिए चिन्तनीय विषय क्या है ?**

उ० – जगत का कोई भी विषय हमारे लिए चिन्तनीय नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण ही शुद्ध सत्य वस्तु हैं। परिकरों के साथ वे सत्य वस्तु श्रीकृष्ण ही हमारे लिए चिन्तनीय विषय हैं।

227 **प्र० – हमारा मंगल कैसे होगा ?**

उ० – सपरिकर श्रीगौरसुन्दर ही हमारे लिए पूज्य वस्तु हैं। भक्तों को छोड़कर भगवान की सेवा पूजा नहीं होती। गुरु – वैष्णवों की सेवा के अतिरिक्त जीव के मंगल का अन्य कोई उपाय नहीं है। गुरु – वैष्णवों के अनुकरण के द्वारा जीवों का कल्याण नहीं होता, बल्कि अनुसरण के द्वारा ही मंगल होता है। कृष्ण का अनुकरण जीव के लिए उचित नहीं है। कृष्ण का अनुकरण करने के चक्कर में आउल – बाउल आदि अपसम्प्रदायों की सृष्टि हुई है।

भगवान को पुकारने के अतिरिक्त गौरसुन्दर का अन्य उपदेश नहीं है, वैष्णवों का अन्य कृत्य नहीं है। एकमात्र मंगल जिस नामग्रहण से होता है, वह नामसंकीर्तन ही हमें अच्छा नहीं लग रहा है। अतः मंगल किस प्रकार होगा ?

228 **प्र० – गुरुदेव क्या वस्तु हैं ?**

उ० – गुरुदेव भगवान होने पर भी भगवान के प्रियतम हैं। हमारे लिए श्रीकृष्ण की अपेक्षा श्रीगुरुदेव की ही अधिक प्रयोजनीयता है। श्रीगौरसुन्दर समस्त गुरुओं के भी गुरु हैं। उन्होंने बताया कि गुरु भगवान से अभिन्न होने पर भी भगवान के भक्तों के प्रधानतत्व के रूप में गुरुतत्त्व का अवस्थान है। श्रीगुरुदेव कृष्ण के प्रेष्ठ तथा वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे भक्तराज – सेवक भगवान – सेवाविग्रह – आश्रयविग्रह हैं। वे कृष्ण की भाँति विषय विग्रह या भोक्ता – तत्त्व नहीं हैं।

229 **प्र० – भगवान को कौन प्रदान कर सकते हैं ?**

उ० – जो सब समय अखण्ड वस्तु भगवान की सेवा करते हैं, उनके

आनुगत्य के द्वारा ही जीव का मंगल होता है । वैष्णवगुरु की सेवा के द्वारा ही विष्णुसेवा प्राप्त होती है । श्रीगुरुदेव की सम्पत्ति - साक्षात् कृष्ण हैं । यदि कृष्ण स्वयं अपने को ही प्रदान करें, तो भी उनका कुछ देना बाकी रह जाता है । किन्तु भगवान के भक्त सम्पूर्णरूप से भगवान को दे सकते हैं । उससे भगवान की कुछ भी क्षति नहीं होती है ।

230 **प्र० – क्या वैष्णव अकिञ्चन होते हैं ?**

उ० - अवश्य ही । वैष्णव कृष्ण के आश्रित हैं - कृष्ण के सेवक हैं । उनके हृदय में भगवान के सेवक अभिमान के अतिरिक्त अन्य कोई अभिमान नहीं होता । वे अकिञ्चन होते हैं, इस जगत की कोई भी वस्तु नहीं चाहते । इस जगत की कोई भी वस्तु उन्हें लुब्ध नहीं कर सकती । इस जगत या परजगत में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो कृष्ण के चरणकमलों के नखचन्द्र से अधिक लोभनीय हो । जब तक हम भगवान की सेवा के प्रति लुब्ध नहीं होते, तब तक समझना होगा कि मोहिनी माया ने बहुत से रूपों में हमें ग्रास कर रखा है, हम पर आक्रमण किया है ।

231 **प्र० – अवैष्णव कौन हैं ?**

उ० - जो नित्यकाल भगवान की सेवा करते हैं, वे वैष्णव हैं । जो विष्णु की सेवा नहीं करते, वे ही अवैष्णव हैं । उनके लिए भी विष्णु की सेवा करना उचित है ।

जो विष्णु की कथाओं के अतिरिक्त अन्य कथाओं का श्रवण करते हैं एवं विष्णु के चिन्तन के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का चिन्तन करते हैं, जगत में खाने - पीने - रहने को ही जो धर्म मानते हैं, वे ही अवैष्णव हैं ।

विष्णु की कथाओं का कीर्तन एवं श्रवण करना ही हमारा एकमात्र नित्य कृत्य है । गुरु - वैष्णवों के अनुगत रहना ही हमारे लिए उचित है । विष्णु का प्रसाद ही हमारे लिए नित्य ग्रहणीय वस्तु है । इन सब सेवाओं से वञ्चित होकर यदि हम अन्य कार्यों में व्यस्त रहे, तो तब समझ लेना चाहिए कि हम लोग अवैष्णव हो गये हैं । और यदि हम लोग अवैष्णव हो गये है । और यदि हम लोग अवैष्णव हो गये तो हमारे सामने नाना प्रकार की विपत्तियाँ एवं नाना प्रकार के क्लेश उपस्थित हो जायेंगे । भगवान से विमुखता ही समस्त क्लेशों का एकमात्र मूल कारण है । भगवान की सेवा छोड़कर अन्यान्य कार्य करने के कारण ही हम कष्ट पा रहे हैं । स्वतन्त्रतावशत: भगवान की सेवा छोड़कर जिससे लोग

मेरी सेवा करें, इस विषय में ही हम लोग चेष्टाशील हैं । ऐसी चेष्टा करते हुए हम कर्ता सज रहे हैं । मैं भगवान का सेवक हूँ, इस स्वरूप की उपलब्धि के अभाव के कारण ही ये सब विचार आते हैं - मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं चालक हूँ । ये सब कुविचार ही हमें ग्रास कर रहे हैं । साधुओं के निकट जाकर ही समझा जा सकता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ, किसी का सेव्य नहीं हूँ, बल्कि भगवान का सेवक हूँ । भगवान ही मेरे एकमात्र सेव्य हैं । कर्ममार्ग में विचरण करने वाला व्यक्ति ही कर्ता है । हम सत्कर्म के द्वारा जगत में सबके प्रिय होना चाहते हैं । सांसारिक कर्तव्यों का यथासाध्य पालनकर आत्मीय स्वजनों की प्रीति को आकर्षित करने के लिए ही हम व्यस्त हैं । इससे हमारा मंगल नहीं होगा या हमें शान्ति प्राप्त नहीं होगी, संसार से मुक्ति नहीं होगी । इसीलिए भगवान के भक्त हमें कृपा पूर्वक बताते हैं कि भगवान की सेवा ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है । हमारा ही नहीं अपितु देवता, पशु - पक्षी एवं मनुष्य आदि सभी का एकमात्र कर्तव्य है - भगवान की सेवा । किन्तु भक्तों की बातों पर ध्यान न देकर हम लोग सोच रहे हैं - हम पत्थर हुए हैं, तो पत्थर का कार्य ही हमारा है । पेड़ हुए हैं, तो पेड़ का कार्य फल देना है । पिता हुए हैं, तो पुत्र - कन्याओं का पालन करना, उनकी पढ़ाई - लिखाई की व्यवस्था करना ही हमारा कर्तव्य है । जब हम मनुष्य हुए हैं, तो शिक्षित होना सभ्य होना, समाज का संस्कार करना तथा देश की उन्नति करना आदि हमारे बहुत से कार्य हैं । हम घर में रहेंगे, कर्ता सजेंगे, लोग हमारा सम्मान करेंगे, हम मोटर में चढ़ेंगे, पुत्र - पुत्रियों का विवाह करेंगे इत्यादि असंख्य संकल्प हमारे हृदय में विद्यमान हैं । इसी का नाम ही अवैष्णवता - भगवद्विमुखता या माया की दासता है ।

232 **प्र० - विषय और आश्रय में क्या सम्बन्ध है ?**

उ० - श्रीकृष्ण ही एकमात्र विषय हैं, अन्य सभी आश्रय हैं । आश्रय विषय से पृथक् या दूसरी वस्तु नहीं है । विषय और आश्रय के बीच सेव्य - सेवक का सम्बन्ध है । विषय केवल एक है, किन्तु आश्रय या आश्रित बहुत हैं । श्रीकृष्ण ही वह अद्वितीय विषय या विषयविग्रहहैं । आश्रय बहुत होने पर भी मूल आश्रयतत्त्व या आश्रयविग्रह पाँच हैं -मधुररस में श्रीवार्षभानवी (श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी), वात्सल्यरस में श्रीनन्द - यशोदा, सख्यरस में श्रीसुबल आदि दास्यरस में रक्तक आदि एवं शान्तरस में गो, वेत्र (छड़ी) और वेणु इत्यादि । अन्य आश्रय या आश्रितगण इन पाँच मूल आश्रयतत्त्वों में से किसी न किसी के आनुगत्य

में कृष्णसेवा करते हैं । जगत की बातों में जिनको समय नष्ट करने का अवसर नहीं है, वे लोग ही इन सभी बातों का मर्म समझ सकते हैं ।

हमारी वर्तमान अवस्था में कृष्णप्रणयमूर्ति श्रीराधा का तत्त्व नहीं समझा जा सकता । श्रीवृषभानुनन्दिनी आश्रयजातीय कृष्णवस्तु हैं । जिस आप्रकृत धाम में चिद्विलास-चमत्कारिता परिपूर्णरूप में विराजित है, श्रीराधिका का उसमें सर्वश्रेष्ठ स्थान पर विराजित हैं । वे कृष्ण की सेवा करने के लिए कृष्ण के वक्ष पर आरोहण करती हैं, वे कृष्ण की सेवा करने के लिए कृष्ण की ताड़ना और भर्त्सना तक करती हैं । वे कृष्णसेवा के लिए जिनका लौल्य (लोभ) हो गया है, वे ही केवल शुद्धचित्त में इन सभी बातों का मर्म अनुभव कर सकते हैं ।

233 **प्र०–सर्वजनीन धर्म क्या है ?**

उ०–वर्तमान समय में धर्म या देशसेवा आदि के नाम से जो सभी कार्य जगत के लोगों के निकट बड़े आदरणीय हैं और धर्म के रूप में माने जा रहे हैं, वे सब भगवद्-विमुख कर्म-ज्ञान-योग आदि की चेष्टाएँ नास्तिक-सम्प्रदाय की अक्षज (इन्द्रियों से उत्पन्न)-भोगमयी चेष्टा मात्र हैं; उन कार्यों में भगवान की सेवा की गन्ध भी नहीं है ।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' श्लोक में सभी धर्मों का परित्यागकर भगवद्-आश्रयरूप धर्म को ग्रहण करने के लिए कहा है । किन्तु भगवान का उस साक्षात् आदेश और उपदेश का लंघनकर 'सर्वधर्म समन्वय' आदि नाम देकर भगवद्-बहिर्मुख नास्तिक सम्प्रदाय के लोग मनःकल्पित मत या मनोधर्म की सृष्टिकर स्वयं वञ्चित हो रहे हैं । एवं अन्य लोगों को भी वञ्चित कर रहे हैं । जगत के सभी लोग यदि उसको सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं, फिर भी वह वास्तव सत्य से बहुत दूर अवस्थित है । भगवद्विमुख अक्षज ज्ञानवादी की चेष्टा कदापि परम धर्म या सनातन धर्म नहीं है । अधोक्षज भगवान श्रीहरि में अहैतुकी और अप्रतिहता भक्ति या उनकी सेवा ही जीवमात्र का परम धर्म और एकमात्र सार्वजनीन धर्म है । यही आत्मधर्म, नित्यधर्म या सनातन धर्म है । पद्मपुराण में कहा गया है–

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम् ।
तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम् ।।

पृथ्वी में जितने प्रकार की आराधनाएँ हैं, उनमें विष्णु की आराधना

श्रेष्ठ है । विष्णु की आराधना से विष्णुभक्त की आराधना और भी श्रेष्ठ है । कृष्ण की आराधना से वृषभानुनन्दिनी की आराधना श्रेष्ठ है, नन्द-यशोदा की आराधना श्रेष्ठ है, श्रीदास-सुदाम की आराधना श्रेष्ठ है, रक्तक-पत्रक की आराधना श्रेष्ठ है ।

234 **प्र०-श्रीगुरुपादपद्म में किस प्रकार की दृढ़ता होनी चाहिए ?**

उ०-वास्तव शिष्य श्रीगुरुपादपद्म को कृष्णप्रेष्ठ सेवक-भगवान के रूप में जानते हैं । वे गुरुदेव को भगवान से किसी भी अंश में कम नहीं मानते हैं । निष्कपट शिष्य भगवान के समान गुरु की भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं, सेवा करते हैं । जो लोग इस प्रकार गुरु की सेवा नहीं करते हैं, वे शिष्य स्थान से भ्रष्ट हो जाते हैं । गुरु को भगवान की प्रकाशमूर्ति और अभिन्न-विग्रह के रूप में दर्शन न करने पर कदापि शुद्धनाम नहीं होगा ।

मैं सरलतापूर्वक गुरु के आनुगत्य में श्रीगुरु-गौरांग की सेवा करूँगा-भगवान के वाक्य मेरे गुरुदेव तक हैं- मैं उन वाक्यों का यथार्थ पालन करूँगा । पृथ्वी में किसी की बात सुनकर मैं गुरुजी की अवज्ञा नहीं करूँगा । कृष्णप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव की आज्ञा का पालन करने के लिए यदि मुझे दाम्भिक होना पड़े, पशु होना पड़े, अनन्तकाल तक नरक में जाना पड़े, तो उसके लिए भी मैं प्रस्तुत हूँ । गुरु-आज्ञा को छोड़कर मैं अन्य किसी की बात नहीं सुनूँगा, जगत के अन्य लोगों की चिन्ताधारा को गुरुपादपद्म के बल से मुक्का मारकर दूर हटा दूँगा । मेरे गुरुपादपद्म-पराग (श्रीगुरु की चरण रेणु) से एक कण फेंक देने पर जगत के करोड़ों लोगों का उद्धार हो जाएगा । ऐसा कोई पण्डित जगत में नहीं है, ऐसा कोई सद्विचार चौदह भुवनों में नहीं है, जो मेरे श्रीगुरुदेव के चरणकमलों की एक धूलकण से भी भारी हो जाये । वास्तव शिष्य में इस प्रकार सुदृढ़ विश्वास और दृढ़ता रहनी चाहिए ।

235 **प्र०-हमारे जैसे साधकों की चित्तवृत्ति या विचार कैसे होने चाहिए ?**

उ०-साधक अनर्थ को अर्थ प्राप्ति की पूर्वावस्था समझें । क्योंकि प्रतिकूल विषयसमूह अगले क्षण में ही भजन की अनुकूलता का प्रसव करते हैं । जगत में सारी वस्तुएँ कृष्णसेवा के उपकरण हैं-ऐसी सुबुद्धि होने पर भोगबुद्धि जीव को विव्रत नहीं कर सकती है । जिसमें कृष्ण का आनन्द है, उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना हमारा कर्तव्य है । यदि कृष्ण मुझे विमुख रखकर

सुखी होते हैं, तो वही मेरे द्वारा वरणीय है । भगवान में ऐसी निर्भरता ही हमारी रक्षा करेगी । श्रवण कीर्तन प्रबल रूप से होने पर अनर्थसमूह अपने-आप क्रमशः दूरहो जायेंगे । नित्यसिद्धि महाजन श्रीगुरुपादपद्म का अनुसरण ही हमारे मंगल का एकमात्र सेतुबाँध है-इसे दृढ़रूप से समझकर हमें भक्तिमार्ग में आगे बढ़ना होगा ।

236 **प्र०-कौन हमें कृष्ण को दे सकते हैं ?**

उ०-कृष्ण इस जगत की वस्तु नहीं हैं । कृष्ण ही जगदीश्वर हैं, कृष्ण ही परमपुरुष हैं, कृष्ण ही परमेश्वर हैं, कृष्ण ही परम-सत्य हैं, कृष्ण ही वास्तव वस्तु हैं, कृष्ण ही एकमात्र उपास्य हैं, कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं, कृष्ण ही एकमात्र आराध्य हैं । उन मायाधीश कृष्ण को इस जगत का कोई भी व्यक्ति नहीं दे सकता । कृष्ण भक्त की ही सम्पत्ति हैं । इसीलिए भक्त ही कृष्ण को दे सकते हैं । कृष्ण सेवोन्मुख व्यक्ति के शुद्धचित्त में ही उदित होते हैं ।

कृष्ण के भक्त कृष्ण को द्वार-द्वार पर वितरण करते हैं, यही उनकी दया है । कृष्णभक्तगण जीवों के प्रति कृपायुक्त होकर उन लोगों के द्वार-द्वार पर जाकर साक्षात् कृष्ण-श्रीनाम का वितरण करते हैं । परम दयाल श्रीगौरांग महाप्रभु ने भी जीव की एकमात्र उपास्य वस्तु और वास्तव वस्तु श्रीनाम का सर्वत्र वितरण किया था । भाग्यक्रम से यदि हम किसी कृष्णभक्त का आश्रय प्राप्त कर सकते हैं, उनके चरणकमलों में निष्कपट आत्मनिवेदन कर सकते हैं, तो वे निश्चय ही हमें कृष्ण को प्रदान करेंगे ।

237 **प्र०-सद्गुरु क्या उपदेश देते हैं ?**

उ०-इस जगत में उपदेष्टाओं का अभाव नहीं है । जगत के लोग कहते हैं-यहाँ की जो आवश्यकताएँ हैं, पहले उनमें विशेषरूप से मन लगाओ । परन्तु उससे हित के विपरीत फल होता है-आवश्यकताओं की मात्रा केवल बढ़ती जाती है । सामयिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अनेक आवश्यकताओं के बीच में अनेक अभाव और असुविधाओं में डूबना पड़ता है ।

इस जगत में आसक्ति के साथ वास या आसक्तिरहित होकर अति वैराग्य का प्रदर्शन, इन दोनों में से किसी से भी मंगल नहीं होने वाला । जगत में बहुत से ठग लोग साधु के वेष में जीवों को धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के लिए प्रेरितकर तथाकथित धार्मिक करने के लिए व्यस्त हैं । ऐसे ठगों के चंगुल से छुटकारा पाने के लिए चतुर होना आवश्यक है और चतुर होने के लिए

श्रीचैतन्यदेव की बातों में मन को लगाना होगा ।

देवताओं के गुरु वृहस्पति परामर्श देते हैं जिससे देवताओं के भोग में वृद्धि हो । वृहस्पति की बुद्धि की प्रखरता और धर्मोपदेश भोगवृद्धि के लिए ही है । मनुष्य-जाति में भी अनेक अच्छे-अच्छे लोग परामर्शदाता हैं । कुलपुरोहित, समाजपति, देशपति, आत्मीय स्वजन आदि जो समस्त परामर्श देते हैं, वह केवल मानव-जाति की भोगवृद्धि के लिए । जबकि वशिष्ठ् की भाँति कुलगुरु भी हैं, वे निवृत्त-जीवन का परामर्श देते हैं । किन्तु वैष्णव-सद्गुरु एकमात्र हरिभजन के लिए ही परामर्श देते हैं । प्रवृति या निवृति उनके उपदेश की अन्तिम सीमा नहीं है । वे प्रत्येक जीव के चिरस्थायी मंगल के उपदेष्टा हैं ।

238 **प्र०-काम किस प्रकार जाएगा ?**

उ०-भगवत्-सेवोन्मुखता ही हमें भोगोन्मुखता से रक्षा कर सकती है । कृष्णसेवा- विमुखता का अन्य नाम 'काम' है । पूर्ण वस्तु की सेवा करना ही अपूर्ण अंश का एकमात्र कृत्य है । निष्काम कृष्णभक्त की सेवा ही काम के पंजे से निस्तार पाने की एकमात्र औषधि है । कृष्ण सेवक ही हमलोगों को कृष्ण भक्ति विरोधी काम से उद्धार करने में समर्थ हैं । अप्राकृत कामदेव श्रीकृष्ण की सेवोन्मुखता के अभाव में ही हमारी प्राकृत काम प्रवृत्ति है ।

अप्राकृत कामदेव का इन्द्रिय तर्पण ही कृष्णदास जीव की नित्य वृत्ति है-यही सदाचार है । कृष्ण-प्रपत्ति या कृष्ण-सेवा ही कामबीज का ध्वंस करती है ।

239 **प्र०-भक्त किसको विपद मानते हैं ?**

उ०-जो लोग जागतिक अभाव, असुविधा और त्रिताप को विपद मानते हैं, वे धर्मार्थकामी या मोक्षकामी हो जाते हैं । भोगी और त्यागी-बुभुक्षु और मुमुक्षु दोनों ही स्व-स्व अपस्वार्थ पूर्ति के अभाव को ही विपद मानते हैं । जबकि भगवद्-भक्त कृष्णसेवा में अर्थात् कृष्णेन्द्रिय-तर्पण में जिससे बाधा होती है, उसी को विपद समझते हैं । धर्मार्थकाम-चेष्टा और मोक्ष-चेष्टा में कृष्णेन्द्रिय-तर्पण में बाधा होती है, अतः वे (भक्तलोग)उन सभी विपत्तियों से निष्कृति चाहते हैं अर्थात् भगवान के भक्त भोगवाञ्छा और मोक्षवाञ्छा-दोनों से ही परित्राण की आकांक्षा करते हैं ।

240 **प्र०-क्या सरलता की विशेष आवश्यकता है ?**

उ०-हम लोगों को सरल होना ही पड़ेगा । कपटता, कुटिलता, परचर्चा

का दृढ़ता से परित्याग करना होगा । बुद्धिहीनता या कुटिलता को सरलता कहने से नहीं चलेगा । क्योंकि True Sincerity (वास्तविक सरलता) और Seeming Sincerity (कृत्रिम सरलता) एवं True punctuality (अकृत्रिम समय निष्ठा) और Seeming punctuality (कृत्रिम समय निष्ठा) कदापि एक नहीं हो सकती । साधु और असाधु का विचार एक नहीं है । २४ घण्टो में २४ घण्टे भगवान की बातों में न रहकर अन्य बातों में जाने पर हरिभजन से छुट्टी लेनी पड़ेगी ।

241 **प्र०–क्या सेवा स्वयं करनी पड़ेगी ?**

उ०–हममें से प्रत्येक को अधोक्षज भगवान का सेवक बनना पड़ेगा । पुरोहित अथवा प्रतिनिधि के द्वारा सेवा–कार्य नहीं होता है । किसी–किसी सम्प्रदाय में देखा जाता है कि एक व्यक्ति ने Spokesman होकर उपासना की, और अन्य सभी व्यक्ति खड़े रहे । इसको सेवा नहीं कहा जाएगा । आचार्य के अनुगत होकर अपने को सेवा में नियुक्त करना होगा । साधुसंग, नामकीर्तन, हरिकथा श्रवण, श्रीमूर्तिपूजा आदि द्वारा मंगल होगा, किन्तु इनका अभिनय करने से मंगल नहीं होगा । यदि आत्मसमर्पण न कर इन सभी कार्यों का अनुकरण किया जाता है, तो वह केवल अभिनय है ।

कृष्ण की इच्छा से हमें जो अर्थ इत्यादि प्राप्त होंगे, उनको भगवत् सेवा में लगाना होगा । सेवा में कृपणता या शैथिल्य कर पैसा जमा करने पर असुविधा में पड़ जाएंगे ।

मुझे अनेक लोग मठ–मन्दिर की एक पक्की व्यवस्था करने के लिए कहते हैं । किन्तु मैं ऐसा कुछ भी नहीं करूँगा । यदि वास्तव में सेवोन्मुख प्राण है, यथार्थ शरणागति है, तब भगवत् कृपा के द्वारा ठाकुर–सेवा उत्तम रूप से चलती रहेगी एवं निर्भयता के साथ महाप्रभु की वाणी का प्रचार होगा, नहीं तो सब जहन्नुम में जाय ।

स्व–पर–मंगल (अपने और दूसरों के मंगल) के लिए हमें तीव्र दृष्टि रखनी चाहिए । हम जगत में अधिक दिन नहीं रहेंगे, हरिकीर्तन और हरिसेवा करते–करते हमारा देहपात (शरीर त्याग) होने पर ही जीवन सार्थक होगा । परन्तु हम जगत में लकड़ी–पत्थर के मिस्त्री (कारीगर) होने नहीं आये हैं, हम श्रीचैतन्यदेव की वाणी के Peon (चपरासी) मात्र हैं ।

242 **प्र०–गृहसेवा को भगवत् सेवा मानना क्या है ?**

उ०-निश्चय ही । भोगागार गृह और हरिसेवामय मठ एक नहीं हैं । इसलिए गृहसेवा को भगवत् सेवा नहीं कहा जा सकता । गृहव्रतबुद्धि और हरिसेवा की प्रवृत्ति पृथक् हैं । हरिभजन कर पाने पर मठ और घर दोनों एक समान हैं । भजन न कर पाने पर दोनों स्थानों पर माया और मोह आकर हरिभजन में बाधा डालेंगे ।

गृह-सेवा को हरिसेवा सोचने पर मंगल की आशा नहीं की जा सकती । अनात्मीय वस्तु पिता-माता, स्त्री-पुत्र आदि के प्रति प्रीति और सेवा-बुद्धि रहने पर हरिसेवा कदापि सम्भव नहीं होती है । उसमें बँध जाने पर स्वजन-स्नेह भजनीय वस्तु हो जाएगा । 'कौन किसका पिता, कौन किसका पुत्र'-यह विवेक नष्ट हो जाने पर संसार दशा और अमंगल अनिवार्य है । दीक्षा ग्रहण के बाद भी यदि पिता, पुत्र, स्वदेश, स्त्री, जननी आदि हरिविमुख संग अनुकूल लगता है या उन लोगों की सेवा भगवत् सेवा लगती है, तब समझना चाहिए कि हम शुद्ध हरिभजन भूल गये हैं । इस प्रकार की भ्रान्ति और चित्त-चंचलता को छोड़कर कुछ समय Living Source (प्रकट साधु) का संग करना आवश्यक है । अन्यथा स्वजनासक्ति, पुत्रस्नेहपाश, पत्नी सहवास सुख आदि विभिन्न विपज्जनक वस्तुएँ हमें हरिभजन से नित्यकाल के लिए अलग कर देंगी । तब संसार ही हमारा आकांक्षणीय हो जाएगा । असत्-संग के प्रभाव में ही गृहसेवा में हरिसेवा का भ्रम हो जाता है । ऐसे जञ्जाल से उद्धार पाने के लिए कृष्णभक्तों का संग और शास्त्र-श्रवण विशेष आवश्यक है ।

243 **प्र०-God, अल्लाह और कृष्ण-इनमें क्या वैशिष्ट्य है ?**

उ०-The word God has got a very limited idea. We find the perfect and highest conception of theism in Krishna only. The word Allah means the greatest i.e. Possessor of a partial quality. It is an adjective. But Krishna is the source of all powers. He is the proper noun.

अर्थ-'गॉड' शब्द एक सीमित विचार है । हम आस्तिक्यवाद का पूर्ण और सर्वोच्च विचार केवल 'कृष्ण' में पाते हैं । 'अल्लाह' शब्द का अर्थ है महानतम अर्थात् आंशिक गुण के अधिकारी । यह शब्द एक विशेषण है । परन्तु कृष्ण समस्त शक्तियों के मूल हैं । वे ही वास्तव संज्ञा हैं ।

244 **प्र० – श्रीगुरुदेव अपने आश्रित को क्या देते हैं ?**

उ० – श्रीगुरुदेव आश्रित को वैकुण्ठनाम प्रदान करते हैं । वे भगवान के ही अभिन्न मूर्ति और सेवक – विग्रह हैं । इसलिए उनको मनुष्य समझकर अवज्ञा नहीं करनी चाहिए, अवज्ञा करने पर महा – अपराध होता है । वैकुण्ठ – शब्द से वैकुण्ठ – शब्दी भगवान का भेद नहीं है । जो नाम, वही कृष्ण हैं – नाम और नामी अभिन्न हैं । वैकुण्ठनाम इस जगत की वस्तु नहीं हैं । वैकुण्ठनाम दृश्य वस्तु नहीं हैं, वे स्वयं द्रष्टा हैं ।

कृष्णप्रेष्ठ सद्गुरु ही कृष्ण को दे सकते हैं । वैष्णवगुरु के निकट ही कृष्णकथा श्रवण का सुयोग प्राप्त होता है । भक्त व्यतीत अन्य व्यक्ति भगवान की कथा नहीं कह सकते । कर्मी, ज्ञानी, योगी या जागतिक अध्यापक के निकट जाने पर माया की कथा श्रवण करनी होगी । ये लोग भगवान विष्णु का नित्य अस्तित्व और सच्चिदानन्द – विग्रहत्व स्वीकार नहीं करते । ये लोग भगवद् अवतार और आचार्यदेव में मर्त्यबुद्धि करते हैं (अर्थात् उनको साधारण मनुष्य समझते हैं) ।

श्रीगुरुदेव अनुगत शिष्य को कृष्णनाम और कृष्णमन्त्र प्रदान करते हैं । जबतक गुरु में मर्त्यबुद्धि रहेगी, तबतक हरिनाम की कथा और महिमा नहीं समझी जा सकती । श्रीचैतन्यदेव को मनुष्य समझने से अनन्तकाल तक मंगल नहीं होगा । श्रीगुरुकृपा से श्रीगौरसुन्दर और ब्रजधाम का सन्धान प्राप्त होता है ।

कृष्णमन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है । कृष्णमन्त्र से अधिक श्रेष्ठ और असीम शक्तिशाली कुछ भी नहीं है । कृष्णमन्त्र में सिद्धि होने पर समस्त प्रकार के मनोधर्म बन्द हो जाते हैं ।

श्रीराधाकुण्ड के तट पर श्रीगुरुदेव का नित्य कुञ्ज है । वहाँ उन्होंने सेवा के द्वारा कृष्ण को बाँध दिया है । श्रीगुरुदेव की कृपा से ही गिरिवर गोवर्धन को प्राप्त कर सकते हैं । कृष्ण ही अन्य मूर्ति में गोवर्धन हैं । मन के धर्म से युक्त होने पर गोवर्धन का दर्शन पत्थर के रूप में होता है । श्रीमती वार्षभानवी (वृषभानुनन्दिनी श्रीमतीराधिका) जिस स्थान पर क्रीड़ा करती हैं, वह जड़जगत की मिट्टी – कीचड़ से निर्मित वस्तु नहीं है, वह दिव्य चिन्तामणिमय हैं । श्रीश्री राधामाधव की अन्तरंग सेवा प्राप्ति की आशा जिनकी कृपा से मिलती है, वे ही श्रीगुरुदेव हैं ।

श्रीगुरुदेव की कृपा से हमारे समस्त अमंगल नष्ट हो जाते हैं और सब

प्रकार से मंगल होता है । मापने का धर्म या जड़नीति के द्वारा कृष्ण को कदापि नहीं जान सकते । एकमात्र केवला भक्ति के द्वारा उनको जान सकते हैं । यह भक्ति भक्तश्रेष्ठ श्रीगुरुदेव की कृपा से ही प्राप्त होती है ।

एकमात्र कृष्णकथा ही मूल्यवान् है । गोलोक का पाथेय (पथ के लिए आवश्यकीय वस्तु) संग्रह करने के लिए कृष्णकथा ही सम्बल है । कृष्णकथा साक्षात् कृष्ण है । कृष्णकथा के अतिरिक्त अन्य किसी कथा का मूल्य फूटीकौड़ी का भी नहीं है । इसलिए जगत में कृष्णकथा का विपुल प्रचार होना आवश्यक है । ब्रजवासी श्रीगुरुदेव के श्रीमुख से ही इस कृष्ण कथा के श्रवण का सौभाग्य मिलता है ।

हमलोग वर्तमान कृष्ण की कथा का परित्यागकर हाड़मांस की थैली इस शरीर की चिन्ता में दिन प्रतिदिन बिता रहे हैं । इसलिए जड़ वस्तुओं के साथ हमारा परिचय हो रहा है, आत्मा या Soul के साथ साक्षात्कार नहीं हो रहा है ।

245 **प्र० – भक्तों के क्रियाकलापों को कौन समझ सकता है ?**

उ० – जो लोग निष्कपट होकर भगवद् भक्तों के आचरण और शिक्षा का अनुशीलन करते हैं, वे लोग ही दुर्ज्ञेय – चरित्र (जिनके चरित्र को जानना कठिन है) भक्तों की कृपा से उनके क्रियाकलापों को समझ सकते हैं । अन्य किसी उपाय से भगवद् भक्तों का चालचालन समझ नहीं सकते । अक्षज (इन्द्रियज) ज्ञान द्वारा वैष्णव का चरित्र कदापि नहीं समझ सकते । भक्त के बाह्य आचरणों से उनको सब समय पकड़ नहीं सकते । यदि सौभाग्य से हम सेवोन्मुख होकर भक्त के चरित्र को देखने का सुयोग प्राप्त करते हैं, तभी हमारा मंगल है । अक्षजज्ञान से मापने का धर्म जीव को असुविधा में डालता है ।

246 **प्र० – श्रीगुरुदेव के उपदेशों की आलोचना क्या प्रत्यह करनी चाहिए ?**

उ० – वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ हैं श्रीगुरुदेव । उन कृष्णप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव के उपदेशों का श्रवण नित्यकाल करना चाहिए । प्रत्यह उनके उपदेशों की आलोचना और श्रवण न कर अन्य कर्म करने पर भयंकर दुःख को बुलावा देना होगा । गुरु – वैष्णवों का अनुकरण करना या असत्संग करना अनुचित है । उनका अनुसरण करना होगा । भगवान जिनके हृदय में वास करते हैं, उनका संग ही करणीय है । भक्त और अभक्त, मुक्त और बद्ध सिद्ध और असिद्ध एक नहीं हैं । जिस प्रकार असिद्ध (बिना पके हुए) चावल खाने से नहीं चलता है,

चावल सिद्ध होने पर और कुछ शीतल होने पर खाने योग्य होता है, उसी प्रकार सिद्ध भक्तों का संग ही सबसे अधिक आवश्यक और मंगलजनक है ।

247 **प्र० – श्रीगुरुदेव को प्रभुपाद या विष्णुपाद क्यों कहा जाता है ?**

उ० – कृष्णतत्त्व को जाननेवाले आश्रयविग्रह श्रीगुरुदेव शिष्य के लिए साक्षात् कृष्णचैतन्य या हरिस्वरूप होने के कारण उनको विष्णुपाद या प्रभुपाद कहा जाता है ।

248 **प्र० – किससे चिरस्थायी मंगल होगा ?**

उ० – जिस दिन हम भोगपरक और त्यागपरक हो जाते हैं, उसी दिन यथेष्ट लाभवान् हुआ – ऐसा सोचने पर भी हमारा वह लाभ अति कम समय के लिए रहता है, किन्तु गुरु – वैष्णव की सेवा चिरस्थायी है । इसी से नित्य मंगल होता है ।

विष्णुसेवा गुरु – वैष्णवों की सेवा द्वारा ही होती है । यद्यपि प्राक्तन (पूर्व) कर्मदोष से मैं भोगी हो गया हूँ, फिर भी एकमात्र गुरु – वैष्णवों की कृपा ही मुझे समझा सकती है कि भोग और त्याग आत्मधर्म नहीं, बल्कि मनोधर्म हैं । यह सत्य है कि मैं अयोग्य हूँ, किन्तु यदि मैं गुरु – वैष्णवों की कुछ सेवा कर सकूँ, तो योग्य हो सकता हूँ । गुरु – वैष्णवों की सेवा के अतिरिक्त योग्य बनने का या मंगल का अन्य कोई उपाय नहीं है । विष्णुसेवा किस प्रकार की जाती है, वह हम प्रारम्भ में नहीं जान सकते । तारतम्य का विचार करने पर हम समझ सकते हैं कि विष्णुसेवा से विष्णु – भक्तों की सेवा सब प्रकार से बड़ी है । विष्णु की खोज इस जगत में किसी भी प्रकार से न कर पाने पर भी जो लोग विष्णु की सेवा करते हैं, उनकी सेवा करने से किस प्रकार विष्णु की सेवा की जाती है, वह जान सकता हूँ ।

इन्द्रियज ज्ञान के द्वारा भगवान की सेवा की बात जानना सम्भव नहीं है, इसलिए हताश होने की जरूरत नहीं है । भगवान अधोक्षज वस्तु हैं । जो लोग अधोक्षज वस्तु की सेवा में लगे हुए हैं, वे भी अधोक्षज वस्तु हैं । अतः उनके लिए अधोक्षज की सेवा अज्ञेय, दुर्ज्ञेय या परोक्ष नहीं है; अधोक्षज – सेवा अधोक्षज भगवत् सेवकों की सेवा प्रस्फुटित आत्मा का प्रत्यक्ष विषय है ।

249 **प्र० – कर्म क्या है ?**

उ० – अपनी सुख – सुविधाओं के लिए और दूसरों की सुख – सुविधाओं के लिए जो किया जाता है, वही कर्म है । उसमें कृष्ण के सुख के

अनुसन्धान की कोई बात नहीं होती । अपने और दूसरे के सुख का अनुसन्धान ही उसका तात्पर्य या उद्देश्य है । जबकि कृष्णसुखानुसन्धान का नाम है भक्ति ।

यह संसार साधारण लोगों के लिए कर्मक्षेत्र है । किन्तु भक्तों के लिए यह संसार भक्तिसाधनक्षेत्र है । कर्तृत्वाभिमान से संसार में जो कुछ किया जाता है, वह कर्म है । जबकि गुरु-कृष्णदास-अभिमान से भगवत् चालित होकर भगवान का कार्य समझकर जो किया जाता है, वह भक्ति है ।

कर्म कब तक करणीय है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहते हैं-

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ।।

जब तक कर्म के प्रति निर्वेद या विरक्ति नहीं आ जाती, तब तक कर्म करना होगा । अथवा सौभाग्य से साधुसंग के फल स्वरूप यदि किसी की भगवत् कथा में श्रद्धा या रुचि हो जाती है, तब उसे और कर्म नहीं करना पड़ेगा । इन दोनों लक्षणों में से जिसमें एक भी लक्षण दिखाई न दे, उसे संसार क्षेत्र में कर्म करना ही होगा ।

हरिकथा में श्रद्धा या रुचि ही भक्ति का मूल है । 'हरिकथा हि केवलं परमं श्रेयः' - ऐसा दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा या हरिकथा में रुचि का लक्षण है ।

जिसकी जिसमें श्रद्धा और रुचि है, वही उसका मुख्य या प्रधान कार्य है । ऐसी अवस्था में बलवान् साधु का संग करना विशेष आवश्यक है । इसके अतिरिक्त कर्मोन्मुखता या भोगोन्मुखता छोड़कर सेवोन्मुखता प्राप्त करने का या सेवोन्मुख होने का अन्य कोई मार्ग नहीं है । अतः व्यस्त, चञ्चल या हताश न होकर Living Source (प्रकटित भक्त) से वीर्यवती हरिकथा सुनकर उसे अपने जीवन में पालन करने के लिए अपनी क्षमता के अनुसार यत्न करना ही बुद्धिमत्ता या चातुर्य है । यही शास्त्र कहते हैं-

ततो दुःसगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः।।

अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति को दुःसंग का त्यागकर सत्संग करना चाहिए । सन्तपुरुष अपनी वाणी के द्वारा मन की आसक्तियों को काट डालते हैं ।

साधुसंग-कृपा किम्वा कृष्णेर कृपाय ।
कामादि दुःसंग छाड़ि शुद्धभक्ति पाय ।।

अर्थात् साधुसंग की कृपा या कृष्ण की कृपा से व्यक्ति दुःसंग और काम आदि का त्यागकर शुद्धभक्ति प्राप्त कर लेता है ।

250 **प्र० – अनुक्षण (निरन्तर) हरिभजन किस प्रकार कर सकते हैं ?**

उ० – अनुक्षण भजनरत जीवन्त आदर्श (महापुरुष) के सम्मुख सब समय रहने से सर्वक्षण हरिभजन करने का सौभाग्य उन महापुरुष के संग और कृपा से सहज ही हो जाएगा । वही शास्त्र कहते हैं –

निजाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ पाछे त' लागिया ।
नरन्तर कृष्ण भजे अन्तर्मना हैया ।।

अर्थात् निरन्तर हरिभजन करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह कृष्णप्रेष्ठ व्यक्तियों का अनुगामी होकर निरन्तर अन्तर्मना होकर कृष्ण का भजन करे ।

महाजनों ने भी गाया है –

कृष्ण से तोमार कृष्ण दिते पार, तोमार शकति आछे ।
आमि त' कांगाल कृष्ण कृष्ण बलि धाइ तव पाछे पाछे ।।

अर्थात् हे वैष्णव ठाकुर ! कृष्ण आपके हैं, कृष्ण को देने की शक्ति आप में है । इसलिए मैं कंगाल कृष्ण को पाने की आशा से आपके पीछे कृष्ण – कृष्ण कहते हुए दौड़ रहा हूँ ।

251 **प्र० – क्या हरिकीर्तन अनुक्षण (निरन्तर) करणीय है ?**

उ० – अवश्य ही । महाप्रभु ने हमें शिक्षा दी है – "कीर्तनीयः सदा हरिः"। सदा शब्द से काल में कोई व्यवधान (अन्तर) नहीं है, यह विदित होता है । मनुष्य का मुहूर्त के लिए भी अन्य कोई कार्य नहीं है – अन्य कोई कर्तव्य नहीं है – हरिकीर्तन को छोड़कर; यहाँ तक कि पशुपक्षियों के पास भी हरिकीर्तन करना होगा । ऐसा करते समय यदि अनभिज्ञ लोग हमें उन्मत्त कहें, नासमझ कहें, उसमें हमारी कोई हानि नहीं है, श्रीगुरु – गौरांग का आदेश सिर पर धारण कर हम भगवान की कथा का ही निरन्तर कीर्तन करेंगे । जगत के लोग प्रत्यह ग्राम्यकथा सुनने के लिए ग्राम्यवार्ता वह (समाचार पत्र) पढ़ते हैं, ग्राम्यवार्ता के वातावरण ने उन लोगों को सब समय घेर रखा है । हम कह रहे हैं – सभी लोग नित्यप्रति चैतन्य – कथा का श्रवण करें, आपस में मिलने पर चैतन्य कथा का आलाप करें, अनुक्षण चैतन्यकथा के परिवेश के अन्दर श्वास – प्रश्वास ग्रहण करें, जिससे जगत में चैतन्यकथा के अतिरिक्त अचैतन्य – कथा न रहे ।

चैतन्यानुशीलन को अनुक्षण संजीवित रखने के लिए हम लोगों को अनुक्षण चैतन्य की कथा के अन्दर रहना होगा । आज अचैतन्यवादी अनेक लोगों द्वारा बाधा देने पर भी बहुत अर्थव्यय स्वीकार कर प्रतिदिन निरन्तर हरिकथा कीर्तन की व्यवस्था हो रही है । अचैतन्य विश्व इस प्रकार अनर्थरोग में से प्रपीड़ित हुआ है, ऐसी अचेतना के नशे में ढका हुआ है कि वे लोग मंगल की औषधि ग्रहण नहीं करेंगे, और बाकी सब कार्य करेंगे, किसी भी प्रकार से चैतन्यकथा सुनना नहीं चाहेंगे । प्राण, अर्थ, बुद्धि सब खर्चकर अचैतन्य कथा सुनेंगे अपने अमंगल को स्वयं बुला लायेंगे, कुपथ्य खा-खाकर रोग को अधिक बढ़ायेंगे, अन्त में नरक चले जायेंगे, फिर भी रोज-रोज थोड़ी-सी चैतन्य कथा सुनने पर बहुत मंगल हो सकता है, बहुत सुविधा हो सकती है, परन्तु वही मंगल-वही सुविधा किसी भी प्रकार से नहीं लेंगे; किसी भी प्रकार से मंगल नहीं लूँगा-वे लोग जैसे इसकी प्रतिज्ञा कर बैठे हैं; फिर भी अचैतन्य जगत की समस्त बाधा-विपत्तियों के पहाड़ को उखाड़कर धकेलकर चैतन्य-भक्तगण नित्यप्रति चैतन्य के वार्ता वह नदीया-प्रकाश को जगत में प्रकाशित कर रहे हैं ।

252 **प्र०-किसका संग करणीय है ?**

उ०-हमारे गुरुवर्ग कर्म और ज्ञान को ठग का धर्म कहते हैं । इसलिए कर्म के पथ और ज्ञान के पथ का परित्याग कर भक्ति का पथ ही हमारा एकमात्र अनुसरणीय पथ है । जो लोग उसी पथ के पथिक हैं, उन भक्तों का संग ही हमारे लिए आवश्यक है । अपने से श्रेष्ठ भक्त का संग ही करणीय है । चैतन्य के मनोभीष्ट-संस्थापक श्रीरूप की चरणधूल ही हमारी एकमात्र आकांक्षा की वस्तु हैं । भक्तसंग द्वारा ही भक्ति होती है । कर्मी, ज्ञानी और योगी-ये सभी अभक्त एवं स्व-पर-वञ्चक हैं । इसलिए इनका संग परित्यज्य है । शुद्धभक्त के संग के अतिरिक्त अन्य का संग अमंगलजनक है ।

253 **प्र०-क्या आनुगत्य विशेष आवश्यक है ?**

उ०-अवश्य ही । स्वतन्त्र होने पर हरिभजन नहीं होता । स्वतन्त्र व्यक्ति कदापि भक्त नहीं हो सकता । आचार्य का आनुगत्य करने से ही मंगल होता है । स्वतन्त्र व्यक्तियों का ही अलग-अलग मत होता है । शतकोटि गोपियों के शतकोटि मत होने पर कृष्णेन्द्रियतर्पण में बाधा पड़ जाती है । श्रीवृषभानुनन्दिनी के आनुगत्य के अतिरिक्त माधव के मन को रखने की क्षमता किसी में भी नहीं है । श्रीगुरुपादपद्म उन्हीं श्रीवृषभानुनन्दिनी के अन्तरंग

निजजन और अभिन्न-मूर्ति हैं । इसीलिए मंगलाकांक्षी व्यक्तिमात्र के लिए गुरु का आनुगत्य विशेष आवश्यक है । इसके अतिरिक्त मंगल का कोई दूसरा रास्ता नहीं है ।

254 **प्र०-कर्मी, ज्ञानी और भक्त के विचार कैसे हैं ?**

उ०-मनुष्यजाति साधारणतः अपने इन्द्रियतर्पण के अतिरिक्त और कुछ समझना ही नहीं चाहती । सैकड़ों हजारों लोगों के असुख और असुविधा के विनिमय में मेरी सुख-सुविधा हो, यही कर्मी की चिन्ताधारा है । ज्ञानी का विचार है-जगत के सुख और असुख दोनों का ही परित्यागकर निर्विशेष हो जाएँ । कर्मी लोग अपनी शक्ति की प्रधानता के स्थापन में व्यस्त हैं; और ज्ञानी लोग सर्वशक्तिमान् भगवान को निःशक्ति प्रतीत कर पाने पर निश्चिन्त होते हैं । दोनों क्षेत्रों में भगवान की शक्ति का सम्मान या स्वीकार नहीं किया गया है, इसीलिए मंगल चाहने वाले व्यक्ति कर्म और ज्ञान का पथ ग्रहण न कर भक्ति का पथ ही ग्रहण करते हैं । भगवान के ऊपर सम्पूर्ण निर्भरता एवं भगवान का सुखविधान ही भक्त का विचार है । भगवान के इन्द्रिय-तर्पण के उद्देश्य में ही वे लोग समस्त कार्य और समस्त ज्ञान को नियुक्त करते हैं । अपना सब कुछ भगवान को समर्पित करने का नाम ही भक्ति या एकायन-पन्थ है । इसके अतिरिक्त अन्य विचारों में दौड़ने पर अभक्ति या बहुयन-पन्थ आ जाता है । बहुयन-पन्थी बहीश्वरवादी होकर जिन विचारों का अत्यन्त आदर करते हैं, वे विचार उनके अनुसार ठीक होने पर भी भक्ति का विचार उनसे सम्पूर्ण पृथक् है । मेरे चित्त की वृत्ति जिस स्थान पर परिपूर्णरूप से भगवान् की सेवा में उन्मुख होती है, वहीं पर साधुता है, नहीं तो सर्वत्र ही असाधुता है ।

भक्तगण निष्काम होते हैं । कर्मी, ज्ञानी और योगी की भाँति स्वसुख-वाञ्छा का लेशमात्र भी उनमें नहीं है । भक्तगण प्रतिक्षण कृष्ण के सुखानुसन्धान में व्यस्त रहते हैं । वे तृणादपि सुनीच होते हैं (अपने को तिनके से भी दीनहीन समझते हैं) । भगवान की सेवा के अतिरिक्त उनका कोई दूसरा कार्य या चिन्ता नहीं है । इसीलिए भक्तगण निर्भय, निश्चिन्त और सुखी हैं; किन्तु कर्मी, ज्ञानी सभी सकाम होने के कारण अशान्त या दुःखी हैं । शास्त्र कहते हैं-

कृष्णभक्त निष्काम अतएव शान्त ।
भुक्ति-मुक्ति-सिद्धकामी सकलइ अशान्त ।।

255 **प्र०–क्या सांसारिक प्रवृत्ति को रोकना चाहिए ?**

उ०–अवश्य ही । यदि सांसारिक प्रवृत्तियों को रोकने की व्यवस्था नहीं की जाती है, तब जीव को पुन: जन्म लेकर मृत्यु को स्वीकार करना होगा । इसीलिए इन्द्रिय-चालन को रोकने की आवश्यकता है । इन्द्रियों को न रोकने पर संसार-प्रवृत्ति नहीं जाएगी एवं दु:ख भी दूर नहीं होगा । असल वस्तु का अनुसरण करना आवश्यक है; ऐसा करने पर संसार-वासना रुक जाएगी, चतुर्वर्ग का प्रयास (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए चेष्टा) नहीं रहेगा एवं सब कुछ मंगलमय हो जाएगा अर्थात् परम-मंगल प्राप्त होगा ।

जिनके हृदय में कृष्ण प्रकाशित होते हैं, उनकी समस्त प्रकार की कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं । कृष्ण कामदेव हैं, अत: समस्त कामनाएँ उनकी ही सेवा करेंगी, दूसरे की नहीं । जिन्होंने कृष्ण को हृदय में धारण किया है, वे तो स्वयं भोगी नहीं है कि कामनाएँ उनकी सेवा करें ।

जब हम वैष्णव की जीवन-यात्रा के मार्ग का अनुसरण नहीं करते हैं, तब हमारी इन्द्रियाँ असत् पथ पर चलने लगती हैं । हम यह नहीं समझ पाते कि हमारी समस्त इन्द्रियों के स्वामी एकमात्र कृष्ण हैं । मनुष्य-शरीर हमें हरिभजन के लिए ही मिला है । इस शरीररूपी नौका के द्वारा गुरु-कर्णधार (नाविक) के नियन्त्रण में भवसागर पार होकर हम श्रीकृष्ण के चरणकमल प्राप्त कर सकते हैं । परन्तु ऐसा न करके संसार-सागर में डूब मरने की व्यवस्था करना क्या हमारा कर्तव्य है ?

256 **प्र०–हमारा मंगल कैसे होगा ?**

उ०–श्रीगौरसुन्दर (चैतन्य महाप्रभु) के चरणकमल ही अमूल्य वस्तु हैं । समग्र पृथ्वी पर महाप्रभु की कथा की चर्चा सदैव हो । ऐसा होने पर जीव का मंगल होगा, अति मानवीय वृत्तियाँ सब की मुट्ठी में आ जाएँगी, अतिमर्त्य विषयों का अनुभव होगा, असल सत्य का सन्धान पाकर यह समझ में आ जाएगा कि एकमात्र श्रीचैतन्यदेव की कथा ही मंगलजनक है, अन्य सभी कथाएँ अमंगलजनक हैं ।

'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि', 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' आदि वाक्यों को कहकर भगवान् कृष्ण चन्द्र हमलोगों को कितने प्रकार से Assurance (आश्वासन) देते हैं, कितने सुअवसर देते हैं, बताते हैं–उनका आश्रय लेने पर ही मंगल होगा, अपने दायित्व में सभी का मंगल

करने का भार लेते हैं; परन्तु क्या उनकी बातों पर हम विश्वास करते हैं ? इसीलिए स्वयं कृष्ण ही पुनः इस जगत में सेवक का भार लेकर आये – गुरु का कार्य लेकर । वे गौरांग रूप में आकर कहने लगे – "मैं कृष्ण का सेवक मात्र हूँ । यदि कोई मेरी बात स्वयं सुनना चाहता हो, सुन सकते हो, तो सभी का मंगल होगा ।" कृष्ण ही आश्रय के भाव में विभावित होकर कृष्णान्वेषण करते हुए जगत को समझाने लगे – कृष्ण ही सर्वेश्वरेश्वर हैं, परमोपास्य वस्तु हैं, उनका चरणाश्रय करने में ही, उनके नाम – रूप गुण – परिकर – वैशिष्ट्य – लीला आदि का अनुशीलन करने से ही सभी का यथार्थ में मंगल होगा ।

257 **प्र० – भगवत् – तत्त्व किस रूप में प्रकाशित हैं ?**

उ० – ईशतत्त्व पाँच प्रकार से प्रकाशित हैं – परतत्त्व, व्यूह, वैभव, अन्तर्यामी और अर्चा । ये सब प्रभुतत्त्व हैं । इनके अतिरिक्त सभी वश्यतत्त्व या सेवकतत्त्व हैं । प्रभु सेवकमण्डली की सेवा ग्रहण करते हैं । प्रत्येक ईशतत्त्व का अपने – अपने सेवकों के साथ आदान – प्रदान है । ईश्वर जिनके ऊपर ईशिता (प्रभुत्व) करेंगे, उन लोगों के न रहने पर ईशिता – कार्य नहीं होता है । इसीलिए प्रत्येक ईशतत्त्वके सेवक हैं ।

पहले अर्चावतार की पूजा उपकरणों द्वारा होती है । मानस – पूजा के द्वारा अन्तर्यामी की पूजा होती है । इसके बाद राम आदि वैभव – अवतारों की पूजा है । श्रीरामावतार में हनुमान् और सुग्रीव उनके सेवक थे । वैभव अवतार की पूजा तभी सम्भव है, जब वे सेवकों को दर्शन देते हैं । इसके बाद व्यूहतत्त्व का विचार आता है । वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध – ये चतुर्व्यूह हैं; इनके बाद परतत्त्व श्रीकृष्ण की बात आती है ।

हम नीचे से ऊपर उठने के लिए Uphill work करते हैं । इस परतत्त्व की ओर अभियान के पथ पर सर्वप्रथम अर्चा ही हमारी सहायता करेंगे । इसलिए शास्त्र में कहा गया है –

येन जन्मशतैः पूर्वं वासुदेवः समर्चितः ।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत ।।

अन्तर्यामी अर्थात् जो Immanent pure unalloyed conscience (सर्वव्यापी विशुद्ध अविमिश्रित अन्तःकरण) हैं, वे ही चैत्यगुरु हैं । अन्तर्यामी is an internal Entity, but he is not an outside Entity.

कृष्ण को भूलकर हम इस जगत में आये हैं। We have come far off from our eternal Home. We are to go back there.(हम अपने शाश्वत गृह से बहुत दूर आये हुए हैं। हमें वहाँ वापस जाना होगा।) Our first aid is अर्चा, second अन्तर्यामी, third वैभव, fourth व्यूह, fifth परतत्त्व।

गुरु-वैष्णवों का साक्षात् संग और उसके फलस्वरूप हरिकथा-श्रवण आदि द्वारा जिस मंगल का उदय होता है, प्राकृत बुद्धि से युक्त होकर बहुत जन्मों तक अर्चन के द्वारा भी वह नहीं होता है। करुणामय श्रीगुरु-वैष्णव कथा द्वारा जो भाव प्रकाशित करते हैं, श्रीविग्रह कृपापूर्वक हमें दर्शन देने पर भी वैसा नहीं करते। जो अन्तर्यामी भगवान् हैं, वे भी हमारे साथ बातचीत नहीं करते। शास्त्र में कहा गया है-

शिक्षागुरुके त' जानि कृष्णेर स्वरूप।
अन्तर्यामी, भक्तश्रेष्ठ एइ दुइ रूप ॥
जीवे साक्षात् नाहि ताते गुरु-चैत्त्यरूपे।
शिक्षागुरु हन कृष्ण महान्त-स्वरूपे ॥
अन्तर्यामी ईश्वरेर एइ रीति हय ।
बाहिरे ना कहे, वस्तु प्रकाशे हृदय ॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

वैभवतत्त्व श्रीराम आदि अवतारगण जीवों के साथ बात करते हैं उपदेश देते हैं, शासन करते हैं एवं उनके मंगल-अमंगल का निर्धारण करते हैं। व्यूहतत्त्व के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। एकमात्र वस्तु परतत्त्व ही चार प्रकार से प्रकाशित होते हैं। ईश्वर के अनुग्रह से ही ईशतत्त्व ज्ञात होता है। शास्त्र में कहा गया है-

ईश्वरेर कृपालेश हय त' जाहारे।
सेइ त' ईश्वरतत्त्व बुझिवारे पारे ॥

हम सोचते हैं कि अर्चा या श्रीविग्रह Inanimate (निर्जीव) हैं; परन्तु वास्तव में अर्चावतार जड़वस्तु नहीं हैं, वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं। भगवान् श्रीगौरांगदेव ने कहा है-

ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दाकार।
से विग्रह कह सत्त्वगुणेर विकार ॥

श्रीविग्रह जे ना माने, सेइ त' पाषण्ड ।
अदृश्य, अस्पृश्य से हय यमदण्ड्य ।।

शास्त्र में और भी कहा गया है -

प्रतिमा नह, तुमि - साक्षात् बजेन्द्रनन्दन ।
विप्र लागि' कर तुमि अकार्य कारण ।।

श्रीगुरुदेव Intermediate (मध्यस्थ) के रूप में हमारी सहायता करते हैं । वे अर्चा, अर्चन और उपासक के बीच में Guide (मार्ग - प्रदर्शक) हैं । क्योंकि यदि अर्चा और अर्चक का स्वरूपज्ञान नहीं रहता है, तब तो विग्रह - पूजा बच्चों के गुड्डे - गुड़ियों का खेल हो जाएगी । गुड़ियों की पूजा की आवश्यकता नहीं है, किन्तु भगवान् की पूजा की आवश्यकता है ।

जिनकी पूजा की जाती है, वे अर्चा हैं । अर्चावतार साक्षात् भगवान् हैं । भगवान ही हमारे कल्याण के लिए अर्चावतार के रूप में प्रकटित हैं । साधारण लोगों के विचार में अर्चा प्रतिमामात्र है, अर्चा नहीं चलता है, Initiative ले नहीं सकता (अपने आप कुछ कर नहीं सकता) । किन्तु यह उन लोगों की भ्रान्ति है । शुद्धभक्त का संग होने पर उनकी यह भ्रान्ति दूर हो जाएगी । परतत्त्व का सब कुछ श्रवण - कीर्तन के ऊपर निर्भर करता है । इसीलिए शास्त्र में कहा गया है -

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।
गुरु - कृष्ण - प्रसादे पाय भक्तिलता - बीज ।।
माली हञा सेइ बीज करे आरोपण ।
श्रवण - कीर्तन - जले करये सेचन ।।

श्रीगुरुदेव के कीर्तन करने पर अन्य सभी श्रवण करते हैं । परन्तु आज के जगत में इसका उल्टा नियम हो गया है । किराये के कथावाचक और पाठक स्वयं श्रवण न करके अर्थात् शिष्य न होकर गुरु के आसन पर बैठकर स्वयं कीर्तन करने के लिए व्यस्त हो रहेहैं । श्रीगुरुदेव कौन सी वस्तु हैं एवं उनकी उपासना किस प्रकार होती है, यह जानना आवश्यक है । शास्त्र में कहा गया है -

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरून्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

श्रीगुरुदेव दिव्यज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका के द्वारा हमारे अज्ञानान्ध चक्षुओं को उन्मीलित करते हैं । हमारी जड़ आँखों की बीमारी दूर होने पर हम foreign elements (बाह्य विषयों)के विचारों से मुक्त होते हैं । श्रीगुरु-वैष्णवों के पास केवलमात्र आ जाने पर ही सर्वसिद्धि हो गयी, ऐसा नहीं समझना चाहिए । पेड़ के नीचे आकर ही नारियल मिल गया, ऐसा सोचना झूठ है । पेड़ पर चढ़ना होगा और नारियल तोड़कर उससे छिलका उतारने पर गूदा और जल मिलेगा । गुरु-वैष्णवों के आनुगत्य में भजन और योग का मार्ग एक नहीं हैं । भक्तियोग के अतिरिक्त कोई सुविधा नहीं है । यदि केवल खान-पान किया एवं वेदान्त और न्याय आदि पढ़ा, तो उससे सुविधा नहीं होगी । न्यायशास्त्र और वेदान्त के निर्विशेषत्व आदि में पाण्डित्य प्राप्तकर वैकुण्ठ-लोक में नहीं जा सकते । सद्गुरु के चरणों का आश्रय लेकर हरिभजन करने से ही मंगल होता है ।

258 **प्र०-गुरुनिष्ठ वैष्णवों का विचार कैसा होता है ?**

उ०-समग्र जगतवासी मेरे मान्य अर्थात् सम्मान के पात्र हैं या नमस्य अर्थात् नमस्कार के योग्य हैं-ऐसा विचार न आने पर मैं श्रीगुरु के चरणकमलों में नमस्कार नहीं कर सकता । मेरे गुरु समग्र जगत के गुरु हैं । मेरे गुरुजी के विद्वेषी व्यक्ति जगदीश के विद्वेषी हैं-जगत में सभी के विद्वेषी हैं-मनुष्यमात्र के विद्वेषी हैं, इस प्रकार के विचार न आने पर मैं श्रीगुरुचरणकमलों का भृत्य नहीं हो सकता, श्रीगुरुचरण-कमलों में आत्मसमर्पण नहीं कर सकता, अपने लघुत्व का अनुभव नहीं हो सकता और तृणादपि सुनीच, तरु की भाँति सहिष्णु, अमानी, मानद होकर हरिकीर्तन नहीं कर सकता । श्रीगुरुचरण-कमलों में ऐसी निष्ठा रहने पर ही समग्र जगत को सम्मान दिया जा सकता है, स्वयं अमानी हुआ जा सकता है और सर्वक्षण हरिकीर्तन किया जा सकता है ।

259 **प्र०-हमलोग क्या करेंगे ?**

उ०-अपनी सारी अहमिका को छोड़कर भगवत्-चरणकमलों में सम्पूर्णरूप से आत्मसमर्पण करने से ही हम लोगों का मंगल होगा । कर्म फलभोग में मैं recipient (भोक्ता) हूँ, ज्ञान में भी recipient हूँ किन्तु भक्ति में अधोक्षज वस्तु recipient हैं; इसीलिए भक्तिपथ ही आश्रय लेने योग्य है ।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सदैव मेरे सम्मुख स्वयं को प्रकाशित करने के लिए उत्सुक हैं, मुझे केवल तत्पर होकर उनकी कृपा को वरण करना होगा ।

दूसरों को शिष्य बनाना नहीं है, स्वयं शिष्य बनना होगा । वैष्णव सभी वस्तुओं में गुरु दर्शन करते हैं । दूसरों को शिष्य या सेवक ज्ञान करने से हरिकीर्तन नहीं होगा । कृष्ण सेवा को छोड़कर भी गुरु-वैष्णवों की सेवा करनी होगी, तभी हमारा मंगल होगा ।

हम लोग अहंकार से कोई कार्य नहीं करेंगे या कोई बात नहीं कहेंगे । यदि करें या कहें, तो असुविधा और दायित्व आ जाता है । नित्यकाल हरिकीर्तन करना ही हमारा कार्य है । यदि हम लोग भगवान की कथा उनके निजजन श्रीगुरुदेव के आज्ञावाही दास के रूप में कहते हैं तो और कोई दायित्व नहीं रहता है । सुविधा हो या असुविधा हो, इसमें मेरा व्यक्तिगत दायित्व नहीं रहता है जिस प्रकार डाकिया लोगों के निकट संवाद पहुँचा देता है या वितरण करता है, परन्तु संवाद के बारे में उसका कोई दायित्व नहीं रहता है । हमारी योग्यता रहे या न रहे, हमें भरोसा है कि यदि हम श्रीगुरुपादपद्म की कथा कहेंगे, तो हम असुविधा में नहीं पड़ेंगे । यदि हम लोग श्रीगुरुदास के रूप में उनके आनुगत्य में सदैव श्रीहरिकथा श्रवण-कीर्तन करेंगे, तो उससे हमें कोई असुविधा तो होगी ही नहीं, अपितु हमारा महामंगल होगा ।

अपूर्णवस्तु के संग और सेवा के द्वारा अमंगल होता है और पूर्णवस्तु के संग और सेवा के द्वारा हमारा मंगल होता है । पूर्ण के लिए पूर्णयत्न करना आवश्यक है । अपूर्ण के लिए दिन गंवाने से अपूर्ण वस्तु प्राप्त होगी । इसीलिए इस जगत में रहते समय जगत् के समस्त जीवों का एकमात्र कर्तव्य है-हरिकथा श्रवण करना । श्रवण किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा कीर्तन की अपेक्षा रखता है । सब समय साधुओं के निकट हरिकथा श्रवण का सुयोग न होने पर स्वयं ही अनुकीर्तन करते हुए श्रवण और कीर्तन करना उचित है ।

260 **प्र०-क्या त्यागी होना अच्छा है ?**

उ०-कदापि नहीं । हम लोग भोगी भी नहीं होंगे, त्यागी भी नहीं होंगे । हम लोग भगवान के भक्त या सेवक होंगे । जो लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कंगाल (भिक्षुक) हैं, वे लोग कपटी हैं, वे भक्त नहीं हैं । भोगी लोग धर्मार्थकाम-कामी होते हैं । त्यागी लोग मोक्षकामी होते हैं । और भक्त कृष्णसेवा-प्रार्थी होते हैं ।

फल्गुत्यागी होने पर मैं भोग से बाह्यतः बच गया - यह सत्य है, किन्तु यह 'खाट के टूट जाने पर भूमि ही शय्या' नीति के समान है । इसमें कुछ पाना या न पाना दोनों ही मेरे लिए हैं, इसमें भगवान के सम्बन्ध में कोई बात नहीं है । किन्तु भक्त कृष्ण-प्रीति के लिए भोग का त्याग करते हैं एवं निरन्तर कृष्णसेवा में नियुक्त रहते हैं, इसीलिए वे नित्य मंगल को प्राप्तकर चिरसुखी होते हैं ।

भगवान के द्वारा अपनी सुख-सुविधा करवा लूँगा - इस विचार में बहुत सी असुविधाएँ हैं । कोई कह रहा है - कृष्ण बनकर प्रकृति को भोग करूँगा, कोई कह रहा है स्त्री बनकर कृष्ण को भोग करूँगा - ये दोनों ही सकाम हैं । प्रत्येक वस्तु को कृष्ण के सम्बन्ध में निर्बन्धित न करने से यह भोग होता है, नहीं तो त्याग हो जाएगा - भक्ति नहीं होगी । कर्म और ज्ञान - भोग और त्याग, ये दोनों ही अभक्ति हैं । इनमें भगवान की कोई बात नहीं है । भोग और त्याग के मूल में केवल अपना सुख-उद्देश्य है, किन्तु भक्ति में भगवत्सुखानुसन्धान के अतिरिक्त दूसरी कोई अभिसन्धि नहीं है ।

261 **प्र० - हमलोगों का मुख्य कार्य क्या है ?**

उ० - श्रीमन्महाप्रभु के उपदेश या शिक्षा अपने जीवन में आचरण करते हुए उनका सर्वत्र प्रचार करना ही हमारा मुख्य कार्य है । उसी में ही अपना और दूसरों का मंगल होगा । अत्यन्त गरीब जीव हम कदापि दरिद्र-नारायण नहीं हैं । अपनी यह दरिद्रता हटाने के लिए धनसंग्रह करना आवश्यक है । कृष्णप्रेम ही वही महाधन है ।

प्रेमधन बिना व्यर्थ दरिद्र जीवन ।
दास करि' वेतन मोरे देह प्रेमधन ।।

- यही हमारा एकमात्र प्रार्थनीय विषय है । महाप्रभु का आदेश -

पृथिवीते आछि जत नगरादि ग्राम ।
सर्वत्र प्रचार हइबे मोर नाम ।।

जगत में मायिक नाम ही सर्वत्र चल रहा है, वैकुण्ठनाम प्रचारित हों । पांचरात्रिक-मत से श्रीमन्दिर बनें, ठाकुरजी रहें, आदर के साथ ठाकुरजी की सेवा-पूजा हो, उसी से ही लोगों का मंगल होगा; किन्तु जो लोग Better class-Higher class हैं, उनका ही प्रचार कार्य है । वैकुण्ठनाम का सर्वत्र प्रचार ही महाप्रभु का मनोभीष्ट है । प्रचुर परिमाण में वैकुण्ठ-कथा कहनी

होगी, इसीलिए प्रचुर परिमाण में Pamphlet (पुस्तिकाओं) की छपाई हो, जिससे बहुल प्रचार की सुविधा होगी । बड़े लोग - जो लोग धनवान् और शिक्षित हैं, वे कनक - कामिनी - प्रतिष्ठा की आशा में घूम रहे हैं, उनके निकट प्रचुर परिमाण में चिल्लाकर गले को कष्ट देने पर भी, वे लोग इन सभी कथाओं में कान नहीं देंगे । अतएव उनके लिए समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता है ? इसीलिए हम कह रहे हैं–हमारी प्रचार - प्रणाली इस प्रकार होनी चाहिए - प्रचुर परिमाण में Pamphlet छपावाये जायें, जिससे वे लोग देखें कि दर्शनशास्त्रों में कितनी क्या आलोचना हुई है, और हम कितनी बड़ी चीज कहने जा रहे हैं ।

दाम्भिक - व्यक्ति कभी भी प्रचार कार्य नहीं कर सकता । अहंकारी व्यक्ति प्रचारक का वेश ग्रहण करके 'मैं ही प्रचारक हूँ' –ऐसा अभिमान करता है, इसीलिए असल सत्य उसके निकट आत्मप्रकाश नहीं करता है । अतएव उसके द्वारा जगत का कोई यथार्थ मंगल नहीं हो सकता है ।

महाप्रभु ने तृणादपि सुनीच और मानद होकर हरिकीर्तन करने के लिए कहा है । तृणादपि सुनीच न होने से हरिकीर्तन नहीं होता है । परचर्चा करते हुए दिन बिताने से मंगल नहीं होगा । अपनी भलाई किसमें है - इसका विचार करना चाहिए । **'परचर्चकेर गति नहि कोन काले'** - यही महाजन - वाक्य है । अन्याभिलाषी दूसरे कर्म करें, मुझे इससे क्या लेना देना है ? मैं कह रहा हूँ कि दूसरे लोगों का अकल्याण हो रहा है, किन्तु मैं तो उनमें भी मन्द हूँ । इसीलिए मेरे मन्द मन को सब समय भगवद् - भजन में नियुक्त रखना होगा । Dissuading Policy (खण्डन - पन्था) अपनाकर दूसरे लोगों पर आक्रमण करने की इच्छा से घूमना प्रचारक का कार्य नहीं है, यह प्रतारक का कार्य है ।

हम लोग अपना कार्य भूलकर विभिन्न कार्यों में व्यस्त हो गये हैं । हमारे हृदय में जो गंदगी जमी हुई है, उसे Weed out (निराई) करने के लिए यत्नवान् होना चाहिए । यद्यपि यह मेरा व्यक्तिगत स्वार्थ है, फिर भी यही मेरे लिए सबसे पहले आवश्यक है । अन्यथा आचारहीन प्रचार का कोई मूल्य नहीं है । स्वयं सर्वक्षण हरिभजन न करने पर दूसरों से हरिभजन कराना सम्भव नहीं है ।

श्रीगुरु - नित्यानन्द का आनुगत्य विशेष आवश्यक है । कृष्णशक्ति श्रीगुरुदेव ही मूल प्रचारक हैं । उनके आनुगत्य में ही प्रचार करना होगा । अन्यथा प्रचार नहीं हो सकता है । शास्त्र कहते हैं -

कलियुगधर्म – कृष्णनामसंकीर्तन ।
कृष्णशक्ति बिना नहे तार प्रवर्तन ।।

श्रीरूप-सनातनादि षड़गोस्वामी हमलोगों के गुरु हैं । इनका आनुगत्य करना होगा । श्रीरूप के आनुगत्य के बिना भजन नहीं होगा । श्रीरूपगोस्वामी से अभिन्न श्रीगुरुपादपद्म की पदधूलि ही हमारी सम्पत्ति हों, तभी मंगल होगा । भक्ति-राज्य में दास्य का विचार ही प्रबल है । दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर-सभी रसों में ही दास्यभाव की प्रबलता है ।

पिता माता – गुरु – सखाभाव केने नाय ।
कृष्णप्रेमेर स्वभावे दास्यभाव से करय ।। (चै. च.)

262 **प्र० – गुरु कौन हैं ?**

उ० – जो संसार-रूप मृत्यु से मेरी रक्षा करते हैं, वे ही श्रीगुरुपादपद्म हैं । 'मैं मर जाऊँगा' – इस भय से, – इस आशंका से जो मेरा उद्धार कर सकते हैं, वे ही सद्गुरु हैं । जिनके निकट उपस्थित होने से दूसरे किसी की कथा (विचार) सुनने की आवश्यकता नहीं होती है – दूसरे किसी के निकट जाना नहीं होता, वे ही गुरुदेव हैं । समस्त मंगलों के मंगल-स्वरूप भगवान ने मेरे सभी मंगलों का भार जिनके हाथों में अर्पण किया है, वे ही समस्त कल्याणों के मूल श्रीगुरुपादपद्म हैं ।

जिनकी कृपा से कर्त्तापन का अभिमान दूर होता है, वे ही श्रीगुरुपादपद्म हैं । जो हमारी कानों में श्रौतवाणी प्रदान करते हैं, जो निरन्तर हमारे कानों में श्रौतवाणी का अभिषेक करके हमको तृण से भी सुनीच, वृक्ष की भाँति सहिष्णु, अमानी, मानद कर रहे हैं एवं सर्वदा हमारे मुख में वैकुण्ठकीर्तन प्रकाशित होने की शक्ति सञ्चार करते हैं, वे कृष्णशक्ति ही श्रीगुरुपादपद्म हैं । श्रीगुरुपादपद्म ही हमें मायाशक्ति के चंगुल से मुक्त कर देते हैं ।

समस्त जगत्वासी हमारे मान्य या नमस्य हैं, समस्त जगत गुरुसेवा का उपकरण है, सभी हमारे सेव्य या गुरु हैं, मैं कृष्ण-सेवक हूँ, कृष्णसेवा ही मेरा धर्म है – यह दिव्यज्ञान जो प्रदान करते हैं, वे ही श्रीगुरुपादपद्म हैं ।

263 **प्र० – भक्तिमार्ग क्या है ?**

उ० – जिस पथ में कृष्णसेवा की कथा (बात) नहीं है, वही अभक्तिमार्ग है । श्रीकृष्ण की शुद्ध-सेवा में कृष्ण-सुखानुसन्धान के अतिरिक्त दूसरी कोई अभिलाषा नहीं है । शुद्धभक्ति – श्रीकृष्ण का अनुकूल अनुशीलन है ।

भक्तिमार्ग में श्रीकृष्णसुख से तात्पर्य है, किन्तु अभक्तिमार्ग में कृष्णसुख का कोई विचार नहीं है, वह आत्मेन्द्रियतर्पण का पथ है ।

264 **प्र० – कौन आनुगत्य नहीं कर सकता है ?**

उ० – अधोक्षज वस्तु श्रीकृष्ण की सेवा के अतिरिक्त जीव द्वारा मंगल प्राप्त करने का दूसरा कोई रास्ता नहीं है । उन परमसेव्य वस्तु की सेवा में गुरुदेव के अतिरिक्त और कोई भी नहीं कर सकता – जहाँ पर इस उपलब्धि का अभाव है, वहाँ पर आनुगत्य या आत्मसमर्पण सुष्ठुरूप से नहीं होता है ।

265 **प्र० – क्या गुरु – वैष्णव हमारे समस्त कार्यों को अनुमोदन करते हैं ?**

उ० – कभी भी नहीं । जिस प्रकार सद्वैद्य मरीज के मन के अनुसार बातें नहीं कह सकता, ठीक उसी प्रकार सद्गुरु भी बद्धजीव के मन को अच्छे लगने वाली बातें कहने में असमर्थ हैं । जो लोग सांसारिक सुखशान्ति की प्राप्ति के लिए माता – पिता के प्रति भक्ति प्रदर्शन करते हैं और करेंगे, उसको मुख में अनुमोदन करने की योग्यता नहीं है, क्योंकि हमारा चित्त उनकी भाँति सुनीतिपरायण नहीं है । हमलोग श्रौतपन्थी हैं, भक्तिनीति ही हमारा आदर्श और लक्षित विषय है । इसीलिए हम गुरु – वैष्णव सेवा में उदासीन होकर दूसरी ओर दृष्टि नहीं दे सकते और दूसरों का परामर्श भी ग्रहण नहीं कर सकते । आत्मधर्मरूप भगवत् सेवा को छोड़कर मनोधर्म के वशीभूत होकर दूसरों की सेवा करने का समय हमारे पास नहीं है ।

266 **प्र० – ब्राह्मण कौन है ?**

उ० – ब्राह्मण ब्रह्मवस्तु की खोज करते हैं । जो देहधर्मी या मनोधर्मी नहीं है वे ही ब्राह्मण हैं । ब्रह्म को जाननेवाले ही ब्राह्मण हैं ।

267 **प्र० – देह की सार्थकता कैसे होगी ?**

उ० – देह जड़ पदार्थ है । इस हड्डी – मांस की थैली के साथ कृष्ण का कोई सम्बन्ध नहीं है । इसको गुरु आनुगत्य में श्रीकृष्णसेवा में लगा पाने से सुविधा होगी । जागतिक विद्याबुद्धि इत्यादि को भी भगवान की सेवा में लगने से मंगल होगा ।

268 **प्र० – किस भक्त की सेवा किस प्रकार से करनी चाहिए ?**

उ० – शत प्रतिशत सेवा महाभागवत के लिए करनी होगी । ६६.६ recurring कार्य मध्यम – भागवत के लिए करनी होगी । ३३.३ recurring

कनिष्ठ-भागवत के लिए करनी होगी ।

269 **प्र०–क्या गुरु को भोक्ता–भगवान ज्ञान करना ठीक है ?**

उ०-कभी भी नहीं । श्रीगुरुदेव श्रीकृष्ण की भाँति भोक्ता-भगवान या गोपीनाथ नहीं हैं । श्रीगुरु-सेवक भगवान हैं । गुरु भगवान् होकर भी भगवत् प्रेष्ठ भक्तराज हैं । गुरु आश्रयविग्रह हैं, वे कृष्ण की भाँति विषयविग्रह या राधा की भाँति मूल आश्रयविग्रह नहीं हैं ।

श्रीगुरुदेव गौराभिन्न विग्रह हैं । वे श्रीगौरांग से अचिन्त्यभेदाभेदत्व, श्रीगौरांग के प्रकाशविग्रह हैं । वे आश्रयजातीय भगवतत्त्व हैं । विषयजातीय भगवत्तत्त्व के साथ उनको एकीभूतकर विषयतत्त्व का विलोप करने की चेष्टा अपराधमय निर्विशेषवाद मात्र है । यह मायावाद या पाषण्डता है ।

शास्त्र कहते हैं–

यद्यपि आमार गुरु चैतन्येर दास ।
तथापि जानिये आमि ताँहार प्रकाश ।।
ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन ।
मायाजाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण ।।

(चै. च. आदि १/४४)

यद्यपि मेरे गुरु श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास हैं, फिर भी मैं उन्हें उनके प्रकाश के रूप में जानता हूँ । ऐसी भावना से गुरु की सेवा करते हुए कृष्ण का भजन करने पर मायाजाल छूट जाता है और कृष्ण के चरणों को जीव प्राप्त कर सकते हैं ।

शास्त्र कृष्णप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव के आश्रय में, आनुगत्य में और निर्देश में कृष्णभजन की कथा ही कहते हैं ।

270 **प्र०–क्या हरिभजन करने का विशेष प्रयोजन है ?**

उ०-अवश्य ही । और अधिक समय नष्ट न कर इसी मुहूर्त्त से ही श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त करने के लिए यत्न करना कर्तव्य है । क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या युवक, क्या युवती, क्या पुरुष, क्या स्त्री यह विचार सभी के लिए ही है । क्योंकि जीवन का कब अन्त होगा, यह कोई ठीक नहीं है, निःश्वास का विश्वास नहीं है । अतएव इसी क्षण से ही हम सभी को हरिभजन प्रारम्भ करना आवश्यक है ।

कोई-कोई कहते हैं कि अभी भोगसुख में समय बिताकर अन्तिम

समय में हरिभजन किया जा सकता है । किन्तु यह विचार संगत नहीं है, क्योंकि Time is life । प्रति मुहूर्त्त में ही हमारी परमायु क्षय हो रही है, जीवन का जो समय चला जा रहा है, वह फिर लौटकर नहीं आयेगा । यह सब चिन्ताकर जीवन का क्षणकाल भी हरिभजन के बिना छोड़ना उचित नहीं है । इसीलिए महाजनों ने कीर्तन किया है–

जीवन समाप्तिकाले करिव भजन, एबे करि गृहसुख ।
करवन ए कथा नाहि बले विज्ञजन, ए देह पतनोन्मुख ।।

(अभी गृहसुखों में डूबा रहूँ और जीवन के अन्तिम समय में भजन कर लूँगा–विज्ञ व्यक्ति ऐसी बात कभी नहीं कहते, क्योंकि यह शरीर से प्राण कब निकल जायें, कोई पता नहीं ।)

भजन का सुसमय नष्ट करने से त्रिताप के अग्निकुण्ड में दग्धीभूत होना पड़ेगा । इसीलिए साधुसंग करना विशेष प्रयोजनीय है । श्रीकृष्णभजन ही हमारा एकमात्र कृत्य है, यह साधुसंग के फल से ही समझने का सौभाग्य प्राप्त होगा और तब भोग एवं त्याग–चेष्टा परित्यागकर भजन में तत्पर होने से स्वरूप–सिद्धि–प्राप्त करने की योग्यता आयेगी । गुरु के आनुगत्य में भजन करते–करते क्रमशः पूर्व कर्म–फल समाप्त होने से सिद्धि प्राप्त होगी ।

271 **प्र०–श्रीकृष्ण की सेवा कैसे प्राप्त होगी ?**

उ०–वृन्दावननाथ श्रीकृष्णचन्द्र नित्यसिद्ध ब्रजवासी श्रीनन्दयशोदा के नित्य पुत्र हैं, वे अन्य किसी के पुत्र नहीं हैं । प्रचुर परिमाण में सेवा करने के फलस्वरूप ही नन्द–यशोदा ने स्वयं–भगवान को पुत्र रूप में प्राप्त किया है । यही यशोदा–नन्दन श्रीश्यामसुन्दर ही हमारे उपास्य हैं । 'आराध्यो भगवान व्रजेशतनयः' श्लोक में देवकी–नन्दन श्रीकृष्ण की उपासना की बात नहीं कही गई है, यशोदा–दुलाल की बात ही कही गई है । वसुदेव–देवकी ने नन्द–यशोदा की तरह सेवा अधिकार प्राप्त नहीं किया है ।

श्रीनन्दनन्दन की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है । इसकी तुलना में जो सेवा के द्वारा श्रीकृष्ण को आनन्द प्रदान करते हैं, उन नन्दराज की उपासना और भी श्रेष्ठ है । उनकी कृपा होने पर हम उनके नन्दन (श्रीकृष्ण) की सेवा प्राप्त कर पाएँगे ।

श्रीनन्दनन्दन वृन्दावन में रहते हैं–शुद्ध जीवात्माओं का हृदय वृन्दावन है । गुरुरूपी नन्दराज की सेवा द्वारा हृदय सम्पूर्ण रूप से निर्मल न होने पर

भगवान को हृदयरूपी श्रीवृन्दावन में नहीं प्राप्त किया जाता । केवल श्रीकृष्ण की सेवा करने के लिए ही ब्रजवासीगण उन्हें चाहते हैं - कृष्ण को पाने के लिए व्याकुल होते हैं । कृष्ण की सेवा करने में ही उनका आनन्द है । कृष्ण के साथ उनका 'लेन - देन' का सम्पर्क (स्वार्थमय) नहीं है। वे सब निष्काम तथा निस्वार्थ हैं । श्रीकृष्ण के प्रति उनका स्वाभाविक आकर्षण है । यदि हम उन सभी ब्रजवासियों का अनुसरण कर पाएँगे, तभी हम सभी को कृष्ण - सेवा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होगा ।

272 **प्र० - अशुद्ध मन कैसा होता है ?**

उ० - संकल्प - विकल्पात्मक धर्म से युक्त हृदय ही जीव का मन है; और भोगबुद्धि तथा त्यागबुद्धि परित्याग करके निरन्तर कृष्णसेवा में नियुक्त चित्त ही पूर्णपुरुष भगवान की विहार स्थली स्वरूप शुद्ध मन है ।

रूप - रस - गन्ध - शब्द - स्पर्श का नाम विषय है । इनमें भोक्ता अभिमान करनेवाला मन ही विषयों में आविष्ट अशुद्ध मन है । ऐसे मन में कभी भी पूर्णपुरुष भगवान श्रीहरि की उपलब्धि नहीं होती । भक्ति के द्वारा पवित्र - निर्मल चित्त में ही श्रीकृष्ण का अनुभव हुआ करता है ।

273 **प्र० - शास्त्र क्या साक्षात् भगवान् हैं ?**

उ० - शास्त्र साक्षात् श्रीकृष्ण हैं - श्रीकृष्ण का अवतार हैं । हम सभी के कल्याण के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ही शास्त्र रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं । भगवान श्रीगौरांगदेव ने कहा है -

शास्त्र - गुरु आत्मरूपे आपनारे जानान ।
कृष्ण मोर प्रभु, त्राता - जीवेर हय ज्ञान ।।

यदि हम मनोधर्म के द्वारा चालित होकर शास्त्र - आलोचना करेंगे, तो वञ्चित हो जाएँगे । शास्त्र शरणागतजन के निकट ही प्रकाशित होते हैं । भगवान में जिस प्रकार अचला भक्ति है, उसी प्रकार अचला भक्ति यदि श्रीगुरुदेव में होती है, तब ऐसे महात्मा के निकट ही शास्त्र का यथार्थ अर्थ प्रकाशित होता है । पण्डित - अभिमानी दाम्भिक व्यक्ति शास्त्र का तात्पर्य हृदयंगम नहीं कर पाता । हम यदि काय - मन - वाक्य के द्वारा शरणागत होकर साधु की कथा का श्रवण करेंगे, तभी शास्त्र के मर्मार्थ को समझ पाएँगे ।

274 **प्र० - कृपा पूर्वक मुझे कुछ उपदेश दीजिए ।**

उ० - हम आप सभी के समक्ष श्रीगुरुपादपद्म की कथा को नैवेद्य के रूप

में केवल परिवेषण मात्र कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त हमारी और कोई योग्यता नहीं है । भगवान श्रीकृष्ण अधोक्षज वस्तु हैं । ये अधोक्षज वस्तु कर्मी (भोगमय कर्म) भूमिका की वस्तु नहीं हैं - इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण की जानेवाली वस्तु भी नहीं है । यदि वे इनमें से कुछ हों, तो वे भोग्यवस्तुओं में अन्यतम हो जायेंगे । वे Centre of all love हैं । तथा हम Part and parcel of indefinite all loved हैं । जिस प्रकार सूर्य एवं उसकी किरण कण हैं । किरण कण सूर्य नहीं है, और सूर्य को छोड़ किरण अन्य कोई वस्तु भी नहीं है । सूर्य के साथ इसका अविच्छेद्य सम्बन्ध है । इसीलिए जीव भगवान का भेदाभेद प्रकाश है ।

जीव भगवान का नित्य सेवक है । इस जगत के साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं है । भगवान विभु चेतन हैं, किन्तु जीव अणुचतेन है । भगवान स्वाधीन हैं, किन्तु जीव उनके अधीन है । भगवान ही जीव के एकमात्र आश्रय हैं एवं भगवत् सेवा ही जीव का नित्यधर्म है ।

हम सभी जीव सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान के अणुचित् अंश हैं, उसी कारण पूर्णवस्तु के गुण अणु अंश में हममें भी विद्यामान हैं । कृष्ण पूर्ण स्वतन्त्र हैं और जीव की परिच्छिन्न स्वतन्त्रता है । जीव जब अपनी स्वतन्त्रता का सद्व्यवहार करके कृष्णोन्मुख होता है, तब वह सुखी होता है तथा जब भगवान को भूलकर भोगोन्मुख होता है, तब वह दुःख भोग करता है । जीव की स्वतन्त्रता होने के कारण ही वह सेवा की ओर या भोग की ओर जा सकता है । इसी कारण जीव को तटस्था - शक्ति कहते हैं । तटस्थ अवस्था में जीव स्थित नहीं रह सकता । इसीलिए जीव माया की ओर अथवा भगवान की ओर जाने को बाध्य है ।

275 **प्र० - हमारे चित्त में विक्षेप क्यों आता है ?**

उ० - प्रीति के साथ सर्वदा हरिसेवा नहीं करने पर चित्त में विक्षेप अवश्य आयेगा । भजन सदैव होना चाहिए । निरन्तरता का थोड़ा सा भी अभाव होने पर उसी छिद्र को पाकर चित्त - विक्षेप हमें ग्रास कर लेगा ।

276 **प्र० - भजन अथवा भक्ति क्या वस्तु है ?**

उ० - भगवान के सुख के लिए जो कुछ किया जाता है, उसी को भजन कहते है । भगवान की दासता ही भक्ति है । यही दास्य उत्तरोत्तर वृद्धिप्राप्त होकर सख्य, वात्सल्य एवं मधुर रस के नाम से परिचित होता है ।

अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान, योग, तपस्या, व्रत आदि आवरणों से रहित अनुकूल-कृष्णानुशीलन ही भजन है । हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, व्रत-तपस्या-योग आदि अभक्ति योग भजन पदवाच्य नहीं हैं । भक्तियोग-हरिकथा श्रवण को छोड़कर कर्म, ज्ञान, योग, तप, व्रत इत्यादि द्वारा कभी भी सम्पूर्णरूप में चित्तशुद्धि नहीं हो सकती । भगवत् सेवा के द्वारा ही अशान्त मन निर्मल और शान्त होता है ।

277 **प्र०-क्या भक्ति कलियुग का धर्म है ?**

उ०-कलियुग का ही क्यों, सार्वकालिक, सार्वत्रिक एवं सार्वजनीन धर्म ही भक्ति है । कर्म, ज्ञान और योगादि नैमित्तिक प्रस्तावित धर्ममात्र हैं । वह जीव की सहज वृत्ति नहीं है । भक्ति ही मुक्तपुरुषों का एकमात्र नित्य धर्म है और बद्धजीव अनर्थग्रस्त होकर जिन समस्त धर्म का पालन करते हैं, वे कर्म, ज्ञान, योग, तप एवं व्रत हैं ।

278 **प्र०-भोगबुद्धि कैसे दूर होगी ?**

उ०-जिस दिन साधु-गुरु की कृपा से हम स्वयं को भगवत् सेवक के रूप में समझ पायेंगे, तभी हमारा मंगल होगा । दिव्यज्ञान होने पर ही हमारी भोगप्रवृत्ति या दुर्बुद्धि दूर होगी । जबतक हम भगवत्सेवक अभिमान में प्रतिष्ठित नहीं हो जाते हैं, जब तक वैष्णवी प्रतिष्ठा न आ जाय, तब तक हमलोग भोगबुद्धि से या भोग्यरूप में जगत् को देखते हैं, और तब तक 'ईशावास्य' जगत् दर्शन नहीं होता है अर्थात् सारा जगत् भगवान का भोग्य है, यह ज्ञान लुप्त हो जाता है । तब प्रभुत्व नामक एक दुर्बुद्धि आ जाती है । ऐसी अवस्था में शुद्धभक्तों के संग के अतिरिक्त बचने का अन्य कोई उपाय नहीं है । अतः मंगलाकांक्षी व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह और मात्सर्य से गर्वित प्रचारकों की श्रेणी के निकट नहीं जायेंगे । अन्यथा कभी भी दिव्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । निष्काम महापुरुषों का संग न होने पर हमारी कामना-वासना, प्रभु-अभिमान, भोग करने की प्रवृत्ति किसी भी प्रकार से नहीं जा सकती तथा भगवत् सेवक अभिमान भी नहीं जाग सकता । इसलिए शास्त्र कहते हैं-

महत् कृपा बिना कौन कर्मे भक्ति नय ।
कृष्णभक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय ।।
साधुसंग-कृपा किंवा कृष्णेर उपाय ।
कामादि दुःसंग छाड़ि शुद्धभक्ति पाय ।।

अर्थात् महापुरुषों की कृपा के बिना अन्य किसी प्रकार से भक्ति नहीं हो सकती । कृष्णभक्ति तो बहुत दूर की बात है, संसार बंधन भी नष्ट नहीं होता । साधुसंग की कृपा या कृष्ण की कृपा ही जीव कामादि दुःसंग का त्याग कर शुद्धभक्ति प्राप्त करता है ।

279 **प्र०–गुरु का कार्य कौन कर सकता है?**

उ०–हमारे जैसे दुर्भागे जीवों का उद्धार करने के लिए भगवान ने परजगत् (अपने धाम से) जिन महापुरुषों को मनुष्य वेश में इस जगत में भेजा है, जो त्रितापग्रस्त मनुष्यों का उद्धार कर भगवान के धाम में भेज देते हैं, भगवान के ऐसे निजजन जो भगवान के दूत हैं, जो वैकुण्ठवाणी के वाहक हैं, केवल वे ही गुरु का कार्य कर सकते हैं ।

भोगप्रवृत्ति एवं त्यागप्रवृत्ति को यूपकाष्ठ में बलि देने के लिए जिनकी वाणीरूपी खड्ग सर्वदा प्रस्तुत है, वे ही असल में साधु हैं । और वे ही असल में गुरु हैं ।

विषयविग्रह कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त जिनका अन्य कोई कार्य, बुद्धि या दर्शन नहीं है, वे ही श्रीगुरुपादपद्म हैं । वे किसी की भी चापलूसी नहीं सुन सकते, वे यथार्थ सत्य के निर्भीक प्रचारक हैं ।

जो हरिकथा के अतिरिक्त अन्य बातें कभी भी नहीं बोलते, जो भगवान की सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी भी धर्म का उपदेश नहीं देते हैं, जो २४ घण्टे में एक सेकेण्ड के लिए भी अन्य कार्य नहीं करते हैं, वे ही गुरु होने के योग्य हैं ।

An insincere hypocrite (भण्ड) can not be a Guru. Mundane activity (जागतिक कार्य) में जिसकी aspiration (आकांक्षा) है, वह कभी भी गुरु नहीं हो सकता । Pseudo (कृत्रिम) Guru should be turned out and exposed.(नकली गुरु का मुखौटा खोल देना चाहिए) भगवान के चरणों में जो समस्त उपायन शिष्य surrender (समर्पित) कर रहे हैं, बीच मार्ग में यदि कोई उन्हें अपनी सेवा में लगाता है, कनक-कामिनी-प्रतिष्ठा संग्रह में नियुक्त करता है, तो उसे ठग जानकर सम्पूर्ण रूप से उसका त्याग करना होगा । ऐसे असत् व्यक्ति की कथा कभी नहीं सुननी चाहिए । विषयविग्रह की सेवा की वस्तु को बीच मार्ग में आत्मसात्कारी (अपने भोग में लगाने वाला) व्यक्ति कभी भी गुरु कहलाने योग्य

नहीं है । शास्त्र कहते हैं-

इहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यत ।।

(नारदीय पुराण)

जिसका कर्म, मन, वाणी भगवान की सेवामें नियुक्त हैं, समस्त अवस्थाओं में वह जीवन्मुक्त कहलाते हैं । भगवान की सेवा छोड़कर Social service के लिए जो तैयार रहते हैं, ऐसे नास्तिकों का संग कभी नहीं करना चाहिए । ऐसे व्यक्ति भी अपना या दूसरों का कल्याण नहीं कर सकते । ऐसे Social service करते-करते वे माया के गर्त में गिर जाते हैं एवं सभी को विपत्ति में डाल देते हैं ।

जो भगवान को ठगने के लिए माला-जप का अभिनय करते हैं या खूब चिल्लाते हैं, परन्तु प्रत्येक शब्द में कृष्ण दर्शन, प्रत्येक उच्चारण में साक्षात् गौरसुन्दर का दर्शन नहीं करते हैं, हमें उनका संग नहीं करना चाहिए । समस्त पाण्डित्य की अन्तिम सीमा कृष्ण सम्बन्ध है । यदि संग में रहकर गुरु के आनुगत्य में हमारी भगवान के सेवा की चित्तवृति होती है, तब समग्र जगत् को हम भगवान की सेवा के उपकरण के रूप में देखेंगे । जगत की समस्त वस्तुओं के द्वारा भगवान की सेवा करेंगे, तभी हमारा मंगल होगा ।

जिसका सर्वत्र भगवत् दर्शन और भगवत् सम्बन्ध दर्शन, जिसका सर्वत्र गुरु दर्शन, जो तृणादपि सुनीच वृक्ष के समान सहिष्णु, अमानी तथा मानद होकर निरन्तर हरिकीर्त्तन में रत एवं तन्मय रहते हैं, ऐसे कृष्णप्रेष्ठ महापुरुषों का संग कर उनकी सेवा के द्वारा ही हमारे मंगल का मार्ग खुल सकता है। महाभाग्य के फल से ऐसे सद्गुरु प्राप्त होते हैं । माया के दास को गुरु के रूप में सजाकर भोगबुद्धि के द्वारा गौरसुन्दर के निकट नहीं पहुँचा जा सकता । श्रीगौरसुन्दर इस जगत् में प्रकटलीला में न रहने पर भी यदि निरन्तर निष्कपट साधु-गुरु के संग में रहा जाय, उनकी चित्तवृत्ति में अपनी चित्तवृत्ति को dovetailed (संलग्न) कर सकें, उनकी इच्छा के साथ अपनी इच्छा को मिला सकें, यदि ऐसे कृष्णतत्त्ववित् श्रीगुरुदेव के पादपद्म में शरणागत हो सकें, उनके चरणों में पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर सकें, तो ऐसे उत्तम संग सेवा एवं आनुगत्य के द्वारा ही हमारा मंगल हो जाएगा ।

280 **प्र०-असली गुरु हम कैसे पा सकते हैं ?**

उ० - आत्मकल्याण के लिए प्रथम बात है - सद्गुरुपदाश्रय । सभी लोग भगवान की इच्छा से अपने - अपने अधिकार के अनुरूप गुरु प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार खीष्टान (ईसाई) एवं मुसलमानों ने यीशु और मोहम्मद को पाया । परन्तु अपने भाग्य के अनुसार कुछ लोग किसी विषयी कुलगुरु को गुरु के रूप में ग्रहण करते हैं, जिसके फलस्वरूप संसार में आसक्त हो जाते हैं । किन्तु यदि मेरा भाग्य अच्छा हो, यदि मैं निष्कपट रूप से सद्गुरु का अनुसन्धान करता हूँ, सद्गुरु प्राप्त करने के लिए भगवान से प्रार्थना करता हूँ, तो भगवान की कृपा से इसी जन्म में अवश्य ही सद्गुरु प्राप्त करूँगा और उनके श्रीचरणकमलों का आश्रय ग्रहणकर धन्य एवं कृतार्थ हो जाऊँगा । शास्त्र कहते हैं -

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।
गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता - बीज ।।
कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने ।
गुरुअन्तर्यामी रूपे शिखाय आपने ।।
गुरु कृष्णरूप हन शास्त्रेर प्रमाणे ।
गुरु रूपे कृष्ण कृपा करेन भक्तगणे ।।
यद्यपि आमार गुरु चैतन्येर दास ।
तथापि जानिये आमि ताहार प्रकाश ।।
शिक्षा गुरुके त जानि कृष्णेर स्वरूप ।
अन्तर्यामी, भक्तश्रेष्ठ एइ दुइ रूप ।।
जीवे साक्षात् नाहि ताते गुरु चैत्यरूपे ।
शिक्षागुरु हन कृष्ण महान्त स्वरूप ।। (चै. च.)

अर्थात् ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते - करते गुरु एवं कृष्ण की कृपा से किसी भाग्यवान् जीव को भक्तिलता का बीज प्राप्त होताहै । यदि कृष्ण किसी भाग्यवान् व्यक्ति पर कृपा करते हैं, तो स्वयं ही गुरु - अन्तर्यामी रूप में सिखाते हैं । शास्त्रों के प्रमाणानुसार गुरु कृष्णरूप होते हैं । गुरु के रूप में ही कृष्ण भक्तों पर कृपा करते हैं । यद्यपि मेरे गुरु श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास हैं, तथापि मैं उन्हें उनका प्रकाश ही मानता हूँ । मैं शिक्षागुरु को तो कृष्ण के स्वरूप मानता हूँ ।

हे कृष्णचन्द्र, कृपापूर्वक मुझे सेवक के रूप में ग्रहण कीजिए । गृहकर्त्ता अभिमान से या भोक्ता अभिमान से मैंने जिस अनित्य संसार की सेवा या जगत् की सेवा की उसे और नहीं करूँगा - जब जीव निष्कपट रूप में भगवान

से कातरता पूर्वक ऐसी प्रार्थना करता है, तो दयामय श्रीकृष्ण महान्तगुरु के रूप में उसके समक्ष आविर्भूत होते हैं ।

सद्गुरु से दिव्यज्ञान प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त न होने पर भगवान की सेवा का अधिकार प्राप्त नहीं होता । यह दिव्यज्ञान प्रदान करने की सामर्थ्य किसी मनुष्य या देवता में नहीं है । इसीलिए सद्गुरु की इतनी आवश्यकता है ।

281 **प्र०–आपके मिशन का उद्देश्य क्या है ?**

उ०–हमें मिशन बनाने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं थी । क्योंकि मनुष्य गलत मार्ग पर चल रहे हैं, इसलिए हमने अपनी भगवद् सेवा को मिशन के कार्य में प्रयोग किया है । मनुष्य समाज को विपरीत मार्ग से उद्धार करने के लिए ही हमने मिशन बनाया है । इस प्रकार भोगमय पृथ्वी का सार्वभौम पद यदि हम करोड़ों बार भी पायें, तथापि हम उसे मलमूत्र की भाँति विसर्जन कर सकते हैं । मनुष्य जाति गलत दिशा से निकलकर गौरसुन्दर के पादपद्म जो समस्त मंगलों के भी मूल हैं, उनमें प्रतिष्ठित हो, इसके लिए ही हमारा यह छोटा सा प्रयास है । श्रीचैतन्यदेव ने जो बात कही है उसमें यदि एक लेश मात्र भी कुछ इधर-उधर होता है, वे ब्रह्म, शिव, वायु, वरुण जो कोई भी क्यों न हो, जितने भी बड़े धर्म प्रचारक हो, धर्मनेता हो, वे उसी परिमाण में असुविधा में पड़े हुए हैं । जो चैतन्यदेव के दास हैं, वे परम वास्तव सत्य के उपासक होते हैं । उन्होंने श्रीगौरांगदेव का ऐसे अपार सौन्दर्य का दर्शन किया है कि जगत के Giantintellect या लोग जिसे बहुत बड़े धर्मप्रचारक के रूप में सजा रहे हैं, उनकी कोई भी बात चैतन्य-दासों को लुब्ध या शंकित नहीं कर सकती । गौर भक्तों के पास विषय विषधर के दाँत भी टूट जाते हैं । श्रीगौरसुन्दर की वाणी ने जिसके कानों में प्रवेश किया है, जगत की किसी प्रकार की छलना उन्हें वञ्चित नहीं कर सकती ।

पातंजलि का योगपथ, कृत्रिम रूप में जितेन्द्रिय होने की चेष्टा अथवा मेनका, उर्वशी आदि विषय समूह भगवद्भक्तों को कभी भी लुब्ध नहीं कर सकते । Pessimistic view (निराशावाद) लेकर दुःख से मुक्त होने को जो एक बहुत बड़ी बात मानते हैं, उनसे तो भगवद्भक्तों के जूतावाहक (भृत्य) परिमुक्त हैं । भगवद् भक्त Privation from necessaries of life (जीवन की आवश्यकताओं से दूर रहने) को बहुत बड़ी बात नहीं मानते । तांती (जुलाहे) की भाँति कानों में रूई देकर बाह्य जगत के ज्ञान से दूर रहना उनके

लिए आवश्यक नहीं है । वे अपनी प्रीति के कामुक नहीं हैं । अपनी प्रीति तो मुझे नरक ले जाएगी, क्योंकि मैं तो रोगग्रस्त पशु हूँ । भगवान की प्रीति ही मेरा काम्य है । Worldly acquistion (जागतिक लालसा) लेकर गौरसुन्दर का चरणाश्रय नहीं होता । उन समस्त वस्तुओं को उनके चरणकमलों की सेवा में लगाने से ही मंगल होता है ।

निर्जन में रहकर गौर-निताई का नाम करूँगा-यह भी अन्य एक प्रकार की कपटता और आत्मसुख-वाञ्छा या प्रतिष्ठा की आशा है । समस्त इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं । श्रीचैतन्यदेव द्वारा प्रचारित नित्य आत्मवृत्ति भक्तिपद को इन सब शत्रुओं ने कोटि-कण्टकरुद्ध बना दिया है । लोग फल्गुभोग, फल्गुत्याग, अन्याभिलाष कर्म-ज्ञान-योगविद्ध कपटभक्ति को ही भक्ति ही मान रहे हैं । किन्तु मैं अधोक्षज भगवान की सेवा करूँगा । मैं अपने प्रच्छन्न या स्पष्ट इन्द्रियतर्पणकारी कुत्ते की सेवा कर भंगी नहीं बनूँगा, गधे की सेवाकर धोबी नहीं बनूँगा, ईट-पत्थरों की सेवाकर इंजीनियर नहीं होऊँगा, जिनका ऐसा विचार है, वे ही महाप्रभु की प्रीति पा सकते हैं, भक्तिपथ का आश्रय ग्रहण कर सकते हैं । श्रीगौरसुन्दर प्राचीर जातीय अचित् वस्तु नहीं हैं । हममें जो नैसर्गिक अनादि वैमुख्यजनित बुद्धि आ गयी है, श्रीगौरसुन्दर की कृपा से ही उससे हमारा उद्धार हो सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है । अन्यान्य लोग यदि कृपा करने का अभिनय करते हैं, तो उन्हें वञ्चक जानना होगा । वे तो सब समय गौरनाम कीर्त्तन करते-करते मेरे सम्मुख नहीं आते हैं, वे तो गौरनाम, गौरलीला का गान नहीं करते, वे किस प्रकार गुरु का कार्य कर सकते हैं ? जो व्यक्ति जागतिक तुच्छ वस्तु में आसक्त हैं, वे पाठशाला के गुरु का कार्य कर सकते हैं, किन्तु पारमार्थिक गुरु का कार्य नहीं कर सकते ।

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय ।
जेई कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ गुरु हय ।।

गुणजात जगत् की जो क्रिया मुझे असुविधा में डाल रही है, ऐसी असुविधा के हाथ से मेरा उद्धार करने के लिए जो मर्मान्तिक आघात प्रदानकर मेरे हृदय ग्रंथिका छेदन कर सकते हैं, जो निष्कपट रूप में दया कर सकते हैं, जो मेरी खुशामद करने के लिए तैयार नहीं हैं, किन्तु निष्कपट रूप में मुझ पर दया कर सकते हैं, वे ही गुरुदेव हैं ।

282 **प्र०-हमारा क्या कर्तव्य हैं ?**

उ० - हम जगत में सभी से कहते हैं - For the time being you stop and lend your submissive and regardful ear. आपलोग कृपापूर्वक अपनी समस्त प्रकार की धारणाओं और बातों को दूर रखकर थोड़ा - बहुत श्रौत कथा (अर्थात् साधुओं के मुख से शास्त्र की बातें) श्रवण करें। मैं Transcendental sound का पक्षपाती हूँ। हमने जो Rubbish (गन्दी वस्तुएँ) संग्रह की हैं, उनका बोझ सिर पर रखकर चलने से ब्रज के मार्ग में भगवान की ओर एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकते। इस जगत में जो Giant Intellect (परम बुद्धिमान) के रूप में प्रसिद्ध हैं, वे अपनी बातों को कुछ समय के लिए बन्दकर Transcendental sound सुनें। Empiricism must never medium.भक्ति Suggestive वस्तु नहीं है, 'तुक लग गया तो ठीक है, नहीं तो कोई बात नहीं' ऐसी वस्तु नहीं है। वह तो Positive है, वास्तविकता का निर्देश कर देती है। Personal Godhead (भगवान) के आनुगत्य का विचार ही भक्ति है।

283 **प्र० - वैष्णव कौन हैं ?**

उ० - **कनक कामिनी, प्रतिष्ठा बाघिनी,**
छाड़ियाछे यारे सेइ त वैष्णव।
सेइ अनासक्त सेइ शुद्धभक्त,
संसार तथाय पाय पराभव ।।

अर्थात् कनक, कामिनी और प्रतिष्ठारूपी बाघिनी ने जिसे छोड़ दिया है, वही वैष्णव हैं, वही अनासक्त हैं और वही शुद्धभक्त हैं। संसार भी उनके सामने पराजित हो जाता है।

284 **प्र० - हमारा विचार कैसा होना चाहिए ?**

उ० - जो श्रीचैतन्यमहाप्रभु से विमुख हैं, ऐसे शरीर सम्बन्धीय आत्मीय बन्धु - बान्धवों को पराया समझना चाहिए। दुःसंग का परित्यागकर सत्संग करना चाहिए। साधुसंग किये बिना दुःसंग का सम्पूर्णरूप से त्याग नहीं किया जा सकता। जो श्रीचैतन्यदेव के भक्तों से विमुख, उदासीन या विद्वेषी हैं, उन्हें चैतन्य - विमुख समझें।

जो भगवान की कथाओं के श्रवण - कीर्तन में ही दिन व्यतीत करते हैं, वे ही साधु या भक्त हैं। परन्तु जो कृष्ण के इन्द्रियतर्पण या विलास - कथाओं का त्यागकर सांसारिक बातों या निर्विशेष - विचारों के अनुशीलन में ही

दिन व्यतीत करते हैं, वे ही असाधु या अभक्त हैं । जगत मेरे भोग की वस्तु है, मैं ही भोगी हूँ-यही जगद्दर्शन है । किन्तु वास्तव में यह जगत तो जगन्नाथ का अवस्थान-क्षेत्र (अर्थात् जगन्नाथ की भोग की वस्तु है ।)

श्रीगुरुपादपद्म को कृष्णप्रेष्ठ या नित्यसिद्ध ब्रजवासी जानने पर ही ब्रज में जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है । नित्यसिद्ध महाजन श्रीगुरुपादपद्म का अनुगमन और अनुसरण करना ही हमारा कर्तव्य है । तभी ब्रज में जा सकते हैं । किन्तु स्वतन्त्र होकर (भगवद् वस्तु को) माप लेने का विचार आने से ही संसार होगा, ब्रज में नहीं जा सकेंगे । निष्कपट रूप से हरिभजन करने के लिए हमें जी-जान से चेष्टा करनी चाहिए । क्योंकि हमारे पास और अधिक दिन नहीं हैं । हमें इस जगत से चले जाना पड़ेगा ।

आश्रयविग्रह श्रीगुरुपादपद्म के आनुगत्य में ही सेवा करनी होगी । सेवा बुद्धि या सेवा की चिन्ता प्रबल रहने पर अन्य किसी प्रकार की चिन्ता मन में आ ही नहीं सकती । श्रीरूपानुगवर श्रीगुरुपादपद्म की चरणधूलि हमारी एकमात्र आकांक्षा का विषय होने पर ही हमारा मंगल हो सकता है । श्रीगुरु-गौरांग के सुख की ओर हमारा तीव्र लक्ष्य रहने पर अपने सुख की इच्छा जीव को विपत्ति में नहीं डाल सकती । हरिभजन के उद्देश्य से ही हमें जीवन निर्वाह करना चाहिए । बाधा-विपत्ति आने पर कभी भी भजन नहीं छोड़ना चाहिए ।

285 **प्र०-गौड़ीय मठ क्या कहता है ?**

उ०-Back to God and Back to Home is the message of Gaudiya Math. भगवान के पास चलो, अपने घर लौट चलो-यही गौड़ीय मठ का संदेश है ।

शुद्धभक्ति की बातें-महाप्रभु के उपदेशों का जगत में प्रचार करने के लिए ही गौड़ीय मठ का अवतार हुआ है । महाप्रभु के अमूल्य उपदेश और शिक्षाओं का प्रचार ही गौड़ीय मठ के प्रचार का विषय है । गौड़ीय मठ के प्रचारक श्रीमद्भागवत की कथाओं का स्वयं आचरणकर विश्व में प्रचार करते हैं । वे आचरणशील प्रचारक हैं ।

286 **प्र०-भगवान का दर्शन कैसे होगा ?**

उ०-जो सब समय भगवान की उपासना में लगे रहते हैं, ऐसे निष्किञ्चन महापुरुषों का आश्रय ग्रहण करने पर ही अर्थात् जब वे अपने श्रीहस्तकमल से हमारे नेत्रों को खोल देंगे, तभी हमें भगवान का दर्शन हो सकता है । जो सब

समय भगवान का भजन करते हैं, जो पग-पग पर भगवान की सेवा करते हैं, जो अपना सर्वस्व प्रदान कर भगवान की सेवा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करते, ऐसे किसी साधु-गुरु की सेवा ही हमें भगवान की अनुभूति करा सकती है ।

कृष्ण तो भक्तों की अपनी सम्पत्ति है । भक्त ही कृष्ण को दे सकते हैं, कृष्ण का दर्शन करा सकते हैं । भक्तों को प्रसन्न करने पर ही सिद्धि होगी ।

भोगोन्मुख चित्त में भगवान की अनुभूति नहीं होती, सेवोन्मुख चित्त में ही कृष्ण की अनुभूति या कृष्ण का दर्शन प्राप्त होता है । स्वयं को भगवान का सेवक जानकर सब समय श्रीगुरु-गौरांग की सेवा करते-करते ही सेव्य (कृष्ण) की अनुभूति होती है । सेवा-पथ से ही सेव्य का साक्षात् दर्शन सम्भव है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ।

287 **प्र०-कृष्ण को कौन प्राप्त करेगा ?**

उ०-जिसका ऐसा दृढ़-विश्वास है कि कृष्ण अवश्य ही मेरी रक्षा करेंगे, उसी की सिद्धि होगी अर्थात् वह कृष्ण को प्राप्त करेगा । जो सम्पूर्ण रूप से भगवान के ऊपर निर्भर रहते हैं, जो निरन्तर भगवान की कथाओं की चर्चा करते हैं, उनके चरणकमलों में शरण ग्रहण करना ही एकमात्र रक्षा प्राप्ति का उपाय है । वे पतितपावन होते हैं । अतः उनकी शरण ग्रहण करने से वे अवश्य ही मेरी रक्षा करेंगे । उनके श्रीचरणों में आश्रित व्यक्ति ही रक्षा पायेगा, किन्तु निराश्रय व्यक्ति रक्षा नहीं पायेगा । पूर्ण शरणागत होने पर कृष्ण की पूर्णकृपा अवश्य ही होगी ।

288 **प्र०-क्या कर्ताभिमानी व्यक्ति का मंगल होता है ?**

उ०-कर्ममार्ग में विचरण करनेवाला व्यक्ति ही कर्ता है । कर्म अमंगल का मार्ग है । उसमें मंगल या भक्ति का स्थान ही नहीं है । हमलोग कर्म को बड़ा मानकर अमंगल की ओर दौड़ रहे हैं । सत्कर्म करके हम सबका प्रिय बनना चाह रहे हैं । अधिक से अधिक परिमाण में सांसारिक कर्म करके हम आत्मीय-स्वजनों की प्रीति प्राप्त करने में व्यस्त हैं, किन्तु इससे हमारा मंगल नहीं होगा, संसार से हमारा उद्धार नहीं होगा । इसीलिए भगवान के भक्त कृपापूर्वक कह रहे हैं-भगवान की सेवा करना ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है । देवता, पशु, पक्षी एवं मनुष्य आदि सभी का कर्तव्य भगवान की सेवा करना ही है । किन्तु भक्तों की बात न सुनकर हमलोग सोच रहे हैं कि जब मैं पिता बना

हूँ, तो पुत्र-कन्या की सेवा करना, उनकी पढ़ाई-लिखाई आदि की व्यवस्था करना ही मेरा काम है । जब पुत्र हुआ हूँ, तो माता-पिता की सेवा करना ही मेरा काम है । इस प्रकार के बहुत से संकल्प हमारे हृदय में उदित हो रहे हैं । इसी का नाम है - अवैष्णवता, भगवद् बहिर्मुखता या माया की दासता ।

289 **प्र० – श्रीनाम में हमारी रुचि कैसे होगी ?**

उ० - मंगलाकांक्षी साधक श्रीनाम के चरणकमलों में स्वयं को अर्पण कर देते हैं । वे दृढ़तापूर्वक जानते हैं कि श्रीनामसंकीर्तन ही सर्वार्थसिद्धि प्राप्ति का एकमात्र उपाय है । जिस दिन हमारी मन्त्रसिद्धि होगी, उसी दिन हमारे मुख में सदैव ही हरिनाम नृत्य करता रहेगा ।

जो कृष्णकीर्तन करते हैं, ऐसे मठवासी भक्तों की सेवा से विमुख होकर भजन का अभिनय करने पर हमारा मंगल नहीं होगा । आदरपूर्वक मठवासी भक्तों की सेवा करने पर ही श्रीनामकीर्तन में अधिकार प्राप्त हो सकता है, नाम - भजन में रुचि बढ़ेगी । किन्तु ऐसा न कर यदि हम अपने आत्मीय - स्वजनों की सेवा में ही लगे रहेंगे, तो हरिनाम नहीं होगा । किन्तु गृहस्थ - भक्त यदि साधुसंग एवं भजन के प्रभाव से कर्ता - अभिमान और गृहासक्ति से मुक्त होकर घर में वास कर सकते हैं, तथा घर में रहने वाले लोगों को एवं समस्त वस्तुओं को अपने भोग की वस्तु न समझकर भगवान की सेवा की वस्तु समझ सकें, तो उनका भी मंगल होगा ।

साधुसंग में ही हरिनाम होता है । असाधुओं के संग में हरिनाम नहीं होता । साधुसंग, हरिकथा - श्रवण तथा हरि - गुरु - वैष्णवों की सेवा में उदासीन रहने पर नाम नहीं होगा । इसलिए गृहस्थ हो या मठवासी, सभी के लिए इन तीन विषयों में चेष्टारत रहना आवश्यक है । तभी मंगल हो सकता है, हरिनाम में रुचि हो सकती है, चेतन का उन्मेष होगा, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हुआ जाएगा ।

290 **प्र० – शुद्धसेवा की प्राप्ति एवं भगवान का दर्शन कब होगा ?**

उ० - जिस दिन हम यह उपलब्धि कर पायेंगे कि सेवाविग्रह श्रीगुरुदेव श्रीगौरांग महाप्रभु से अभिन्न हैं, उसी दिन वास्तव में ही हमें भगवान की सेवा प्राप्त हो जाएगी । उस समय धर्म, अर्थ, काम यहाँ तक कि मुक्ति भी तुच्छ प्रतीत होगी । जब हम महान्त गुरुदेव को श्रीगोरांगदेव के निजजन के रूप में अनुभव करते हैं, तभी श्री राधागोविन्द की लीलाकथाएँ हमारे निर्मल हृदय में

स्फूरित हो सकती हैं । तभी भगवान का दर्शन भी सम्भव है ।

291 **प्र० – पशु किसलिए मनुष्य होते हैं ?**

उ० – पशु हरिभजन के लिए मनुष्य होते हैं । केवल पशु ही क्यों देवता भी हरिभजन के लिए मनुष्य जन्म प्राप्त करने की इच्छा करते हैं । देवताओं के लिए भी दुर्लभ ऐसा मनुष्य जन्म पाकर यदि हम पशुओं की भाँति आहार – विहार में ही व्यस्त रहें, संसार में प्रमत्त होकर यदि हमने हरिभजन न किया अथवा हरिभजन के नाम पर विषयी का विषयी ही रहा, तो हमारा जीवन व्यर्थ ही गया । मनुष्य – जन्म पाकर भी हमारा कोई लाभ नहीं होगा ।

यदि हरिभजन ही न करूँ तो जीवित रहकर क्या होगा ? क्योंकि हरिभजनहीन जीवन तो व्यर्थ है । उसके फल से मुझे जन्म – जन्मान्तर तक दुःख भोगना पड़ेगा ।

292 **प्र० – भक्तलोग क्या कहते हैं ?**

उ० – श्रीभगवान के भक्तलोग कहते हैं – हे जीव ! तुम भगवान के सेवक हो । इस जगत के साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि तुम भगवान के सेवक हो, अतः भगवान की सेवा करो, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मत करो । यदि हरिसेवा के अतिरिक्त तुम अन्य कुछ करोगे, तो तुम्हें अशान्ति ही प्राप्त होगी ।

हे जीव, हरिसेवा के नाम पर अपना इन्द्रियतर्पण मत करो । याद रखो कि कृष्ण के इन्द्रियतर्पण का नाम ही सेवा है । जिस कार्य से तुम्हारा इन्द्रियतर्पण हो या तुम्हारे बहिर्मुख आत्मीय – स्वजनों का सुख हो, उस कार्य को करने का नाम सेवा नहीं है । उसे सेवा मानने का अर्थ है – अपने को वञ्चित करना । गृहसेवा को भगवान की सेवा मानकर भूल मत करना । भगवान का आश्रय ग्रहण करो, माया की सेवा में और समय नष्ट मत करो । क्योंकि माया की सेवा करने से तुम्हारा कल्याण तो होगा ही नहीं, अपितु दिन – प्रतिदिन तुम्हारी संसार में आसक्ति बढ़ती ही जाएगी, जिसके फलस्वरूप तुम्हें भगवान की प्राप्ति नहीं होगी । तुम भगवान के लिए व्यस्त हो जाओ, तभी तो भगवान को पाओगे । इसीलिए कह रहा हूँ – चतुर बनो, समस्त बहिर्मुख लोगों की वञ्चनाकर कृष्ण की सेवा करो तभी श्रीगुरु – गौरांग तुम पर प्रसन्न होंगे ।

293 **प्र० – हृदय – मन्दिर में कौन भगवान की सेवा करते हैं ?**

उ० – शुद्धभक्त अपने हृदय – मन्दिर में भगवान को प्रतिष्ठित करते

हैं। वे 'भावे भावे हृदय भवने भावयेयं भवन्तम्' विचार में प्रतिष्ठित होते हैं। प्रहलाद आदि भक्तों ने भी हृदय में भगवान को प्रतिष्ठित कर उनकी सेवा की। भगवान का मन्दिर सब समय खोलकर नहीं रखा जा सकता, किन्तु हृदय-मन्दिर सब समय खुला रहता है। कनिष्ठ अधिकारी भक्त हृदय-मन्दिर में भगवान की सेवा की बात नहीं समझ सकता।

294 **प्र०-गुरु कौन है और गुरुसेवा कैसे करनी चाहिए ?**

उ०-गुरु एवं वैष्णव अप्राकृत श्रीमन्दिर हैं। भगवान जहाँ-तहाँ पर प्रकाशित नहीं होते। वे गुरु एवं वैष्णवों के हृदय में ही अपने को प्रकाशित करते हैं। अनेक लोग भगवान का दर्शन करना चाहते हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि गुरु के दर्शन से ही भगवान का दर्शन होता है। यदि श्रीगुरुपादपद्म नामक कोई वस्तु न रहे, तो भक्ति प्रारम्भ ही नहीं होती। गुरु ही कृष्ण के श्रीचरणकमलों के दर्शन में योगसूत्र हैं। कृष्ण अपने सबसे श्रेष्ठ सेवक या श्रेष्ठ वैष्णव को इस जगत में भेजकर जिस अपार करुणा का परिचय देते हैं, उस करुणाशक्ति के मूर्तविग्रह ही श्रीगुरुपादपद्म हैं।

श्रीगुरुदेव हमारे परम-आत्मीय हैं। इसलिए केवल सम्भ्रमपूर्वक केवल दूर रहकर कर्तव्यबुद्धि से गुरुसेवा करने से नहीं होगा, विश्रम्भपूर्वक अर्थात् दृढ़ विश्वास एवं प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा करनी होगी। तभी मंगल होगा। हमारे लिए श्रीकृष्ण की अपेक्षा गुरु की प्रयोजनीयता अधिक है। श्रीगौरांगदेव समस्त गुरुओं के भी गुरु हैं। उन्होंने बताया है कि गुरु भगवान से अभिन्न होने पर भी भगवान के भक्तों में प्रधान हैं। उन भक्तराज कृष्णप्रेष्ठ गुरु को त्यागकर भगवान की सेवा नहीं होती। गुरुसेवा के अतिरिक्त जीव के मंगल का अन्य कोई उपाय नहीं है।

295 **प्र०-दिव्यज्ञान क्या है ?**

उ०-हम सेव्य हैं, हम कर्ता हैं, हम भोक्ता हैं-ये विचार ही अचिद्ज्ञान या अज्ञानता है। परन्तु हम अद्वितीय भोक्ता भगवान के भोग्य या सेवक हैं, यह उपलब्धि ही दिव्यज्ञान या चिन्मय-ज्ञान है।

296 **प्र०-मनोबल कैसे होगा ?**

उ०-हम दुर्बल हैं। हमारे लिए मनोबल आवश्यक है। जीवन्त साधुओं के मुख से भगवान की वीर्यवती कथाओं का श्रवण करने से ही हमें मनोबल प्राप्त होगा। बलवान् साधुओं के संग के अतिरिक्त मनोबल प्राप्ति

असम्भव है ।

297 **प्र० – हमारा मंगल कैसे होगा ?**

उ० – हम भगवान के सेवक हैं । इसलिए हमें भगवत्सेवा की ही आवश्यकता है । उसी से मंगल होगा । भगवत्सेवा से बढ़कर हमारा अन्य कोई कर्तव्य नहीं है ।

हमें माया के संसार में प्रविष्ट न होकर कृष्ण के संसार में प्रविष्ट होना होगा, कर्ता न होकर सेवक होना होगा । तभी हमारा मंगल होगा ।

298 **प्र० – शरणागत भक्त लोग भिक्षा क्यों करते हैं ?**

उ० – भगवान जो कराते हैं, शरणागत – भक्त वैसा ही करते हैं । श्रीगौरसुन्दर के उपदेशानुसार सभी का कल्याण करने के लिए ही भक्त लोग द्वार – द्वार जाकर भगवान की सेवा के लिए भिक्षा करते हैं । उन्होंने जो सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति प्राप्त की है, वे उसे सभी को बाँटने के लिए ही, सभी को कृष्णसेवा – महोत्सव में आह्वान करने के लिए ही द्वार – द्वार पर जाते हैं । आत्मेन्द्रिय – प्रीतिवाञ्छा के वशीभूत होकर वे कहीं नहीं जाते । भक्तों की दया की तुलना ही नहीं है । सभी को भगवत् – उन्मुख करने के लिए ही वे सदा प्रचेष्टा करते हैं ।

299 **प्र० – हमारी संसार प्रवृत्ति कैसे कम होगी ?**

उ० – संसार तृणाच्छादित कूप (घास से ढके हुए कुँए) के समान है । इस संसारकूप में एक बार गिर जाने पर, फिर इससे बाहर निकलना बहुत ही कठिन है । भगवान की कृपा के बिना केवल अपनी चेष्टा से कोई भी इस संसारकूप से बाहर नहीं निकल सकता । **हम लोग कृष्ण के दास हैं, इस बात को भूलते ही हमें माया का दास होना पड़ेगा ।** भगवान की सेवा ही भक्ति है और भोग की इच्छा अभक्ति । प्रणिपात, परिप्रश्न तथा सेवावृत्ति के साथ गुरु – वैष्णवों से कृष्ण की कथाओं का श्रवण ही इस अभक्ति को परित्याग करने का एकमात्र उपाय है । तभी संसार करने की प्रवृत्ति दूर होगी और श्रीकृष्णसंकीर्तन में रुचि होगी ।

300 **प्र० – शरणागत का विचार किस प्रकार का होता है ?**

उ० – ऐकान्तिक भक्त भगवान के समस्त विधानों को सिर झुकाकर स्वीकार करते हैं । भगवान की व्यवस्था में चंचलता प्रकाश करने से उसमें श्रद्धा का अभाव और अन्याभिलाष प्रमाणित होता है ।

भगवत् कृपा बाह्य दृष्टि से दण्ड या निष्ठुरता प्रतीत हो अथवा सम्पद् से युक्त हो, भक्त उस ओर न देखकर ऐकान्तिक भाव से भगवान के शरणागत रहते हैं । जागतिक किसी प्रकार की असुविधा उसे शरणागति से - कृष्ण को रक्षक के रूप में वरण करने से बिन्दुमात्र भी हटा नहीं सकती ।

भगवान सर्वद्रष्टा हैं; किन्तु बद्धजीव का दर्शन विभिन्न प्रकार की बाधाओं से युक्त है । कार्यतः भगवान के विधान में असन्तोष या चंचलता प्रकाश करने से अपने अमंगल का ही स्वागत किया जाता है । भगवान के विधान में सन्तुष्ट होकर अनुक्षण हरिसेवा के अतिरिक्त शरणागत व्यक्ति का कोई दूसरा विचार नहीं होता ।

301 **प्र० - किस विषय में यत्नवान् होना चाहिए ?**

उ० - आत्मा की नित्य वृत्ति को जाग्रत कर भगवान की सेवा - प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए । ब्रजेन्द्रनन्दन की सेवा - प्राप्ति के लिए ही सदैव यत्नवान् होना होगा । कृष्ण जिनपर कृपा करते हैं, उनकी भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई सम्पत्ति या आश्रय नहीं रहता । जन्म, ऐश्वर्य, श्रुत (पाण्डित्य) और श्री (सौन्दर्य) के गर्व से गर्वित होने से उनकी कृपा प्राप्त नहीं होगी, तब संसार में ही वास होगा ।

श्रेयःपन्था में परिचालित होने से प्रेयःपन्था अच्छी नहीं लगती । इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति श्रेयःपन्था को ग्रहण कर मृत्युकाल तक सत्संग में भगवान का भजन करते हैं । जगत की सभी वस्तुएँ भगवान की हैं । उसमें लोभ करने से ही असुविधा में हम पड़ जायेंगे । जो भगवान की कथा के श्रवण से विमुख हैं, वे ही संसार में आसक्त या आबद्ध रहते हैं । वे मनोरथ में विचरण कर दुर्दैव में पड़ते हैं ।

मैं वैष्णव हो गया हूँ - इस प्रकार की दुर्बुद्धि छोड़कर दीन होकर कृपा - प्रार्थना करते - करते सेवा - प्राप्ति के लिए यत्न करना होगा । गुरु - वैष्णव - भगवान की कृपा होने पर ही भगवान की सेवा प्राप्त करूँगा । तब और अहंकार नहीं रहेगा । मानव काम - क्रोध के वशीभूत होकर दाम्भिक होता है । दाम्भिक होने से गुरु - वैष्णवों के चरणकमलों का आश्रय अनावश्यक लगने लगता है । उससे बद्धदशा की फाँसी (पाश) और भी दृढ़बद्ध होती है ।

सब समय साधुसंग में रहना चाहिए । सत्संग को छोड़कर हम बच नहीं सकते । सत्संग से अलग रहकर निर्जन में मानसिक चिन्ताधारा को लेकर रहने

से प्रभु होने की दुर्बुद्धि प्रबल होती है । तब सावधान नहीं रहने से साधु-गुरु की आज्ञा के अनुवर्ती न रहने से विपद में पड़ जायेंगे । निराश्रय होने पर ही माया उसे पकड़ लेगी-अपना दास बनाकर संसार में घुमायेगी ।

302 **प्र०-गुरुकृपा और कृष्णकृपा क्या एक है ?**

उ०-गुरुकृपा और कृष्णकृपा अलग नहीं है । गुरुदेव कृष्णभजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते । और कृष्ण भी अपने प्रेष्ठजन की सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा को स्वीकार नहीं करते । गुरु और कृष्ण दोनों ही परस्पर प्रेमासक्त हैं, एक-आत्मा हैं, दोनों ही परस्पर प्राणों से प्रिय हैं । श्रीगुरुदेव कृष्ण-भक्तिमान् हैं और कृष्ण भक्त-भक्तिमान हैं । सभी की सेवाएँ गुरुदेव द्वारा ही कृष्ण के चरणों में निवेदित होती हैं । जिनकी नित्यकाल सेवा करनी होगी, वही गुरुदेव ब्रह्माण्डवासी साधारण जीव नहीं हैं, वे पतित जीव के उद्धार के लिए कृष्ण की इच्छा से प्रपंच (संसार) में अवतरित हो कर भाग्यवान् जीव को भगवत् सेवा की शिक्षा देते हैं । उनके द्वारा ही कृष्ण का प्रसाद हमारे निकट पहुँचता है ।

303 **प्र०-असुविधा होने पर भक्त क्या करते हैं ?**

उ०-असुविधा में डालकर भगवान हमारी परीक्षा करते हैं । जो यथार्थ भगवत् सेवक हैं, वे किसी भी अवस्था में विचलित न होकर समस्त अवस्थाओं में ही काय-मनोवाक्य से भगवान की सेवा करते हैं । प्राकृत भोग उनको स्पर्श नहीं कर सकता । वे सदैव सेवा में ही अवस्थित रहते हैं । वे जानते हैं-सेवा ही मेरा जीवन है, सेवा ही मेरी सत्ता है, सेवा ही मेरा कर्म है इसके अतिरिक्त जो कुछ है सभी मृत्यु या संसार है ।

304 **प्र०-क्या किसी को वैष्णव किया जा सकता है ?**

उ०-वैष्णव हुआ या किया नहीं जाता । विश्व सभी स्वरूपतः वैष्णव अर्थात् विष्णु के सेवक हैं-इस स्वरूप को साधुसंग में अनुभव किया जाता है ।

305 **प्र०-कब ब्रज में जाना होगा ?**

उ०-जब गुरुदेव को गदाधर पण्डित से अभिन्न समझेंगे, तभी ब्रज में जाने का मार्ग प्रशस्त होगा । और जब सोचने लगे कि वे वैसे नहीं हैं, तभी मुश्किल है ।

बुद्धिमान का कार्य है-महाजन का अनुगमन और अनुसरण । स्वयं नाप लूँगा-यह विचार विश्वदर्शन का विचार है-भोग का विचार है । इससे

संसार प्राप्त होगा, ब्रज में नहीं जा सकते । भोगबुद्धि से विश्वदर्शन असुविधा की बात है । हम विश्व के ऊपर प्रभुत्व करेंगे - इस भावना से प्रेरित होकर जो विश्वदर्शन है, वह हमारे बन्धन का कारण है । विश्व हमारी इन्द्रियों को तृप्त करे - इस विचार से ही संसार की उत्पत्ति है ।

306 **प्र० - कर्मी लोगों की चित्तवृत्ति किस प्रकार की है ?**

उ० - एक व्यक्ति जल में डूब रहा है, Altruistic (परहितवादी) कर्मी की चिन्ताधारा है कि उस drowning man (डूब रहे व्यक्ति) के जूते और कुर्ते को बचाना । पश्चिमी देशों के धर्म में भी मनुष्य के आवरण का उपकार करना ही बड़ी बात है । मनुष्य का उपकार करने का अर्थ अनेक लोग समझते हैं कि मनुष्य के आवरण का उपकार करना । जीवात्मा के ऊपर जो देह और मनरूप स्थूल एवं सूक्ष्म दो आवरण हैं, मानव जाति उन दोनों आवरणों के क्षणस्थायी और विश्वासघातक उपकार को ही उपकार मानती है । इसलिए हमारे एक जर्मन भक्त ने कहा है - मनुष्य डूब रहा है तो डूबने दो, मनुष्य की आत्मवृत्ति अधःपतित हो रही है तो होने दो, परन्तु मनुष्य की देह और मन को भोगों की आपूर्ति कर उसके जूते और कुर्ते को बचाने को ही जगत में तथाकथित परहितवादी कर्मी सम्प्रदाय के मनुष्य उपकार मानते हैं । कितने दुःख की बात है ।

307 **प्र० - महाप्रभु के संगी और भक्त क्या एक बात है ?**

उ० - नहीं । संगी अर्थात् सम्यक् रूप से जो गमन करते हैं, उनको ही संगी कहा जाता है । जो निरन्तर संग नहीं करते, उनको संगी नहीं कहा जाता, वे महाप्रभु के भक्त नहीं हो सकते । संगी का अर्थ पार्षद है । श्रीनरोत्तम ठाकुर महाप्रभु के प्रकट काल में आविर्भूत न होने पर भी वे महाप्रभु के संगी हैं । क्योंकि वे महाप्रभु के मनोभीष्ट को पूर्ण करने के लिए जगत में अवतीर्ण हुए थे । वे नित्यकाल महाप्रभु की सेवा में मत्त हैं - महाप्रभु के हृदय के भाव में विभावित हैं । वे विश्रम्भ भाव के परिपोषक हैं । अतः ठाकुर महाशय नित्यसिद्ध हैं ।

308 **प्र० - साधन क्रिया और साधन भक्ति क्या एक हैं ?**

उ० - नहीं । साधन क्रिया का प्रभाव कुछ भी आत्मा के ऊपर नहीं होता। साधन क्रिया चिदाभास मन की भूमिका पर ही होती है । कालाधीन हरिवैमुख्य - नाशिनी साधनक्रिया और नित्य साधनभक्ति (शुद्धभक्ति) में प्रकार भेद है । भक्ति के जिन सभी अंगों के याजन द्वारा अनर्थनिवृत्ति करने की चेष्टा की जाती है, वही

साधन क्रिया है । अनर्थ दूर होने से सेवावृत्ति, शुद्धभक्ति या साधन भक्ति स्वतः ही प्रकाशित होती है ।

साधन क्रिया आत्मा के ऊपर कार्य नहीं करती । किन्तु साधन भक्ति आत्मा की भूमिका पर नित्य क्रियावती है । चिदाभास मन के ऊपर ही साधनक्रिया प्रयुक्त होती है । आत्मा के ऊपर ही साधन क्रिया कभी भी प्रयुक्त नहीं हो सकती । आत्मधर्म - आत्मा की वृत्ति या स्वभाव ही भक्ति है । साधन आदि मन को निग्रह करने के लिए हैं । मनोधर्म का निग्रह होने पर आत्मवृत्ति विकसित होती है । आत्मवृत्ति में साधन भक्ति प्रकाशित होने पर जीव क्रमानुसार भाव और प्रेमभक्ति में आरूढ़ होता है । साधन भक्ति की परिपक्व अवस्था में ही क्रमशः भावभक्ति और प्रेमभक्ति का प्रकाश होता है, जिस प्रकार एक आम की अपक्व, अर्द्धपक्व और पक्व अवस्था है । परन्तु साधन क्रिया जातीय वस्तु नहीं है । साधनभक्ति और साधन क्रिया के परस्पर सम्बन्ध और भेद को न समझ पाने के कारण जगत में विभिन्न प्रकार के कलह की सृष्टि हुई है और हो रही है ।

309 **प्र० – गुरु के साथ हमारा अन्तर कहाँ पर है ?**

उ० - मैं लघु (छोटे) से भी लघु उससे भी लघु हूँ; और जो सदैव वृहत् (भगवान) की सेवा करते हैं, वे गुरुदेव वृहत् (बड़े) से भी वृहत् उससे भी वृहत् हैं ।

310 **प्र० – क्या किसी वंश में भक्त का जन्म होने पर उसी वंश का कुछ मंगल होता है ?**

उ० - जिस कुल में महाभागवत आविर्भूत होते हैं, उस कुल के आगे और पीछे की सौ पीढ़ियाँ तर जाती हैं । मध्यम भागवत (वैष्णव) आविर्भूत होने पर ऊर्ध्व और अधस्तन चौदह पीढ़ियाँ उन्नत हो जाती हैं । और कनिष्ठ भागवत (वैष्णव) आविर्भूत होने पर ऊर्ध्व और अधस्तन तीन पीढ़ियाँ उन्नत हो जाती हैं ।

311 **प्र० – भक्तगण नीच कुल में क्यों आविर्भूत होते हैं ? भक्तों का तो कर्मफल नहीं है, तो भक्तगण मूर्ख, रोगग्रस्त के रूप में क्यों दिखाई देते हैं ?**

उ० - भक्त कभी भी कर्मफल के लिए बाध्य नहीं हैं । भगवान की इच्छा से ही उनकी जन्म आदि लीलाएँ होती हैं । जो देखा जाता है कि भक्त

नीच कुल में आविर्भूत होते हैं, साधारण आँखों के लिए वे मूर्ख रोगग्रस्त आदि के रूप में दिखाई देते हैं, उसका भी महत् उद्देश्य है । लोग यदि देखेंगे कि भगवद् भक्त केवल उच्च कुल में ही आविर्भूत होते हैं, बलवान् और जागतिक पण्डित रूप में विराजित रहते हैं, तो वे निरुत्साह हो जायेंगे । इसलिए करुणामय भगवान सभी लोगों के मंगल के लिए विभिन्न श्रेणी के लोगों में अपने भक्तों को आविर्भूत कराकर जीवों के प्रति दया करते हैं । पालित शिक्षित हथिनी को भेजकर जंगली हाथी को पकड़ने की भाँति इसे समझना होगा । श्रील वृन्दावनदास ठाकुर ने कहा है-

शोच्य-देशे शोच्य-कुले आपन समान ।
जन्माइया वैष्णव सबारे करेन त्राण ।।
जेइ देशे, जेइ कुले वैष्णव अवतरे ।
ताँहार प्रभावे लक्ष योजन निस्तर ।।
जत देखा वैष्णवेर व्यवहार-दुखा ।
निश्चय जानिह सेई परानन्दसुखा ।।
विषयमदान्ध सब किछुइ ना जाने ।
विद्या-धन-कुल मदे वैष्णव ना चिन ।।

अर्थात् शोचनीय (हीन) देश में, शोचनीय कुल में अपने समान वैष्णव को पैदा कराकर भगवान सभी का उद्धार करते हैं । जिस देश या जिस कुल में वैष्णव आविर्भूत होते हैं, उनके प्रभाव से एक लाख योजन के अन्दर सभी का उद्धार हो जाता है । बाहर से उनके व्यावहारिक दुःख दिखाई देने पर भी वे सदैव परमानन्द में मग्न रहते हैं । परन्तु सांसारिक विषय मद में अन्धे हुए व्यक्ति यह नहीं समझ सकते । वे अपने विद्या, धन और कुल के मद से वैष्णव को नहीं पहचान सकते ।

यदि भगवद् भक्त नीच कुल में आविर्भूत हुए हैं, तो ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि भक्त ने पापयोनि प्राप्त की है अर्थात् ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि पूर्व जन्म के दुष्कर्म के फल से बाध्य होकर वे नीच शूद्र कुल में पैदा हुए हैं । परन्तु समझना होगा कि उन्होंने नीचकुल में जन्म लेकर उस कुल को पवित्र किया है । कोई सज्जन यदि कलियुग की एक मात्र साधनपद्धति में सिद्धि प्राप्त करते हैं, तो वे ही श्रेष्ठ हैं ।

312 **प्र०-जहाँ हरिकीर्तन होता है, क्या वह धाम है ?**

उ०-भगवद् भक्त जहाँ रहकर निरन्तर भगवान की कथा का कीर्तन और चर्चा करते हैं, उन सभी स्थानों को मैं श्रीधाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं मान सकता । वे सभी स्थान नित्यधाम के चिद्विलास-क्षेत्र हैं । श्रीविष्णु का अधिष्ठान-क्षेत्र-प्रत्येक जीव का हृदय है, प्रत्येक परमाणु है । अर्थात् वे प्रत्येक जीव हृदय में एवं कण-कण में विद्यमान हैं । अतः सर्वत्र ही श्रीधाम है । जिस दिन श्रीगुरुदेव की कृपा हृदय में प्रकाशित होती है, उसी दिन इस प्रकार का दर्शन होता है ।

313 **प्र०-क्या श्रीचैतन्यदेव साक्षात् भगवान हैं ?**

उ०-निश्चय ही । श्रीचैतन्यचन्द्र साक्षात् परमेश्वर हैं । श्रीगौरांग महाप्रभु परम परिपूर्ण चेतनवस्तु विभुचैतन्य वस्तु हैं । वे स्वयं भगवान हैं । वे ईश्वरों के भी ईश्वर-परमेश्वर हैं । इसलिए नित्यसिद्ध भगवत् पार्षद श्रील नरोत्तम ठाकुर ने गाया है-

ब्रजेन्द्रनन्दन जेइ शचीसुत हैल,
सेइ बलराम हइल निताई ।

अर्थात् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही शचीसुत हुए और बलराम निताई हुए । शास्त्र और भी कहते हैं-

स्वयं भगवान कृष्ण, कृष्ण परतत्त्व ।
पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द परम-महत्त्व ।।
नन्दसुत बलि' जाँरे भागवते गाय ।
सेइ कृष्ण अवतीर्ण चैतन्य गोसांई ।।
स्वयं भगवान् कृष्ण, कृष्ण सर्वाश्रय ।
परम ईश्वर कृष्ण सर्वशास्त्र कय ।।
सेइ कृष्ण अवतारी ब्रजेन्द्रकुमार ।
आपने चैतन्यरूपे कैल अवतार ।। (चै. च.)

अर्थात् कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, परतत्त्व हैं, पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द, परम महत्त्व हैं । श्रीमद्भागवत में जिनको नन्दनन्दन कहा गया है, वही कृष्ण श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतीर्ण हुए हैं । स्वयं भगवान् कृष्ण सबके आश्रय हैं, परमेश्वर हैं-ऐसा सभी शास्त्रों में कहा गया है । वे ब्रजेन्द्रकुमार कृष्ण अवतारी हैं, वे स्वयं चैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतरित हुए । हम भगवान के सेवक हैं, भगवान की सेवा ही हमारा नित्य कर्तव्य है । कलिकाल में भगवान

श्रीकृष्णचन्द्र ही श्रीगौरांग के रूप में अवतीर्ण हुए । इसलिए भगवान श्रीगौरांगदेव ही कलियुगवासी हम सभी के नित्य उपास्य हैं, नित्य आराध्य वस्तु हैं । **जो साक्षात् भगवान श्रीचैतन्यचन्द्र का भजन नहीं करते, वे निश्चय ही अचेतन हैं ।** परमदयालु श्रीचैतन्यचन्द्र की उपासना जिन्होंने नहीं की, उनके लिए चैतन्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है ।

श्रीचैतन्यचन्द्र सोलह कलाओं से युक्त परिपूर्ण वस्तु हैं । अतः उनकी चेतनमयी कथा जीव के हृदय में प्रविष्ट होने पर जीव को सोलह आना उनके चरण-कमलों में आकर्षित करेगी ही करेगी । जिन्होंने आंशिक रूप से उनकी कथा का श्रवण किया है, उन्होंने श्रीचैतन्यदेव के चरणकमलों में अपने को आंशिक रूप से प्रदान किया है, जितने दिनों तक जीव देह, मन, पुत्र, पत्नी, काय-मनोवाक्य सर्वस्व के द्वारा श्रीचैतन्यचन्द्र की सेवा में निरन्तर उन्मत्त नहीं होते, तब तक उनके द्वारा श्रीचैतन्यदेव की कथा का सोलह आना श्रवण नहीं हुआ, ऐसा समझना होगा ।

श्रीगौरसुन्दर त्रिकालसत्य वस्तु हैं । श्रीगौरांगदेव श्री श्रीराधागोविन्द के मिलिततनु हैं । साक्षात् श्रीकृष्ण होकर भी राधाभाव में विभावित होकर उन्होंने जगत के मंगल के लिए कृष्णसेवक की लीला की है । इसलिए अज्ञता के कारण कोई-कोई उनको केवल महापुरुष या प्रचारक मानते हैं, किन्तु वे वैसा नहीं हैं । वे साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण हैं । 'ब्रजेन्द्रनन्दन ही शचीनन्दन हुए । श्रीगौरांगदेव श्रीजगन्नाथ मिश्र के नन्दन अर्थात् आनन्दवर्धक हैं । श्रीजगन्नाथ मिश्र पिता के रूप में उनके सेवक हैं ।

श्रीगौरांगदेव सच्चिदानन्द विग्रह, असमोर्ध्व वस्तु अवतारी हैं । अन्य अवतारगण उनसे ही प्रकटित हैं । वे परतत्त्व की पराकाष्ठा, स्वयं भगवान, स्वयंरूप भगवान, मूल भगवान या अंशी भगवान हैं । कोई उनके समान या उनसे बड़ा नहीं है । श्रीगौरसुन्दर श्रीब्रजेन्द्रनन्दन होने पर भी विप्रलम्भ के अवतार हैं । **श्रीकृष्ण सम्भोगमय विग्रह हैं और श्रीगौरांगदेव विप्रलम्भमय विग्रह हैं । श्रीकृष्ण माधुर्यविग्रह हैं और श्रीगौरांगसुन्दर औदार्य-विग्रह हैं ।**

314 **प्र०-श्रीगौरांगदेव ने कौन सी दया की है ?**

उ०-श्रीगौरसुन्दर ने कहा है-श्रीकृष्णसंकीर्तन ही मानव जाति का एकमात्र कर्तव्य है । यही उनकी महावदान्यता (महादयालुता) है । श्रेष्ठ देवताओं के लिए यहाँ तक कि भक्तश्रेष्ठ उद्धव आदि के लिए भी दुष्प्राप्य एवं

नारद आदि के लिए अगम्य वस्तु को जीव इसी श्रीकृष्ण-संकीर्तन के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है ।

श्रीगौरांगदेव लोक-प्रतारक (लोगों की वञ्चना करनेवाले) समन्वयवादी नहीं हैं । जीव का सबसे अधिक मंगल जिससे होता है, उन्होंने वही बात कही है । जगत के लोग जिन सभी बातों को श्रेष्ठ समझते हैं, श्रीचैतन्यदेव की बात सुनने पर वे सभी बातें अपूर्ण और दुर्बल लगेंगी । मनोधर्मी सम्प्रदाय के लोगों ने जगत की छोटी-छोटी साधन प्रणालियों को बड़े रूप में प्रस्तुत कर वञ्चना प्रणाली का ही आश्रय किया है, वैसी वञ्चना करने के लिए गौरसुन्दर नहीं आये थे । जगत में तथाकथित सम्प्रदायों में जो साधन कल्पित है और होगा, वह अत्यन्त दुर्बल और कैतवमय (वञ्चनाओं से पूर्ण) है-श्रीगौरसुन्दर ने इसे श्रीमद्भागवत द्वारा जगत में प्रकाशित किया है एवं और भी दिखाया है कि श्रीकृष्णनाम संकीर्तन ही समग्र जगत के मंगल का एकमात्र उपाय है । किन्तु कृष्ण का संकीर्तन होना चाहिए । अपनी सुखसुविधा या दूसरों की सुख सुविधा के लिए जो कीर्तन होता है, वह कृष्णकीर्तन नहीं है ।

श्रीकृष्णनाम साक्षात् श्रीकृष्ण हैं । श्रीकृष्णाक्षर साक्षात् कृष्णवस्तु है । कृष्णकीर्तन करने पर निर्विशेषवादी की दुर्बुद्धि, नास्तिक की नास्तिकता दूर होने पर उसे यथार्थ मुक्ति प्राप्त हो सकती है । मायावादी प्रकाशानन्द इसके साक्षी हैं । विषयों में अत्यन्त आसक्त व्यक्ति की भी कृष्णकीर्तन द्वारा यथार्थ मुक्ति और मंगल हो सकता है । उत्कल-सम्राट प्रतापरुद्र आदि इसके प्रमाण हैं । **कृष्णकीर्तन द्वारा पेड़ों की मुक्ति, पत्थरों की मुक्ति, पशु, पक्षी, व्याघ्र की मुक्ति एवं स्त्री, पुरुष आदि समस्त जीवों की मुक्ति हो सकती है ।** झारिखण्ड वन मार्ग के वृक्षलता, पशु-पक्षी इसके उदाहरण हैं । केवल (शुद्ध) कृष्णकीर्तन नहीं हो रहा है, इसीलिए जीव की यथार्थ मुक्ति नहीं हो रही है । श्रीगौरसुन्दर पशु, पक्षी मानव, पेड़-पौधे आदि सभी के मंगल के लिए इस जगत में आये थे ।

एकमात्र कृष्णकीर्तन से ही हमें समस्त सुविधा सुलभ होगी । कृष्णकीर्तन से ही एकमात्र चरम श्रेयः (कृष्णप्रेम) प्राप्त होता है । लिखाई-पढ़ाई और पाण्डित्य का अन्तिम फल है-श्रीहरिनाम संकीर्तन ।

भगवान के सुख के लिए जो कीर्तन होता है, वही यथार्थ में कृष्णकीर्तन है । जब कि अपनी या दूसरों की सुख-सुविधा के लिए जो कीर्तन

का अभिनय किया जाता है, वह कृष्णकीर्तन नहीं–माया का कीर्तन है । कार्य के द्वारा जिस प्रकार कारण जाना जाता है, उसी प्रकार कोई हरिनाम कर रहे हैं या नहीं, उसका फल देखकर समझा जाता है । **हरिनाम करते–करते यदि किसी की संसारिक प्रवृत्ति या संसार के प्रति आसक्ति बढ़ती है, तो उनका कीर्तित विषय हरिनाम नहीं है, अवश्य ही ऐसा समझना होगा।** श्रीनामकीर्तन द्वारा संसार के प्रति आसक्ति कटेगी, संसार के असारत्व या तुच्छत्व का अनुभव होगा, संसार अच्छा नहीं लगेगा, चित्त निर्मल और स्थिर होगा, अशान्ति या दुःख होगा, प्रेम प्राप्त होगा और चिरशान्ति प्राप्त होगी । परन्तु यदि ऐसा नहीं होता है, तो मैं क्या कर रहा हूँ, वह विचारणीय है । श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा गया है–

श्रीकृष्णचैतन्य दया करह विचार ।
विचार करिले चित्ते पाबे चमत्कार ।।
एक कृष्णनामे करे सर्वपाप नाश ।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश ।।
अनायासे भवक्षय, कृष्णेर सेवन ।
एक कृष्णनामेर फले पाइ एत धन ।।
हर्षे प्रभु कहेन–शुन स्वरूप–रामराय ।
नाम–संकीर्तन कलौ परम उपाय ।।
संकीर्तनयज्ञे कलौ कृष्ण–आराधन ।
सेइ त' सुमेधा, पाय कृष्णेर चरण ।।
नाम–संकीर्तने हय सर्वानर्थ नाश ।
सर्वशुभोदय, कृष्ण–प्रेमेर उल्लास ।।
संकीर्तन हैते पाप संसार नाशन ।
चित्तशुद्धि, सर्वभक्तिसाधन उद्‌गम ।।
कृष्णप्रेमोद्‌गम, प्रेमामृत–आस्वादन ।
कृष्णप्राप्ति, सेवामृत–समुद्रे मज्जन ।।

अर्थात् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की दया का यदि आप विचार करेंगे, तो चमत्कृत होंगे । एक ही कृष्णनाम समस्त पापों का नाश करते हैं और प्रेम का कारण भक्ति को प्रकाशित करते हैं । उससे सहज ही संसार बन्धन नष्ट हो जाता है तथा कृष्ण की सेवा भी प्राप्त हो जाती है । एक कृष्णनाम के फल

से इतने धन मिलते हैं । श्रीमन्महाप्रभु ने हर्षपूर्वक कहा-हे स्वरूप और रामराय ! नामसंकीर्तन कलियुग का परम उपाय है । कलियुग में कृष्ण की आराधना संकीर्तनयज्ञ के द्वारा होती है- जो इस बात को जानता है और इसके अनुरूप आचरण करता है, वही सुमेधा (उत्तम बुद्धि वाला) है, वही कृष्ण के चरणों को प्राप्त कर सकता है । नामसंकीर्तन के द्वारा समस्त अनर्थों का नाश होता है, समस्त प्रकार के शुभ प्राप्त हो जाते हैं, कृष्णप्रेम का उल्लास प्राप्त होता है, पाप व संसार-बन्धन का नाश होता है, चित्तशुद्धि होती है, समस्त भक्ति अंगों का पालन हो जाता है, कृष्णप्रेम प्राप्त होता है, प्रेमामृत का आस्वादन होता है, कृष्ण प्राप्त हो जाते हैं तथा सेवामृत समुद्र में भक्त डूब जाता है ।

315 **प्र०-कृष्णनाम और गौरनाम में क्या वैशिष्ट्य है ?**

उ०-अनर्थयुक्त अवस्था में अप्राकृत कृष्णनाम नहीं होता । कृष्णनाम में अपराध का विचार है, किन्तु गौर-नित्यानन्दनाम में अपराध का विचार नहीं है । अनर्थयुक्त अवस्था में जीव यदि निष्कपट होकर भगवद् बुद्धि से गौर-नित्यानन्दनाम का नाम ग्रहण करता है तो उनकी कृपा से उसके अनर्थ दूर हो जाते हैं । शास्त्र में कहा गया है-

कृष्णनाम करे अपराधेर विचार ।
कृष्ण बलिले अपराधीर ना हय विकार ।।
चैतन्य नित्यानन्दे नाहि ए सब विचार ।
नाम लैते प्रेम देन, बहे अश्रुधार ।।
स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु अत्यन्त उदार ।
ताँरे ना भजिले कभु ना हय निस्तार ।। (चै. च.)

अर्थात् कृष्णनाम अपराध का विचार करते हैं, 'कृष्ण' उच्चारण करने पर भी अपराधी व्यक्ति का विकार नहीं होता है । परन्तु चैतन्य-नित्यानन्द में ये सब विचार नहीं हैं । वे नाम लेते ही प्रेम प्रदान करते हैं और व्यक्ति की आँखों से आँसू की धारा बहने लगती है । श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वतन्त्र ईश्वर हैं और अत्यन्त उदार भी हैं । उनका भजन नहीं करने पर उद्धार कभी भी नहीं हो सकता ।

316 **प्र०-वैष्णव का कैसा विचार होता है ?**

उ०-वैष्णव या विष्णुभक्त गुरु को या शिष्य को अपनी इन्द्रियों का

भोग्य नहीं समझते । वे सदैव गुरु के अनुगत होकर कृष्णसेवा में लगे रहते हैं, अतः अन्य वस्तुओं को अपने प्रभु की सेवा में नियुक्त देखकर वे सुख अनुभव करते हैं । गुरुनिष्ठ शिष्य की एकमात्र गुरुसेवा के अतिरिक्त किसी प्रकार की आत्मेन्द्रिय तृप्तिवाञ्छा नहीं रहती । जहाँ इसके विपरीत आचरण देखने को मिलता है, वहाँ पर यथार्थ गुरुभक्ति नहीं है–ऐसा समझना होगा । जगद्गुरु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरुसेवा के आदर्श के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत के ४/२८/३४ श्लोक की टीका में कहा है–गुरोः सेवायां प्रवृत्तः शिष्यः श्रवणकीर्तनादीन्यपि भोगान् तदुत्थान् प्रेमानन्दानपि गृहान तदुचित–विविक्तस्थलमपि नैवापेक्षत । श्रीगुरुसेवयैव सुखेन सर्वसाध्यसिद्धयर्थमित्युपदेशो व्यञ्जितः ।

गुरुसेवा में लगे हुए शिष्य गुरुसेवा के लिए अपने व्यक्तिगत श्रवण–कीर्तनादि रूप आत्मप्रसाद या उसी से प्राप्त प्रेमानन्द अर्थात् निर्जन भजनानन्द, यहाँ तक कि उसके लिए आवश्यक निर्जनवास आदि की भी कभी अपेक्षा नहीं करते हैं । क्योंकि गुरुसेवा के द्वारा ही अनायास समस्त अर्थों की सिद्धि हो जाती है ।

317 **प्र०–अनर्थ क्या है ?**

उ०–जो अर्थ (परमार्थ) नहीं है, वही अनर्थ है । अन्य अभिलाष, धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष की इच्छा, कनक–कामिनी–प्रतिष्ठा की इच्छा, अपने सुख की वासना आदि सभी अनर्थ हैं । हरिनाम कीर्तित होने पर अनर्थ हो जाते है । यहाँ अनर्थ जीव की इन्द्रिय–तर्पण–इच्छा को सूचित करता है । अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा ही भगवत् सेवा में प्रधान बाधा है । अतः उस समय (अनर्थग्रस्त के समय) निरन्तर स्मरण कार्य बाधा प्राप्त होकर कृष्ण को छोड़कर अन्य भोग्य मायिक वस्तुओं के पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति आ जाती है ।

318 **प्र०–भक्त जगत को किस प्रकार देखते हैं ?**

उ०–महाभागवत समग्र जगत को भगवान का प्रसाद या कृपारूप में दर्शन करते है । कृपा तो सेव्य वस्तु है । कृपा के ऊपर प्रभुत्व या कर्तृत्व विस्तार करना ठीक नहीं है । भगवद् भोग्य या भगवत् कृपामूर्ति जगत के प्रति भोगबुद्धि करने पर दण्ड या दुःख निश्चय ही मिलेगा ।

319 **प्र०–भगवत् कृपाप्राप्ति का क्या उपाय है ?**

उ०–जो सचमुच हरिसेवक हैं, जो निरन्तर हरिसेवा में लगे हुए हैं, उन लोगों का अतिक्रम न कर उनके अनुगत होने से ही हम भगवान का प्रसाद

प्राप्त कर सकते हैं । **हरिभक्त के प्रसाद से ही हरि का प्रसाद मिलता है । हरिभक्त के अप्रसाद से जीव का किसी भी प्रकार मंगल नहीं हो सकता ।**

320 **प्र० – किसकी वस्तु भगवान स्वीकार करते हैं ?**

उ० – जो भगवान को बुलाकर खिला सकते हैं, उनकी वस्तु ही भगवान खाते हैं । परन्तु उन्हें सभी बुला नहीं सकते । तब खिलायेंगे किस प्रकार ?

किसी अभक्त पण्डित के द्वारा भगवान को भोग देने पर भी भगवान उनका मन्त्रपूत प्रदत्त नैवेद्य ग्रहण नहीं करते हैं । उनके दिये हुए अरवा चावल के घी युक्त अन्न, विभिन्न प्रकार के व्यञ्जन आदि भगवान की प्रीति को आकर्षित नहीं कर सकते । परन्तु भगवत् सेवा के उत्सुक भिक्षुक द्वारा कैसा भी अन्न किसी भी प्रकार से देने पर, श्रीभगवान वह प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते हैं ।

321 **प्र० – वैकुण्ठ वस्तु में हमारा विश्वास क्यों नहीं होता ?**

उ० – महापापी व्यक्ति का वैकुण्ठ वस्तु में विश्वास नहीं होता । पापमलिन चित्त निर्मल वस्तु में विश्वास स्थापन नहीं कर सकता । इसीलिए महाभारत और स्कन्दपुराण मे कहा गया है –

महाप्रसादे गोविन्दे नाम ब्रह्मणि वैष्णवे ।
स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायत ।।

अन्नब्रह्म महाप्रसाद, शिलाब्रह्म या काष्ठब्रह्म भगवान के विग्रह, शब्दब्रह्म और नरब्रह्म वैष्णव – गुरु इन चार ब्रह्मवस्तुओं में स्वल्पपुण्यवान् अर्थात् महापापी व्यक्ति का विश्वास नहीं होता ।

वर्तमान समय में हमने इन चार प्रकार की वैकुण्ठ वस्तुओं में विश्वास खो दिया है, अतः अनर्थ ने हमको ग्रास कर लिया है । महाप्रसाद, गोविन्द, नाम और गुरु – ये चार ही विष्णुवस्तु हैं । परन्तु माया जगत में आकर हमने इस विश्वास को खो दिया है । मीयते अनया इति माया – जिसके द्वारा नाप लिया जाय, वही माया है । परन्तु ये चार वस्तुएँ नाप लेने की वस्तु नहीं हैं ।

श्रीगोविन्द स्वतः प्रकाश असल वस्तु हैं, उनको देखने के लिए अन्य रोशनी की आवश्यकता नहीं होती । गां विन्दति इति गोविन्दः । अधोक्षज गोविन्द is not a concoction of human mind. श्रीगोविन्द किसी के मन द्वारा कल्पित या मनगढ़न्त वस्तु नहीं हैं । श्रीगोविन्द ही एकमात्र अधोक्षज

वस्तु हैं - परात्पर वस्तु हैं । परम हितकारी दिव्यज्ञानदाता वैष्णवराज श्रीगुरुदेव ही हमें यथार्थ - सत्य गोविन्द की बात बता देते हैं ।

श्रीगोविन्द स्वयं अविमिश्रित परमानन्द विग्रह हैं । अपने अक्षज ज्ञान में हमें कुछ समय के लिए जो सत्य प्रतीत होता है, वह Apparent truth-Local truth है- वह positive या Absolute truth नहीं हो सकता । अनादि काल के विचार में गोविन्दसेवा विमुख लोगों के लिए जड़जगत की सृष्टि हुई है ।

322 **प्र० - सेवा किसे कहते हैं ?**

उ० - जिसमें ठाकुर का आनन्द होता है, भगवान श्रीहरि को सुख होता है, उसी को नाम सेवा है । जिसमें अपनी सुख - सुविधा होती है, उसका नाम भोग है ।

कपटी लोग पुत्र - पौत्र आदि की प्राप्ति के लिए सोलह उपचारों से श्रीविग्रह की पूजा कर सकते हैं, किन्तु उनका उद्देश्य होता है - ठाकुर सेवा के बदले में ठाकुर से कुछ प्राप्त करना । इसे सेवा नहीं कहा जा सकता । ठाकुर पूजा और नाम - आराधना के बहाने जगत में क्या कपटता नहीं चल रही है ?

भगवान की सेवा और भगवत् सेवा का अभिनय - दोनों पृथक् वस्तु हैं । भगवान की श्रीअर्चामूर्ति की सेवा जिससे भलीभाँति सम्पादित हो, उसके लिए हमें विशेष चेष्टा करनी चाहिए । हर कोई भगवद् विग्रह का सेवक नहीं हो सकता । बीस रुपये देकर नाम नहीं होता, पचास रुपये जमा करने से हरिकथा की वक्तृता नहीं होती, पाठ नहीं होता - उनमें भाषाविन्यास या लोकरञ्जक आमोद - प्रमोद हो सकता है, वह भक्ति या वैष्णवधर्म नहीं है, उसका नाम भोग या कर्मकाण्ड है । दस रुपये का देवल - ब्राह्मण (जो देवताओं की पूजा करके जीविका - निर्वाह करे) ठाकुर सेवा नहीं कर सकता है ।

विष्णु और वैष्णवों की सेवा ही सर्वोत्कृष्ट है - इस प्रकार का दृढ़ विश्वास जब तक नहीं होगा, तबतक हमारा कोई मंगल नहीं हो सकता ।

323 **प्र० - प्रीति का क्या धर्म है ?**

उ० - प्रीति का धर्म और अप्रीति का धर्म एक नहीं है । आत्मधर्म ही प्रेमधर्म या प्रीति का धर्म है, और मनोधर्म ही अप्रीति का धर्म है । प्रेमधर्म में - भक्तिधर्म में - परमधर्म में - भागवत धर्म में - भगवत् सेवाधर्म में संघर्ष नहीं है, उसमें Harmony (ऐक्यतान) विराजित है । प्रेमधर्म के याजन से विच्युत

होने पर ही हम एक दूसरे के प्रति भोगबुद्धि करते हैं । मानवजाति में सभी कृष्ण के सेवक हैं - यह समझने पर मनुष्य की किसी प्रकार की असुविधा नहीं रहती । सब जीव अपने को वैष्णव के रूप में अनुभव कर सकता है और तभी वैष्णव के साथ वैष्णव की स्वाभाविक प्रीति उदित होती है । जगत में प्रीतिधर्म नहीं है, सर्वत्र ही विरोधमय संघर्ष धर्म है ।

324 **प्र० - जीव का चरम लक्ष्य क्या है ?**

उ० - भुक्ति और मुक्ति जीव का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता । जीव तो भगवत् सेवक है । अत: भक्ति ही उसका चरम लक्ष्य है । मुक्ति भुक्ति का ही अन्य पक्ष है । भुक्ति और मुक्ति दोनों ही पिशाची सदृश हैं । दोनों ही जीव को आस्तिकता से विच्युत कर देती हैं । इसलिए भगवद् विश्वासी सज्जनगण या आस्तिकगण कभी भी भुक्ति - मुक्ति पिशाची की शरण स्वीकार नहीं करते । भगवद् भक्तगण मुक्त हैं, अत: मुक्त - पुरुष मुक्ति के लिए लालायित नहीं हैं । भोग और त्याग अर्थात् भुक्ति और मुक्ति दोनों का ही वर्जन कर भक्ति ही ग्रहणीय है ।

325 **प्र० - मानव द्वारा कल्पित धर्म तो आत्मधर्म नहीं लगता । इस विषय में आपका क्या मत है ?**

उ० - श्रीमद्भागवत में कथित सनातन धर्म अथवा श्रीचैतन्यदेव द्वारा कथित भागवतधर्म के अतिरिक्त अन्यान्य समस्त प्रकार के मनुष्यज्ञान - प्रसूत (उत्पन्न) धर्मों में काल्पनिक चित्र और कैतव (वञ्चना) है । भागवत धर्म अथवा श्रीचैतन्यदेव का प्रचारित विमल आत्मधर्म ही एकमात्र प्रोज्झित - कैतव - धर्म (वञ्चना - रहित धर्म) है, वह निर्मत्सर साधुओं का अनुमोदित और आचरित सनातन श्रौतधर्म है । आजकल जिन सभी धर्मों की बात प्रचलित है, वह मानवकल्पित या मानव - मन:सृष्ट मनोधर्म मात्र है, उनमें से कोई एक भी आत्मधर्म नहीं है । शास्त्र कहते हैं -

चैतन्यगोसांई जेइ कहे, सेइ मत सार ।
आर जत मत, सेइ सब छाररखार ।।
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

अर्थात् श्रीचैतन्यदेव जो कहते हैं, वही सार मत है । इसके अतिरिक्त जितने मत हैं, वे सब नष्टभ्रष्ट हैं । आत्मधर्म नित्यवस्तु है । आत्मा नित्य है, उसका धर्म भी नित्य है । धर्म तो भगवत् प्रणीत है । द्वादश महाजनों को

छोड़कर अन्य कोई भी उस धर्म की बात नहीं जानते । अत: उन द्वादश महाजनों के अनुगत व्यक्तिगण ही जानते हैं और जानेंगे । इसीलिए धर्म मनुष्य द्वारा सृष्ट है, यह कैसे सम्भव है ?

326 **प्र० – क्या कनिष्ठ – अधिकारी भक्त कर्मी और ज्ञानी से श्रेष्ठ है ?**

उ० – निश्चय ही ! भक्त जितने भी कनिष्ठ हों, उन्होंने तो भक्तिपथ अर्थात् मंगल का पथ स्वीकार किया है । कर्मी या ज्ञानी का तो ऐसा सौभाग्य नहीं है ।

श्रीमूर्तिसेवा, गुरुवैष्णवसेवा और श्रीनामसेवा द्वारा जीव का परम मंगल होता है । श्रीचैतन्यदेव ने कहा है – जिसकी सेवोन्मुख जिह्वा पर एकबार भी कृष्णनाम कीर्तित होता है, वही सर्वश्रेष्ठ है ।

देवीधाम के सर्वश्रेष्ठ पुण्यकर्मी और ज्ञानी से भी श्रीविष्णु के नामात्मक मन्त्र द्वारा अर्चनकारी कनिष्ठ – अधिकारी भक्त श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मी और ज्ञानी जितने भी बड़े क्यों न हों, असल वस्तु विष्णु के नित्य – सेव्यत्व में उनका विश्वास नहीं होता; अत: मुख में वेद मानने पर भी वे वास्तव में नास्तिक ही होते हैं, जब कि विष्णु के अर्चक (कनिष्ठ वैष्णव) की महिमा भजनराज्य में कितनी भी कम क्यों न हो, परन्तु गुरुमुख से भगवान विष्णु के विग्रह की सत्यता एवं नित्यता के विषय में सुनकर वे उनके प्रति श्रद्धायुक्त होते हैं । श्रीविग्रह अर्चनकारी एक कनिष्ठ – अधिकारी वैष्णव श्रीविग्रह के पास यदि मात्र एकबार भी घण्टा बजाते हैं, तो उस घण्टा के एकबार वादन के सामने हजार – हजार कर्मी लोगों द्वारा अस्पताल, दरिद्रसेवा, सेवाश्रम, विद्यालय स्थापन तथा निर्भेद – ज्ञानी का ध्यान और कष्टमय साधन तुच्छ हैं । यह साम्प्रदायिकता नहीं है, यह वास्तव सत्य बात है । नास्तिक व्यक्ति इसका मर्मार्थ किसी भी प्रकार से नहीं समझ सकते । इसीलिए वे लोग कभी प्रकाश्य रूप से भक्तिनिन्दक तो कभी प्रच्छन्न – निन्दक या समन्वयवादी हो जाते हैं ।

327 **प्र० – कौन हरिकीर्तन कर सकते हैं ?**

उ० – जो तृणादपि सुनीच, वृक्ष की भाँति सहिष्णु अमानी और मानद – इन चार गुणों से युक्त हैं, वे ही हरिकीर्तन कर सकते हैं ।

सर्वोत्तम होकर भी भक्त अपने को तृण से भी अधम समझते हैं । निष्कपट न होने पर तृणादपि सुनीच नहीं हुआ जाता है । निष्काम ही निष्कपट

है । कृष्णनाम के उच्चारणकारी ही महाभाग्यवान् हैं । कृष्णनाम-संकीर्तन ही परम साधन और साध्य है-यह बात महाजनगण और शास्त्रों ने कही है ।

कीर्तनकारी व्यक्ति निरभिमानी या निरहंकारी अर्थात् अमानी होते हैं; वे किसी प्रकार का जड़ अभिमान नहीं रखते ।

328 **प्र०-अधोक्षज वस्तु को किस प्रकार जाना जा सकता है ?**

उ०-भगवान श्रीहरि ही अधोक्षज वस्तु हैं । वह अधोक्षज वस्तु एकमात्र श्रवण के द्वारा ही जानी जाती है । साधुगुरु के निकट सेवोन्मुख कानों के द्वारा श्रवण करने पर अधोक्षज वस्तु को जाना जायेगा । इस जगत में हमें जो कथाएँ सुनने को मिलती हैं, उन्हें सुनने के बाद कानों के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियों के द्वारा वे सत्य हैं या नहीं, हम लोग विचार करते रहते हैं । किन्तु हमारे श्रीगुरुदेव या शास्त्र हमें जो कथाएँ कहते हैं, श्रवण-इन्द्रिय के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रिय के द्वारा उनको समझने की क्षमता हमारी नहीं है । यह विषय अर्थात् अधोक्षज वस्तु इन्द्रियज-ज्ञान से अतीत होने के कारण उस प्रकार की चेष्टा करना विडम्बना मात्र है । तर्कपथ का अवलम्बन करके उस विषय में कोई खोज नहीं कर सकते हैं । तब इन्द्रिय-ज्ञान से अतीत उन कथाओं को श्रीगुरुदेव के श्रीमुख से कान के द्वारा श्रवण करने का सौभाग्य मिलने पर, उन कथाओं को प्रणिपात, परिप्रश्न एवं सेवा के द्वारा जानना होगा ।

329 **प्र०-प्रणिपात एवं परिप्रश्न का अर्थ क्या है ?**

उ०-प्रणिपात का अर्थ है, प्रणत होकर या श्रवण के विषय में किसी भी प्रकार से अमनोयोगी न होकर अर्थात् सम्पूर्णरूप से कान देकर (ध्यानपूर्वक) श्रवण करना ।

इस प्रणिपात के अतिरिक्त श्रवण सुष्ठु (सुचारु) रूप से नहीं होता है-प्रणिपात के अतिरिक्त अधोक्षज वस्तु को जानने का, साधु-गुरु और शास्त्र की कथाओं को समझने का दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

जो शब्द मेरे गुरुपादपद्म के निकट पहुँच सकता है, ऐसे शब्दों के द्वारा जो मेरे विज्ञाप्य (प्रार्थना) के विषय हैं, वही परिप्रश्न है । प्रश्न का उत्तर सुनने के लिए प्रस्तुत होकर जो प्रश्न किया जाता है, वही परिप्रश्न है । सन्देहवादी होकर जो प्रश्न की चेष्टा है, वह परिप्रश्न नहीं है । अहंकार के वशवर्ती होकर केवल जो प्रश्न का ढोंग है, वह भी परिप्रश्न नहीं है । प्रणिपात न होने पर परिप्रश्न नहीं होता है, फिर परिप्रश्न के द्वारा विषय की मीमांसा न होने पर सेवा

ठीक नहीं होती है ।

330 **प्र० – साधु कौन है ?**

उ० – श्रुतियाँ कहती हैं, – जो व्यक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है, वही सत् है । कृष्णदास्य ही जीव की सत्ता या स्वभाव है । उसी कृष्णदास्य में जो नियुक्त हैं, वे ही सत् या साधु हैं अर्थात् कृष्णभक्त ही साधु हैं; भक्ति ही साधुत्व है । भगवान में जिनकी भक्ति नहीं है, उनको साधु नहीं कहा जाता है । इसीलिए अभक्त ही असाधु हैं । शास्त्र कहते हैं–

असत्संगत्याग – एइ वैष्णव – आचार ।
स्त्रीसंगी – एक असाधु, कृष्णाभक्त आर ।।

अर्थात् असत् – संग परित्याग ही वैष्णवों का आचरण है । स्त्रीसंगी तथा श्रीकृष्ण चरण कमलों से विमुख व्यक्ति ही असाधु है ।

कृष्णभक्त – निष्काम, अतएव शान्त ।
भुक्ति – मुक्ति – सिद्धिकामी सकलि अशान्त ।। (चै. च.)

अर्थात् कृष्णभक्त ही निष्काम होते हैं, इसलिए वे शान्त हैं और भुक्ति, मुक्ति तथा सिद्धिकामी सभी अशान्त हैं ।

331 **प्र० – क्या श्रीविग्रह साक्षात् भगवान हैं ?**

उ० – निश्चय ही । नास्तिक पाषण्डिजन कहते हैं कि श्रीमूर्तिपूजा की आवश्यकता नहीं है । श्रीमूर्तिपूजा उनके मत से श्रुतिपथ की विरोधी है । वे लोग कहते हैं, – वैष्णव की श्रीमूर्तिपूजा बौद्ध – पद्धति का अनुगमन मात्र है, श्रौतपद्धति नहीं । उनका भाग्य होने पर वे लोग एक दिन समझ पायेंगे कि – श्रीविग्रह अवतार – जीव को कृपा करने के लिए भगवान ही अर्चा अवतार के रूप में विश्व में प्रकटित हुए हैं ।

परजगत की वस्तु – जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, उनके Proxy या प्रतिभूसूत्र से लेप्या, लेख्या इत्यादि रूप में प्रतिमा आकर उपस्थित होती है ।

नाम ही नामी हैं; नामी के रूप, गुण, लीला वैचित्र्य में भेद बुद्धि ही अद्वयज्ञान की विरुद्धबुद्धि है । इसलिए मेरे श्रीगुरुदेव कहते हैं, – श्रीमूर्ति को अन्य जड़ वस्तु के समान, अपने भोग की वस्तु के समान ज्ञान नहीं करना चाहिए, उसमें अपराध होता है अर्थात् नरकगामी होना पड़ता है । सम्बन्धज्ञान के अभाव से ही अर्चा एवं अर्च्य में अर्थात् श्रीमूर्ति एवं भगवान में जीव की पृथक् बुद्धि होती है । यह महा – दुर्भाग्य की बात है । स्वयं भगवान् श्रीगौरांगदेव ने

कहा है- **ईश्वरेर विग्रह सच्चिदानन्दाकार ।**
से-विग्रह कह सत्त्वगुणेर विकार ।।
श्रीविग्रह ये ना माने, से इत' पाषण्ड ।
अस्पृश्य, अदृश्य से इ हय यमदण्ड्य ।।

अर्थात् भगवान का श्रीविग्रह सत्-चिद्-आनन्दमय है । ऐसे विग्रह को तुम सत्त्वगुण का विकार कह रहे हो ! श्रीविग्रह को जो नहीं मानता है, वह पाषण्डी है, और अस्पृश्य तथा अदृश्य (जो अछूत तथा उसके मुख का दर्शन करना भी पाप है) वह यमदण्ड का भागीदार होता है ।

पौत्तलिकगण अधःपतित हैं, उनकी अर्चाविग्रह में शिला-बुद्धि रहती है । शालग्राम को गण्डकी शिला एवं गुरुदेव को मनुष्य के साथ समान या मनुष्यजाति इत्यादि विचार-यह नारकियों का विचार है । वैष्णवगण पौत्तलिक नहीं हैं । वे लोग अर्चावस्तु में शिला-बुद्धि नहीं करते हैं-भूतशुद्धि न कर पूजा नहीं करते हैं-जो इन्द्रियों के द्वारा बाह्य रूप-रस आदि ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार बहिर्मुख इन्द्रियों के द्वारा वे लोग (वैष्णव) पूजा नहीं करते हैं । वे लोग सेवोन्मुख इन्द्रियों के द्वारा चिद्-इन्द्रियों के द्वारा सच्चिदानन्द विग्रह भगवान की सेवा करके इष्टदेव का सुखविधान करते हैं ।

श्रीचैतन्यचन्द्र ने श्रीजगन्नाथदेव को साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन के रूप में दर्शन करने की लीला प्रदर्शित की है । निम्बकाष्ठ या निम्बकाष्ठ के अन्दर भगवान हैं-पौत्तलिकों का इस प्रकार श्रीविग्रह में देह-देही भेद विचार उन्होंने (चैतन्य महाप्रभु) प्रदर्शित नहीं किया । उन्होंने कहा है,**'प्रतिमा नह तुमि साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन ।'**

332 **प्र०-हमारी भजन में उन्नति क्यों नहीं हो रही है ?**

उ०-कैसे होगी ? हम तो भक्ति से बाह्यवस्तुओं में व्यस्त हैं । इसीलिए बाह्यचिन्ताएँ अर्थात् जगत् की चिन्ता ही प्रबल हो रही है । भोग्यदर्शन या बहिर्दर्शन को त्यागकर अन्तर्दर्शन की ही आवश्यकता है । हृदय देवता (भगवान) की सेवा के लिए व्याकुल होना ही उचित है । परन्तु हम ऐसा नहीं कर रहे हैं, अतः भजन में उन्नति कैसे होगी ? अपने सुख के लिए या सांसारिक उन्नति के लिए ही व्यस्त रहते हुए भजन में उन्नति कैसे सम्भव है ? स्वजन नामक डकैतों को ही सुखी करने के लिए व्यस्त एवं उत्साहित रहने पर नित्यबन्धु गुरु एवं कृष्ण की सेवा के लिए उत्साह एवं व्याकुलता कैसे रह

सकती है ? पश्चिम दिशा में चलने पर पूर्व दिशा में नहीं जाया जा सकता । मैं इतनी बातें कह रहा हूँ परन्तु लोगों की भ्रान्ति अर्थात् दूसरों के प्रति उनका अपनत्व ज्ञान किसी प्रकार भी छूट नहीं रहा है । वास्तव में ऐसे लोगों के भाग्य में दुःख ही लिखा हुआ है, इसलिए इस विषय में मैं क्या कर सकता हूँ ?

333 **प्र०–जीवों की प्रयोजनीय वस्तु क्या है ?**

उ०–जीव मात्र ही कृष्ण का सेवक है । अतः कृष्ण की सेवा एवं कृष्ण की प्रीति ही उसका प्रयोजन है, किन्तु जगत के लोग अपने इस स्वरूप को भूलकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चर्तुवर्ग को ही अपना सर्वोत्तम प्रयोजन मान रहे हैं । परम–पुरुषार्थ कृष्णप्रेम या कृष्णप्रीति उस चर्तुवर्ग को धिक्कार कर सकती है । भगवान श्रीगौरांगदेव इसी कृष्णप्रेम को प्रदान करने वाले हैं । वे स्वयं कृष्ण होने पर भी कृष्णप्रेम प्रदाता भी हैं । ऐसे भगवान् गौरांगदेव की अपेक्षा श्रेष्ठ उपदेष्टा या शिक्षक कोई नहीं हो सकता ।

334 **प्र०–क्या विषयी होना उचिता है ?**

उ०–कभी भी नहीं । हम भगवान के सेवक हैं अतः हम विषयी क्यों होंगे ? विषय तो हमें कष्ट देता है । रूप रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द तरंगायित होकर हमें धक्का दे देते हैं । इसलिए विषयी होना उचित नहीं है । इसलिए भगवान श्रीगौरसुन्दर ने कहा है–'जो भगवान का भजन करना चाहते हैं, उन्हें विषयी व्यक्ति का दर्शन भी नहीं करना चाहिए ।'

विषयी या इन्द्रियग्राह्य वस्तु उपस्थित होने पर भगवत् विस्मृति हो जाती है और भगवान के भक्तों के प्रति तुच्छ बुद्धि आ जाती है । जो भगवान की सेवा करने के लिए भक्तिपथ में अग्रसर हो रहे हैं, वे कदापि विषयी व्यक्ति का दर्शन नहीं करेंगे । 'योषा' का अर्थ विषय है तथा योषाधिपतित्व के अभिमानी को ही विषयी कहते हैं । विषयी तो होना ही नहीं, यहाँ तक की विषयी तथा विषयी व्यक्ति के संगी का भी दर्शन नहीं करना चाहिए । श्रीगौरसुन्दर ने भवरोग के चिकित्सक के रूप में हमें कहा है–"विषयी व्यक्ति का संग मत करो, योषित् संग मत करो, मत करो ।"

335 **प्र०–क्या मैं शिष्य बना सकता हूँ ?**

उ०–हिंसा परित्याग कर जीवों के प्रति दया करो । अर्थात् बर्हिमुख जीवों को कृष्ण के उन्मुख करो । हिंसा करने के लिए गुरुगिरि मत करो, स्वयं विषयों में डूब जाने के लिए गुरुगिरि मत करो–गुरु के वेश में मत सजो । किन्तु

यदि तुम गुरु एवं कृष्णके निष्कपट सेवक हो सकते हो, तो उनकी कृपाशक्ति प्राप्तकर सकते हो, तब भय की कोई बात नहीं है, अन्यथा सर्वनाश ही हो जायेगा ।

336 **प्र० – श्रीगुरुदेव के प्रति कैसा विचार करूँगा ?**

उ० – श्रीगुरुदेव की कृष्ण की भाँति भक्ति (सेवा) करो । साक्षात् भगवान के प्रति तुम्हारी जैसी बुद्धि होती है, गुरुदेव के प्रति भी ठीक वैसी ही बुद्धि होनी चाहिए, गुरु को किसी भी अंश में भगवान से कम नहीं मानना चाहिए । साधु का कर्तव्य है – 'भगवान की भांति गुरु को जानना – पूजा करना – सेवा करना । यदि ऐसा नहीं करेंगे तो शिष्य के स्थान से भ्रष्ट हो जाओगे ।'

जिसकी गुरु और भगवान के प्रति अभिन्न बुद्धि है केवल वही व्यक्ति शास्त्रों का मर्म समझ सकता है, हरिनाम कर सकता है, हरिकथा कह सकता है । श्रीकृष्ण स्वयं अपनी ही सेवा की शिक्षा देने के लिए गुरुरूप में अवतीर्ण होते हैं । यदि भाग्य अच्छा हो तभी शास्त्रों की यह अटल सत्य बात समझ में आ सकती है, अन्यथा संदिग्धचित्त होकर व्यक्ति संसार समुद्र में ही डूबकर मर जाता है ।

श्रीगुरुदेव विषयविग्रह या मूल आश्रयविग्रह नहीं हैं । वे तो मूल आश्रयविग्रह की प्रकाशमूर्त्ति हैं । श्रीकृष्ण विषयविग्रह हैं किन्तु गुरुदेव आश्रयविग्रह हैं । श्रीकृष्ण predominating Aboslute अर्थात् भोक्ताभगवान तथा श्रीगुरुदेव predominated Aboslute अर्थात् सेवक भगवान या आराधक – भगवान हैं । आश्रयविग्रह या सेवाविग्रह श्रीगुरुदेव कृष्ण होने पर भी कृष्ण के प्रियतम या कृष्णश्रेष्ठ हैं, यही गुरुतत्त्व की विशेषता है । श्रीकृष्ण पूर्णशक्तिमान हैं और श्रीगुरुदेव कृष्ण की पूर्णशक्ति हैं । श्रीगुरुदेव जीव नहीं हैं, जीवों के प्रभु हैं । श्रीगुरुदेव विभु चैतन्य – स्वांशशक्ति अर्थात् स्वरूपशक्ति किन्तु हम जीव अणुचैतन्य, तटस्थाशक्ति या विभिन्नांश हैं ।

337 **प्र० – गौड़ीय भक्त कौन हैं ?**

उ० – विष्णु के भक्तों को वैष्णव, कृष्णभक्तों को कार्ष्ण और राधाजी के भक्तों को गौड़ीय कहते हैं ।

परकीय मधुररस आश्रित श्रीरूपानुग गौर भक्त ही गौड़ीय हैं । गौड़ीयभक्त ललिताजी के अवतार श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी के अनुगत हैं । इसीलिए

गौड़ीयभक्तों को श्रीस्वरूप-रूपानुग कहते हैं । इसीलिए श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीस्वरूप-दामोदरजी को कहा है-**तोमार गौड़ीया करे एतेक व्यवहार ।**

गौड़ीय भक्तों की मञ्जरी System (प्रणाली) है। श्रीराधागोविन्दजी, श्रीराधामदनमोहनजी और श्रीराधागोपीनाथजी ही श्रीगौड़ीयभक्तों के उपास्य वस्तु हैं । जैसे कि शास्त्रों में कहा गया है-

श्रीराधा-सह श्रीमदनमोहन ।
श्रीराधा-सह श्रीगोविन्द चरण ।।
श्रीराधा-सह श्रीलगोपीनाथ ।
एइ तीन ठाकुर हय गौड़ीयार नाथ ।।
एइ तीन ठाकुर गौड़ीयाके करियाछेन आत्मसात् ।
एइ तीनेर चरण बन्दों तीने मोर नाथ ।।

(चै. च.)

गौड़ीयवैष्णवों के सेव्य अष्टादशाक्षर मन्त्र में निर्दिष्ट कृष्ण ही मदनमोहन, गोविन्द ही गोविन्दजी एवं गोपीजनबल्लभ ही गोपीनाथजी हैं । मदनमोहन-कृष्ण का अनुभव ही सम्बन्ध है, गोविन्दजी की सेवा ही अभिधेय एवं गोपीजनबल्लभ के द्वारा आकृष्टि ही प्रयोजन है ।

मदनमोहन श्रीकृष्ण ही सम्बन्धतत्त्व के अधिदेवता हैं । गोविन्दजी ही अभिधेयतत्त्व के अधिदेवता हैं और गोपीनाथजी प्रयोजन तत्त्व के अधि देवता हैं ।

साधारण रूप में गौर पदाश्रयभक्तों को ही गौड़ीय कहा जाता है । गौड़देश के भक्तों को गौड़ीय कहते हैं । जिस प्रकार उत्कलदेशीय भक्तों को उड़ियाभक्त कहा जाता है, उसी प्रकार बंगदेशीय भक्तों को भी गौड़ीयभक्तों के रूप में जाना जाता है ।

338 **प्र०-क्या त्यागी भी बद्ध हैं ?**

उ०-भोगी एवं त्यागी दोनों ही बद्ध हैं । एकमात्र भक्त ही नित्य कृष्णसेवामग्न हैं । भक्त भोगी भी नहीं हैं, त्यागी भी नहीं हैं । भक्त की स्वसुख-वाञ्छा नहीं है, वे सदैव भगवत्-सुखानुसन्धान में व्यस्त हैं । किन्तु भोगी एवं त्यागी दोनों ही स्वसुखकामी हैं, इसीलिए वे लोग दुःख पाते हैं । भक्त की कामना नहीं होती है, वे निष्काम हैं; इसीलिए भक्त ही वास्तव में सुखी हैं ।

भगवत्-सेवाही जीव का धर्म है । इसी भगवत्सेवा में शिथिलता आने

पर ही जीव हरिसेवा के अतिरिक्त भोग्य इतरवस्तु अर्थात् जगत या विश्व के प्रभु होने की इच्छा से युक्त हो जाता है । अतएव सावधान रहने पर इस जगत में तथा पर-जगत में कृष्ण सेवोन्मुखता में बाधा नहीं आती है ।

339 **प्र०-क्या जीव के अन्दर स्वतन्त्र इच्छा है ?**

उ०-जीव अणुचित् है; इसलिए वृहत् शक्ति माया उसको आवरण कर सकती है । इसके द्वारा जीव की सेवा-विमुखता या सेवा-शिथिलता हो जाती है । जीव स्वतन्त्र-इच्छाविशिष्ट अणुचित् है । स्वतन्त्र इच्छा के कारण वह अभक्त या भक्त, इन दो अवस्था में अवस्थान करता है । अभक्त अवस्था ही उसकी बद्धावस्था या सेवा-विमुखता है । फलस्वरूप उसमें ब्रह्म होने की वासना और माया के प्रभु होने की दुर्दमनीय चेष्टा दिखाई देती है । शुद्धभक्तों की कृपा से ही सेवा धर्म में जागरण या आत्मधर्म में उसे स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है, तब उसे पुनः बद्ध नहीं होना पड़ता है । जीव की स्वतन्त्र इच्छा को नष्ट करने की चेष्टा करने पर वह प्राकृत (जड़) गुण में बदल जाताहै । जड़ता एवं चेतनता एक नहीं है । जड़ भोग की इच्छा चेतनावरणी और विक्षेपिणी है । भक्त की कृपा होने पर स्वतन्त्र इच्छायुक्त बद्धावस्था सहज ही छूट जाती है । भक्त का आनुगत्य ही स्वतन्त्रता का सद्-व्यवहार है और अपने भोगों की इच्छा ही स्वतन्त्रता का अपव्यवहार है ।

340 **प्र०-बहिरंगा शक्ति और चिद्शक्ति का कार्य क्या है ?**

उ०-नश्वर विश्व भगवान की बहिरंगा शक्ति से प्रकटित है; उसमें तीन गुण क्रियायुक्त हैं । जब कि नित्य जगत् चिद्शक्ति से प्रकटित है; वहाँ पर ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्-ये तीन शक्ति सदैव कार्य करती हैं । चित्शक्ति द्वारा प्रकटित जगत अचित्-शक्ति द्वारा सृष्ट जगत से पृथक् धर्मयुक्त है । जीव का स्वरूप भेदाभेद प्रकाश एवं भगवान की तटस्था शक्ति से उत्पन्न है । भगवान की ये तीन शक्तियाँ ही नित्य हैं । जब तटस्था शक्ति से प्रकटित जीव अनित्य संसार का भोगी होता है, उसी समय ही उसका अमंगल होता है या दुःख होता है । जीव भगवद्-विमुख होने पर ही बहिरंगा-शक्ति माया के द्वारा आक्रान्त होता है । और भगवद्-उन्मुख होने पर चिद्-शक्ति उसको भगवत्सेवा में सहायता करती हैं ।

341 **प्र०-गुरुतत्त्व और राधातत्त्व में क्या वैशिष्ट्य है ?**

उ०-श्रीराधा ठाकुरानी मूल आश्रयविग्रह हैं । श्रीराधा मधुररसाचार्य

शिरोमणि हैं । श्रीवार्षभानवी कृष्णकान्ता-मुकुटमणि हैं । मधुररसाचार्य सदीय श्रीगुरुदेव श्रीराधा की प्रियसखी अर्थात् नित्यसिद्ध ब्रजगोपी हैं । श्रील नरोत्तमठाकुर महाशय की 'गुरुरूपा सखी बायें' इत्यादि वाक्यों की चर्चा करने पर जाना जाता है कि गुरु या सखी श्रीवार्षभानवी के ही कायव्यूह एवं उनसे अभिन्न हैं ।

342 **प्र०-क्या शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए भगवान के निकट प्रार्थना अभक्ति या भक्ति-बाधक है ?**

उ०-नहीं । श्रीकृष्ण हमें जब जिस अवस्था में रखते हैं, वही हमारे लिए शिरोधार्य है । **केवल भजनार्थी होकर शारीरिक मंगल प्राप्त करने की इच्छा भी भक्ति के अनुकूल विषय है ।** किन्तु अनर्थयुक्तभाव प्राप्त करने के लिए निरामय होने की आकांक्षा से भगवान से अभक्त व्यक्ति जो सेवा लेने की चेष्टा करता है, वह स्वीकार योग्य नहीं है । परन्तु विघ्नविनाशन श्रीनृसिंहदेव के पादपद्म में कृष्णभजन के उद्देश्य से स्वस्थ होने की प्रार्थना निश्चय ही आदरणीय है ।

343 **प्र०-क्या अस्वस्थ अवस्था में भी भजन करना चाहिए ?**

उ०-शारीरिक अवस्था अच्छी न रहने पर भी कृष्णभजन में उदासीनता युक्तिसंगत नहीं है, इसलिए कृष्णभजन से विरत नहीं होऊँगा, यही सोच रहा हूँ । परन्तु सम्पूर्णरूप से असमर्थ होने पर भजन केवल स्मरण द्वारा ही होगा ।

344 **प्र०-क्या अभक्त को भक्त मानना उचित है ?**

उ०-नहीं । श्रीगुरुदेव नामाचार्य हैं अर्थात् नामकीर्तनकारी हैं । नामापराधी को गुरुज्ञान करना उचित नहीं है । सद्गुरु किसी का भी इन्द्रियतर्पण नहीं करते हैं अर्थात् किसी का मन रखनेवाली बात नहीं कहते हैं । प्रेयःपन्थी व्यक्ति श्रेयःपन्थी भक्तों की बात पसन्द नहीं करते हैं । वे लोग (प्रेयःपन्थी) अपनी इच्छानुसार कथा की खोज करते रहते हैं, इसीलिए वे लोग यथार्थ मंगल से वञ्चित होते हैं ।

अभक्त को भक्त मानना, मिथ्या-भक्ति को भक्ति मानना आत्मवञ्चना अर्थात् स्वयं को ठगना मात्र है । भक्तों की सेवा या भक्तों को सम्मान करने का सौभाग्य न होने पर अभक्त को भक्त के रूप में सजाने की इच्छा होती है । क्या मयूरपुच्छ लगाकर कौवा मयूर हो सकता है ? क्या नीलवर्ण शृगाल (सियार) पशुराज (सिंह) हो सकता है ? कपटता कितने दिन तक ढकी रहेगी ? सत्य प्रकाशित होगा ही । जो लोग कृष्णसेवा करते हैं, वे लोग दुर्बल

नहीं हैं, वे लोग ही सबल या दृढ़चित्त हैं । कृष्णसेवा ही बड़ी चीज है, कृष्णसेवक ही बड़ा है, भाग्य अच्छा होने पर ही यह समझ में आता है । क्षुद्र धनमद, तुच्छ विद्यामद, अकिञ्चित्कर रूपमद इत्यादि को बहिर्मुखता के कारण बड़ा मान लेने से कृष्णसेवा में एवं कृष्णभक्त के प्रति उदासीनता आकर विपद उत्पन्न कराती है ।

345 **प्र० – क्या प्रतिष्ठा की इच्छा भक्तिसाधक है ?**

उ० – जड़ प्रतिष्ठा संग्रह करने से कोई लाभ नहीं है । वह वैष्णवी प्रतिष्ठा में बाधा डालनेवाली है । प्रतिष्ठारूपिणी सूअर की विष्ठा परित्यज्य है, यह सर्वदा स्मरण रखना होगा । पथ दो प्रकार के हैं – श्रेयः और प्रेयः । भक्तिपथ के पथिकगण श्रेयःपन्थी और निष्काम हैं । किन्तु प्रेयःपन्थी विषयीगण प्रतिष्ठाकामी हैं । इसीलिए भक्तसंग ही मंगलदायक है ।

346 **प्र० – क्या असत्संग परित्याग करना चाहिए ?**

उ० – वैष्णवों की क्रियामुद्रा को समझना सभी के भाग्य में नहीं होता है । यदि कोई अज्ञातवशतः मुझ पर कटाक्ष करता है, तो इससे मेरा उपकार ही होता है । किन्तु मेरे नित्य आराध्य श्रीगुरु एवं वैष्णवों से विद्वेषकर कोई अपने पितृपुरुषों के साथ ही नरकगामी होता है, इसी का मुझे दुःख है ।

दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर अपना मंगल साधन करना ही बुद्धिमान व्यक्ति का कार्य है । मिथ्याभक्त (भक्त के अभिनयकारी) का संग करना विपत्तिजनक है । जो लोग भोग और त्याग को स्वीकार करते हैं, वे लोग भक्ति के विपरीत पथ पर ही चल रहे हैं । आउल, बाउल इत्यादि ऐसे १३ अपसम्प्रदाय हैं । उनका संग ही दुःसंग है । ऐसे अधःपतित दुःसंग को अर्थात् धर्मध्वजी स्त्रीसंगियों के संग को सत्संग समझने पर निश्चितरूप से अधःपतन होता है । अतः आप लोग इन विपथगामियों का कभी संग मत करना । असत् व्यक्तियों का संग करने पर अधःपतन होता है ।

जड़भोगी या जड़ रस में आनन्दित व्यक्ति अदीक्षित और दिव्यज्ञान वर्जित हैं । वे लोग मिथ्याभक्त या असत् हैं । इस प्रकार असत् का संग त्याग करके सत्संग अथवा साधु एवं शास्त्रों के उपदेशों को मिलाकर जीवनपथ में अग्रसर हों ।

347 **प्र० – कौन भगवान की सेवा के लिए व्यस्त नहीं होते हैं ?**

उ० – जिनका चित्त श्रीकृष्णपादपद्म की सेवा के अतिरिक्त दूसरी

वस्तुओं की अभिलाषा करता है, उनकी प्रशंसा नहीं की जाती है । यह उनके मन्दभाग्य का विषमय फलस्वरूप है । जिनका मंगल विलम्ब से होगा, ऐसे अल्प बुद्धिवाले व्यक्ति ही भगवान की सेवा के लिए व्यस्त न होकर अन्याभिलाषी हो पड़ते हैं अर्थात् संसार के प्रति उनकी आसक्ति बढ़ जाती है । आप लोग उन सभी लोगों के लिए कोई चिन्ता मत करना । स्वकर्मफलभुक् पुमान् (व्यक्ति अपना कर्मफल भोग करता है) ।

348 **प्र०–बहादुर होना क्या अच्छा है ?**

उ०–नहीं । गुरुलंघन और प्रतिष्ठा सर्वनाशकारी हैं । अत्यधिक अर्थ और बहादुरी का गर्व भगवान के भक्तों के जीवन का प्रयोजनीय विषय नहीं है । उससे गुरु–लंघन जनित असुविधा हो सकती है । आप आशीर्वाद करें कि मेरा चित्त मैं बड़ा हूँ होने के लिए धावित न हो । मैं कई बार जिनको आत्मीय जानकर उनके लिए कर्कश एवं रूढ़ वाक्य बोलता हूँ, वे लोग मुझे क्षमा करेंगे–इसी उद्देश्य से कहता हूँ, किन्तु आपका विचार 'उल्टा बुझिलि (समझा) राम' हो गया, यही दुःख है ।

349 **प्र०–दीक्षित भक्त पितृश्राद्ध किस प्रकार करेंगे ?**

उ०–दीक्षित नामाश्रित व्यक्ति अपने पिता की मृत्यु के दस दिन बाद ग्यारहवें दिन महाप्रसाद के द्वारा पिण्ड देकर शुद्ध भक्त विप्रगणों की सेवा करेंगे । इसे मठ में आकर करना ही अच्छा है । परन्तु जो लोग भक्त नहीं हैं या दीक्षित नहीं हैं, जो लोग हरिनाम नहीं करते हैं और समाज का वाक्यबाण सहन नहीं कर सकते, वे लोग स्मार्त मत के अनुसार पिण्ड देंगे । स्वयं श्रीहरिनाम करने पर भी अपने पितृपुरुषों को प्रेतज्ञान करना शास्त्रों द्वारा अनुमोदित नहीं है । किन्तु स्मार्तमत में जो इस प्रकार की व्यवस्था है, वह अधिकार विचार से है । विशेषतः स्मार्तमत के अनुसार श्राद्ध करने से पुनः मातृगर्भ में जाना पड़ता है । इसीलिए भगवान के भक्त स्मार्तमत के अनुसार श्राद्धकर्म को कभी भी स्वीकार नहीं करते हैं ।

स्मार्तों का विचार शास्त्र विरुद्ध होने के कारण स्मार्तपद्धति को भक्तलोग स्वीकार नहीं करते हैं और मुक्तलोगों की विचार प्रणाली को समझना भी स्मार्तों के लिए कठिन है ।

जो लोग भक्त नहीं हैं, वे लोग शूद्र–विचारों से १३ दिन तक शोक चिन्ह धारण और कच्चा हविष्यान्न ग्रहण करेंगे । नामाश्रित भक्तलोग प्रतिदिन

महाप्रसाद ग्रहण करेंगे । वे स्मार्त विधिका पालन करने के लिए व्यस्त नहीं होंगे । परलोक गमन के पश्चात् वैष्णवलोग प्रेत होते हैं एवं उनका श्राद्ध भगवान को बिना निवेदित वस्तुओं से होगा, जगत में जो ऐसा कुमत प्रचलित है, ऐसे कुमतों से आप लोग दूर रहेंगे ।

350 **प्र० – असन्तुष्ट भाव कैसे जायेगा ?**

उ० – भगवान के श्रीचरणकमलों में भक्ति हो जाने पर जीव की असन्तुष्टि का कोई कारण नहीं रह जाता । इस पृथ्वी में हम भगवान की सेवा से विमुख होने के कारण ही कर्मफल के अधीन हैं । कर्मफल के अनुसार कभी सुखभोग या प्रणय प्राप्त होता है और कभी दुःखभोग या विद्वेषभाव प्राप्त होता है । भगवान की सेवा की आवश्यकता का ज्ञान होने पर समस्त प्रकार के क्लेश और सुखैषणा (सुख की प्रबल इच्छा) हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकती । तुम लोग सदा-सर्वदा भगवान की सेवा में ही अपना मन देना । इस प्रकार कोई भी किसी भी प्रकार से तुम्हें क्षति नहीं पहुँचा सकेगा । चंचल होकर किसी के प्रति असन्तुष्ट होकर यदि तुम संसार में रहोगे तो तुम्हें भगवान की सेवा का स्मरण नहीं होगा । वाक्युद्ध, देहयुद्ध या मानसिक असन्तोषरूपी युद्ध तुम्हें भगवान की सेवा नहीं करने देंगे । अतः वृक्ष की भाँति सहनशील होकर भगवान की इच्छानुसार कुरुक्षेत्र में ही रहो, इसी में तुम्हारा मंगल होगा । जिस दिन श्रीगौरहरि तुम्हें स्वयं दूसरे स्थान पर भेजेंगे, उस दिन की प्रतीक्षा करो ।

351 **प्र० – क्या आउल, बाउल वैष्णव नहीं हैं ?**

उ० – आउल, बाउल इत्यादि अवैष्णव हैं । वे लोग माताजी (स्त्री) लेकर कपट भेकधारी के वेष में घूमते रहते हैं । भक्तों की क्रिया और मिथ्याभक्तों की दुष्टता बाहर से एक जैसा दिखाई देने पर भी वास्तव में दूध और चूने के पानी की तरह दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है । शास्त्र कहते हैं-

असत्संग त्याग – एइ वैष्णव – आचार ।
स्त्रीसंगी – एक असाधु, कृष्णाभक्त आर ।।

अखाड़ेवाले बाबाजी लोग स्त्रीसंगी और कृष्ण – अभक्त भी हैं । इसीलिए उनका दुःसंग दृढ़रूप से परित्यज्य है । अन्यथा हरिभजन असम्भव है । किन्तु किसी की निन्दा न कर उससे दूर रहना ही कर्तव्य है । असत्लोग असत्चिन्ता करते हैं तथा भक्तलोग भगवान की चिन्ता करते हैं । हमलोगों को इन दोनों

में से भक्तों का पथ ही अनुसरण करना है ।

352 **प्र० – क्या ईश्वर के प्रति विश्वास की प्रचुर आवश्यकता है ?**

उ० – ईश्वर – विश्वास की वृद्धि के लिए हमलोग मठ आदि में सब समय सेवकों के induce (प्रेरित) कर रहे हैं । अपने – अपने भाग्य के अनुसार फल प्राप्त होता है । कृष्ण का अनुग्रह होने पर ही सभी लाभवान् होंगे । सब समय आश्रयजातीय रस की चर्चा करेंगे । ऐसा होने से जड़पुरुष का अभिमान तुम्हें कष्ट नहीं देगा । हमलोग अपनी मानस – चेष्टा से सभी प्रकार के भोगों में आबद्ध हो सकते हैं, किन्तु आत्मवृत्ति भक्ति विकसित होने पर शुद्ध – निर्मल आत्मा सब समय हरिकथा का अनुसन्धान करेगी ।

353 **प्र० – शरणागति क्या है ?**

उ० – सब विषयों में कृष्ण की इच्छा ही बलवती है । मेरी कुछ करने की इच्छा होने पर भी यदि कृष्ण की इच्छा न हो, तो वह निश्चय ही बदल जाएगी । उनकी इच्छा से अपनी इच्छा को मिलाना ही शरणागति या शान्ति है । समस्त प्रापञ्चिक विषय ही कृष्णलीला के अनुकूल हैं । संसार में हम सुख प्राप्त करने पर भगवान को भूल जायेंगे, इसीलिए हमारे मन की परीक्षा लेने के लिए ही दयामय भगवान ने इस प्रपञ्च जगत का निर्माण किया है । अतः इस जगत में सुखी रहने पर कृष्ण – विस्मृति अवश्यम्भावी होने के कारण ही यह (उनके द्वारा प्रपञ्च जगत का निर्माण) उनकी दया का परिचय है ।

अपनी इच्छानुसार ब्रज में नहीं जाया जा सकता । राधाकृष्ण की शुभेच्छा और उनकी कृपा होने पर ही ब्रजवास सम्भव होता है । ब्रजयात्रा में हमारी अपनी इच्छा ही कृष्ण के प्रतिकूल अनुशीलन और बाधक स्वरूप है ।

चैत्रमास में हमारी मथुरा जाने की प्रबल इच्छा होने पर भी कृष्ण की इच्छा न होने के कारण ही हमारी इच्छा में बाधा पड़ गयी । अब हमने अगले आश्विन मास में जाने की इच्छा की है । फिर भी यदि कृष्ण की इच्छा दूसरी प्रकार की हुई, तो इसमें हमारा कोई हाथ नहीं है । बल्कि उनकी इच्छा के विरुद्ध चेष्टा करने पर हमें दोषी होना ही पड़ेगा ।

हरिभजन करने पर ही शरीर, मन और आत्मा – ये तीनों ठीक रहेंगे, किन्तु मेरी तरह भजन – विमुख होने पर ये तीनों प्रतिकूल होकर खड़े हो जायेंगे ।

354 **प्र० – क्या श्रीगौरांगदेव का पति रूप से भजन किया जा**

सकता है ?

उ० - विषय - विग्रह श्रीकृष्ण ही भोक्ता हैं, इसके अतिरिक्त सब उनके भोग्य हैं । श्रीगौरसुन्दर विषयविग्रह श्रीकृष्ण होने पर भी भक्त भाव में विभावित हैं । वे कृष्ण होने पर भी कृष्ण के सुखानुसन्धान में व्यस्त हैं । श्रीकृष्ण माधुर्य - विग्रह और श्रीगौरांग औदार्य - विग्रह हैं । आस्वादक विषय - विग्रह होने के कारण श्रीगौरसुन्दर कृष्ण ही हैं । यदि जीव स्वयं को आस्वादक (कृष्ण) सोचकर अभिमान करता है, तो उसकी संसार - दशा अवश्यम्भावी है । कृष्ण के भोग्य - जीव का भोक्ता - अभिमान ही उसके पतन का कारण है । श्रीगौरसुन्दर स्वरूपतः विषय - विग्रह या भोक्ता होने पर भी वे आश्रय - विग्रह की लीला का अभिनय कर रहे हैं । इसीलिए महाप्रभु का पतित्व वैध विचार से श्रीलक्ष्मीप्रिया और श्रीविष्णुप्रिया के लिए ही है । इसके अतिरिक्त उनके अधीनगण शुद्धदास्य - रसाश्रिता दासी मात्र हैं । उसमें मुख्य रसानन्द शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता । जहाँ पर मधुर - रति में गौरसुन्दर के उद्देश्य से पति शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ पर गौरसुन्दर का कृष्ण रूप ही जानना होगा । जो अज्ञानतावशतः गौरसुन्दर को नागर कहते हैं, ऐसा गौरनागरी - मत अशास्त्रीय और अपराधमय है । इसीलिए श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने श्रीचैतन्यभागवत में लिखा है -

अतएव यत महामहिम सकले ।
गौरांगनागर हेन स्तव नाहि बले ।।

355 **प्र० - क्या गृहव्रती का संग निन्दनीय है ?**

उ० - जिनकी इच्छा गृहव्रत धर्म को प्रबल करने की है, हम कभी भी उनके संग की प्रार्थना नहीं करते हैं । जो व्यक्ति हरि - भजन अनुरागी और कृष्णगृहधर्म में अवस्थित है, उनकी सेवा करने के लिए ही हमारी प्रबल इच्छा होना आवश्यक है । दुःसंग परित्याग कर साधु का आश्रय ग्रहण करना ही कर्तव्य है । जो असाधु को साधु जानकर भ्रमित होते हैं, वे सर्वदा ही विपत्तियों में पड़ेंगे ।

356 **प्र० - मठ प्रतिष्ठा का उद्देश्य क्या है ?**

उ० - मठ साधारण लोगों के अनुग्रह के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है । श्रीकृष्ण - संकीर्तन द्वारा ही श्रीगौरांगदेव की सेवा होती है । 'यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः' - यह श्लोक ही इसका प्रमाण है । श्रीकृष्ण ने गौरसुन्दर की लीला के रूप में जो आदर्श स्थापित किए, वही एकमात्र जीवों के लिए मंगल का मार्ग

है ।

भोगी और त्यागियों का मन प्रसन्न रखने के लिए मठों की स्थापना नहीं हुई है । केवल शुद्ध-भक्ति का प्रचार करने के लिए ही मठों की स्थापना हुई है । मठ स्थापनरूपी हरिसेवा के द्वारा हमारा मंगल होगा ।

केवल दो-एक रुपये के द्वारा ही मठ का उपकार पाना हमारा उद्देश्य नहीं है । फालतू लोगों से सहायता लेने के लिए हमको आग्रहान्वित नहीं होना चाहिए । परन्तु निर्दोष सत्य बात कहकर यदि किसी का उपकार कर सको, तभी कृष्णसेवामय मठ की सेवा करके धन्य हो जाओगे ।

अनेक समय लोग हमारे साथ कपटता करेंगे । इन सबको हम भगवान की परीक्षा मानेंगे । जीव का सौभाग्य न रहने पर दुष्पार-माया को पार करना बहुत कठिन है । मायावादी एवं भोगी दोनों ही बद्धजीव हैं । भगवान के प्रति उन्मुखलोग ही कृष्णभक्तों की कृपा से अपना हित और अहित समझ सकते हैं । अनेकलोग भोगों को प्रधानता देने के कारण सत्य की उपलब्धि से विरत हो जाते हैं ।

शीघ्र ही गया जाकर प्रबल रूप से प्रचार करने की मेरी इच्छा है । कृष्ण की इच्छा होने पर वह निश्चय ही कार्य के रूप में परिणत होगी ।

357 **प्र०-भक्तों की चित्तवृत्ति कैसी होगी ?**

उ०-केनोपनिषद् में कहा गया है-सर्वशक्तिमान भगवान की निर्दिष्ट शक्ति पाकर ही अधिकारिक देवता लोग अपनी-अपनी शक्ति की परिचालना करते हैं । पुनः जब भगवान उनसे शक्ति ले लेते हैं तो उनकी शक्ति नहीं रहती । श्रीरूपानुग भक्तवृन्द अपनी शक्ति पर आस्था स्थापित कर मूल-स्थान में सब महिमा का आरोप करते हैं । हम भी श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीरूप, श्रीभक्तिविनोद तथा श्रीगुरुपादपद्म के उद्देश्य से सब कार्य करते हैं । भक्तिपथ या आनुगत्य का पथ छोड़ देने पर अहंकार-विमूढ़ात्मत्व हमें ग्रास करता है ।

358 **प्र०-केवलाद्वैतवादियों के साथ वैष्णव-वेदान्तिकों का क्या पार्थक्य है ?**

उ०-अद्वैतवादी या मायावादी निर्विशेषवाद के पक्षपाती हैं तथा वैष्णव-वेदान्तिक नित्य-सविशेषवाद स्वीकार करते हैं । अद्वैतवादी प्रच्छन्न नास्तिक तथा वैष्णव-वेदान्तिक निष्कपट आस्तिक हैं । अद्वैतवादी आरोहवादी तथा वैष्णववेदान्तिक अवरोहवादी हैं । अद्वैतवादी शरणागति के विरोधी हैं तथा

वैष्णववैदान्तिक नित्य ऐकान्तिक शरणागति के पक्षपाती हैं ।

359 **प्र० – भक्तलोग कौन सी नीति को स्वीकार करते हैं ?**

उ० – जो कृष्ण के वास्तविक भक्त हैं, वे कभी भी अनैतिकता के पक्षपाती नहीं हैं । समस्त सुनीतियाँ एकमात्र धर्ममूर्त्ति श्रीकृष्ण के चरणकमलों में ही पूर्णरूप से आबद्ध हैं । जीवात्मा का सर्वोच्च नीति – विज्ञान ही परमात्मा के प्रति अनुराग की अन्तिम सीमा एकमात्र कृष्णभक्तों में ही है ।

महात्मा ख्रीष्ट के द्वारा प्रचारित उत्तम नीतियाँ अनन्त कोटि गुणा परिवर्धित और परिपूर्णता को प्राप्त होकर कृष्णभक्तों की प्रेम – नीति की सेवा के अवसर की प्रतीक्षा कर रही हैं ।

हमारे विचार केवल लौकिक नीतियों में आबद्ध नहीं है । लौकिक नीतियों को अतिक्रमकर जो अलौकिक नीति है एवं उसे भी अतिक्रमकर जो पारमार्थिक प्रेम – प्रयोजन नीति है, वही नीति हमारी काम्य है । जब उस अतिमर्त्य प्रेमनीति में कोई शुद्ध जीवात्मा प्रतिष्ठित हो जाता है । तब लौकिक नीतियाँ अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होती हैं । परन्तु लौकिक नीतियों के प्रति भक्तों का किसी प्रकार का द्वेष या अनुराग नहीं रहता है । बल्कि वे समस्त नीतियाँ ही प्रेमी पुरुष की सेवाकर धन्य होने के लिए परमार्थ नीति के पीछे दासी की भाँति अपेक्षा करती रहती है । पारमार्थिक व्यक्ति का चरित्र कभी भी नीतिहीन नहीं होता है । नीति – विद्वेषी या नीतिभ्रष्ट व्यक्ति कभी भी पारमार्थिक पदवाच्य नहीं है । व्यभिचार कभी भी भक्ति नहीं हो सकता ।

360 **प्र० – कृष्णलीला तो अश्लील नहीं हो सकती ?**

उ० – जितेन्द्रिय – कुल – चूड़ामणि पार्षद – भक्तलोग जिस कृष्णलीला की चर्चा करते हैं, जिस कृष्णलीला का श्रवण, स्मरण तथा कीर्तन करने पर पाप तथा संसार से मुक्ति हो जाती है, चिर शान्ति प्राप्त होती है, प्रेम प्राप्त हो जाता है, कामनाओं वासनाओं के हाथ से चिर काल के लिए छुटकारा मिल जाता है, वह कृष्णलीला कितनी सर्वोत्तम नीति परिपुष्ट है, समस्त श्रुतियों की कितनी आराध्यातम है, जागतिक नीतिवादी लोग अपने क्षुद्रतम मस्तिष्क से इसकी धारणा भी नहीं कर सकते हैं । कृष्ण की प्रेमलीला रोमिओ – जुलियेट की भाँति नायक – नायिका या आदर्श स्त्री – पुरुष की कामलीला की भाँति प्राकृत नहीं है । यहाँ का काम वृत्तिमात्र तथा अप्राकृत कृष्णराज्य का काम विग्रह विशिष्ट है । आत्मेन्द्रिय प्रीतिवाञ्छा या स्वसुखवाञ्छा का नाम 'काम' है तथा कृष्णप्रीति या

कृष्णप्रीति विधान का नाम 'प्रेम' है । काम अन्धकार सदृश, प्रेम निर्मल भास्कर (सूर्य) सदृश है । अप्राकृत काम अर्थात् प्रेम कृष्ण-इन्द्रिय पूर्त्तिवाञ्छा रूप विग्रह विशिष्ट है । रिपु यहाँ के काम का निरन्तर ताड़ना करता है । आप्रकृत धाम में कृष्ण का चिन्मय-विग्रह माधुर्य कृष्णकाम को परिचालित करता है ।

जगत के काम के चालक रिपु और प्रेम के चालक कृष्ण हैं । कृष्ण की लीलाओं को अश्लील नहीं कहा जा सकता, ऐसा सोचना भी अपराध है । क्योंकि कृष्ण ही अद्वितीय भोक्ता, परम वास्तव सत्य, निरंकुश इच्छालय स्वराट् (Spiritual Daspot) हैं ।

361 **प्र०-क्या धर्म का क्रम विकास है ?**

उ०-अवश्य ही है । धर्म-जगत में क्रम विकास के दो प्रकार के मार्ग देखे जाते हैं । एक श्रेणी में इन्द्रिय-तर्पण या आध्यक्षिक ज्ञान का क्रम विकास और दूसरी श्रेणी में कृष्णेन्द्रिय-तर्पण या अधोक्षज-ज्ञान का क्रम विकास । इन्द्रिय-तर्पण या आध्यक्षिक-ज्ञान का क्रम विकास जितना प्रगाढ़ होता है, उतनी ही नास्तिकता की मात्रा बढ़ती है । परन्तु भगवदिन्द्रियतर्पण का क्रम विकास जितना प्रगाढ़ होता है, आस्तिकता उतनी ही अपूर्ण से पूर्ण और पूर्ण से पूर्णतम रूप में परिस्फुट होती है । इन्द्रियतर्पण या आध्यक्षिक-ज्ञान के क्रम विकास में सर्वप्रथम नास्तिक्यवाद, द्वितीयस्तर में सन्देहवाद, तृतीयस्तर में अज्ञेयतावाद, चतुर्थस्तर में मायावाद एवं अन्त में शून्यवाद आकर उपस्थित हो जाता है । परन्तु दूसरी ओर भगवद्-इन्द्रियतर्पण या अधोक्षज ज्ञान के क्रम विकास में अर्थात् चिद्विलास के विचार में निर्विशेष-ब्रह्म और 'केवल वासुदेव' का विचार परित्याग कर लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, रुक्मिणीश एवं राधा-गोविन्द की उपासना का क्रम-तारतम्य परिपुष्ट होता है ।

मानव जाति इन्द्रियतर्पण के क्रम विकास में श्रीराधा-गोविन्द की अप्राकृत-लीला को अश्लील मानकर राधानाथ की धारणा से रुक्मिणीश की धारणा को कुछ अच्छा मानती है । बहुवल्लभ द्वारकेश की धारणा की अपेक्षा एकपत्नी व्रतधारी जानकीवल्लभ (सीतापति) की धारणा को अधिकतर नैतिक विचारपुष्ट मानते हैं ।

वे रामचन्द्र की अपेक्षा लक्ष्मी-नारायण की धारणा को अधिकतर शुद्धभावयुक्त मानते हैं । फिर पुरुष-स्त्री मिश्रा उपास्य विचार की अपेक्षा एक-वासुदेव की कल्पित धारणा को अधिकतर नीतिपुष्ट मानते हैं । किन्तु

एक-वासुदेव अर्थात् चित्शक्तिहीन शक्तिमान् परमेश्वर के अस्तित्व की कल्पना नास्तिकता या निर्विशेषवाद के प्रथम सोपान में पदविक्षेप मात्र है । ऐसा मानने पर इन्द्रितर्पणमयी नीति या आध्यक्षिकज्ञान क्रमशः उन्मार्ग में आरोहण करते-करते निर्विशेष-ब्रह्म के विचार में आ जाता है अर्थात् परम चेतन (Over Soul) को उसके नित्य चिद्विलास धर्म से चिरवर्जित करना चाहता है । उसके व्यक्तित्व (Transcendental Personality) को ध्वंस करने की चेष्टा करता है । क्रमपूर्वक इन्द्रियतर्पण नीति अधिक अग्रसर होने की इच्छाकर अति आध्यक्षिक-ज्ञान में जैन-धर्म और बौद्ध धर्म का आवाहन करती है । जैन एवं बौद्धधर्म का अति-नीतिवाद चिन्मात्र से अचिन्मात्र में अस्तित्व से केवल नास्तित्व या शून्यत्व में परिणत हो जाता है । इन्द्रियतर्पण का क्रम विकास मानव-प्रज्ञा को इस प्रकार भगवद् इन्द्रियतर्पण के विचार से पतित कर बिल्कुल नास्तिकता के अतल जलधि में अचिन्मात्र समाधि प्रदान करता है । जीव जितना ही भगवदिन्द्रियतर्पण के विचार से विच्युत होकर आत्मेन्द्रियतर्पण के पथ में अग्रसर होता रहेगा, उतना ही ऐसे क्रमनास्तिकता की ओर दौड़ता रहेगा ।

362 **प्र०-क्या श्रीकृष्णसंकीर्तन में सभी का अधिकार है ?**

उ०-अवश्य ही । श्रीहरिनाम और भगवान श्रीहरि-दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, एक ही वस्तु हैं । श्रीनाम और नामी अभिन्न हैं । श्रीकृष्णसंकीर्तन में सभी का अधिकार है । जिस प्रकार कृष्ण में समस्त शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार नाम में सभी शक्तियाँ हैं । पुरुष हरिभजन करेगा, स्त्री नहीं कर सकती, स्वस्थ व्यक्ति हरिभजन करेगा, बीमार व्यक्ति नहीं कर सकता, जिसके शरीर में खूब ताकत नहीं है, वह हरिभजन नहीं कर सकता-इस प्रकार के विचार नामसंकीर्तन में नहीं हैं । वह बालक है, मैं वृद्ध हूँ, इसलिए उसके साथ मैं हरिकीर्तन नहीं करूँगा; मैं पण्डित हूँ, मूर्खों के साथ मैं हरिकीर्तन नहीं करूँगा; मैं कुलीन हूँ, नीच कुल में जन्मे व्यक्ति के साथ हरिकीर्तन नहीं करूँगा- इस प्रकार के मनोधर्म और देहधर्म के विचार आत्मधर्म श्रीकृष्णसंकीर्तन में नहीं है । मल-मूत्र त्याग के समय अथवा पापयुक्त हृदय में हरिनाम नहीं कर सकता-ऐसा विचार भी श्रीकृष्णसंकीर्तन में नहीं है । मलमूत्र त्याग करते समय हरिनाम किया जाता है, पापी व्यक्ति भी हरिनाम कर सकता है; किन्तु जो लोग 'हरिनाम करके पाप को पचाऊँगा'-ऐसी कपटता का आश्रय करते हैं, वे लोग हरिनाम नहीं कर

सकते, नाम के बल पर पाप करने की प्रवृत्ति रहने पर हरिनाम नहीं होता ।

363 **प्र० – अत्यन्त क्षुद्र (छोटी) वस्तु जीव विभु (बृहत्) भगवान की सेवा किस प्रकार कर सकता है ?**

उ० – जीव में अचित् क्षुद्र पदार्थ नहीं हूँ, मैं चिन्मय क्षुद्र पदार्थ हूँ । इस अति क्षुद्र जीव में अनन्त की सेवा करने की सामर्थ्य है । चेतन का गठन ऐसा नहीं है कि अणु होने पर वह अनन्त की सेवा नहीं कर सकता । उदाहरण के लिए कहा जाता है – चिनगारी को आधार मिल जाने पर वह समग्र जगत को जलाकर राख कर सकती है ।

364 **प्र० – सेवा कौन सी वस्तु है ?**

उ० – जिसमें ठाकुर का सुख है, उसी का नाम 'सेवा' है । पुनः जिसमें अपनी सुख – सुविधा होती है, उसका नाम 'भोग' है । भगवान श्रीहरि इस जगत में दो प्रकार से हमारे पास आते हैं – (१) अर्चावतार (विग्रह) के रूप में (२) नाम के रूप में । इन अर्चावतार और नामावतार के प्रति जिनकी श्रद्धा है, उनका ही मंगल होता है ।

कपटता रहने पर श्रीविग्रह की सेवा और श्रीनामकीर्तन नहीं होगा । शुद्धभक्त की निष्कपट सेवा और संग के सिवा हमारा मंगल हो ही नहीं सकता । भगवान् और भक्त की वञ्चना करने पर भक्ति नहीं होती । भगवान की सेवा और सेवा का अभिनय – दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं । भगवान की श्रीअर्चामूर्ति की सेवा जिससे भलीभाँति हो सकती है, उसके लिए हमको विशेष यत्न करना होगा । श्रीविग्रह साक्षात् भगवान् हैं । इसलिए हर कोई व्यक्ति श्रीविग्रह की सेवा नहीं कर सकता । वेतनभोगी लोगों के द्वारा ठाकुर की पूजा या रसोई आदि सेवा नहीं होती । सद्गुरुचरणाश्रित निष्कपट सेवक ही श्रीविग्रहरूपी भगवान् और श्रीनामरूपी भगवान की सेवा कर सकते हैं । क्योंकि रुपये लेकर भगवत् सेवा नहीं होती – भगवत् सेवा प्राण देकर प्रीति के साथ की जाती है ।

विष्णु – वैष्णव की सेवा ही सबसे उत्तम है – ऐसा दृढ़ विश्वास जब तक नहीं होगा, तब तक हमारा किसी भी प्रकार का मंगल नहीं हो सकता । इसलिए सबसे पहले विशेष श्रद्धा के साथ श्रीविग्रह की सेवा करना कर्तव्य है, किन्तु श्रीविग्रह सेवा और श्रीनाम सेवा भगवान के सुख के लिए ही करनी होगी । अन्य कोई उद्देश्य रहने पर सेवा नहीं होगी । इसलिए हम सभी के निकट प्रार्थना कर रहे हैं – हे बन्धुओ ! आप लोग सदाचार से युक्त होकर भगवान के सुख के लिए

भगवत्-सेवा कीजिए । मंगल का बाहरी चेहरा मंगल का मार्ग नहीं है (बाह्यरूप में जो मंगल जैसा दिखाई देता है, वास्तव में वह मंगल नहीं है ।) कपटता कर नौटंकी के कृत्रिम नारदमुनि के रूप में सजने से लाभ नहीं है । आप सचमुच भगवत् सुख के लिए अर्चन और कीर्तन कीजिए, तभी मंगल होगा ।

365 **प्र०-हम कृष्ण को क्यों नहीं देख पा रहे हैं ?**

उ०-कृष्ण अधोक्षज वस्तु होने के कारण जड़ इन्द्रियज ज्ञान के द्वारा उनको जान नहीं सकते । कृष्ण किसी के भोग्य नहीं हैं; वे ही एकमात्र भोक्ता हैं, अतः सभी उनके भोग्य हैं । कृष्णविमुखता के कारण ही हमारी वर्तमान धारणा (विचारधारा) कृष्ण को देखने नहीं देती । कृष्ण की माया की दो वृत्तियाँ हैं-(१) कृष्ण को देखने नहीं देना, (२) कृष्ण को दूर हटा देना । इन दोनों असुविधाओं को दूर कर सकते हैं-एकमात्र कार्ष्ण (कृष्ण के भक्त)

कुलीन ग्रामवासियों के प्रश्न के उत्तर में श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है-कृष्णसेवा, कार्ष्णसेवा और नामसंकीर्तन-ये तीनों ही जीव के कृत्य हैं । भजनीय वस्तु हैं-भगवान्, भजनकारी हैं-भक्त और भजनवृत्ति है-भक्ति; ये तीनों ही नित्य हैं । भगवान की सेवा के लिए अविमिश्रित (मिलावट से रहित) चेष्टा न करने तक इसका अनुभव नहीं किया जा सकता । मिश्रित चेष्टा से भगवद् अनुभव सम्भव नहीं है ।

हम कपटतापूर्वक मुख से कह रहे हैं-हम विष्णु के उपासक हैं-कृष्ण के दास हैं; परन्तु वास्तव में हम इन्द्रियों के दास-भोगी हैं । जब तक जीव में शुद्ध सेवा वृत्ति उदित नहीं होती, तब तक उसका किसी भी प्रकार का कृष्णज्ञान नहीं हुआ है, ऐसा जानना होगा । श्रीगौरसुन्दर की कथा हमारे हृदय में प्रविष्ट नहीं हुई है, इसीलिए हमारी यह अवस्था है । कृष्ण और कार्ष्णसेवा ही जीव का एकमात्र कृत्य है, जब तक हम इसका अनुभव नहीं कर सकते हैं, तब तक हम वञ्चित हैं । हम जब निष्कपट होकर कार्ष्ण की शरण में जाते हैं, तभी ऐसी दुर्बुद्धि से छुटकारा पा सकते हैं ।

जो लोग निरन्तर भगवद् उपासना करते हैं, उनके श्रीहस्त द्वारा उन्मीलित चक्षुओं से ही हमारा भगवद् दर्शन सम्भव है । जो सर्वक्षण भगवद् भजन करते हैं,-जो हर पग पर सब प्रकार से भगवान की सेवा करते हैं, सर्वस्व देकर भगवान की सेवा के अतिरिक्त जो अन्य कुछ भी नहीं करते, ऐसे किसी महापुरुष की सेवा ही हमलोगों को शुद्ध कृष्णभजन दे सकती है-कृष्णदर्शन

करा सकती है ।

कृष्णभक्त श्रीगुरुदेव की कृपा से जब हरिकीर्तन करने का सौभाग्य होता है, तब संकीर्तनरूपी कृष्ण अत्यन्त अयोग्य व्यक्ति की भी सभी प्रकार की असुविधाओं को कृपापूर्वक दूरकर उसकी रक्षा करते हैं, उसे दर्शन देते हैं ।

भोगी व्यक्ति को भोक्ता भगवान का दर्शन नहीं होता है । भक्त-गुरु की कृपा से जब वह अपने को कृष्ण-भोग्य जान पाता है और कृष्णसेवा और कार्ष्णसेवा को अपना जीवन बना लेता है, तभी भगवत् कृपा से उसे भगवद् दर्शन होता है ।

त्यागी ने संसार त्याग के साथ भगवान का भी त्याग किया है, इसीलिए उसे भगवद् दर्शन नहीं होता । केवल भक्त ही गुरुकृपा प्रदत्त भक्तिरूपी चक्षुओं से भगवान का दर्शन करते हैं ।

366 **प्र०-हमारी रक्षा कैसे होगी ?**

उ०-जो सब समय भगवान की कथाओं की विवेचना करते हैं, जो सम्पूर्णरूप से भगवान के ऊपर निर्भर हैं, उनके श्रीचरणकमलों में शरण ग्रहण करना ही हमारे लिए रक्षा प्राप्ति का एकमात्र उपाय है । वे पतितपावन हैं, दीनबन्धु हैं । उनके शरणापन्न होने पर वे अवश्य ही हमारी रक्षा करेंगे ।

367 **प्र०-हमें भगवान की अनुभूति कैसे होगी ?**

उ०-श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है-**कृष्णसेवा, कार्ष्णसेवा (कृष्णभक्तों की सेवा) और नामकीर्तन-जीव के तीन ही कृत्य हैं** । जिस वस्तु की सेवा की जाय, वे ही नित्य सेव्य हैं और जो सेवा करते हैं, वे सेवक हैं । अतः सेवक की वृत्ति ही सेवा या भक्ति है । भगवान भजनीय वस्तु हैं, भजनकारी भक्त हैं तथा भजन की वृत्ति ही भक्ति है । ये तीनों ही नित्य हैं । ये तीनों ही काल के द्वारा क्षुब्ध होने वाली वस्तुएँ नहीं हैं, पाँचभौतिक वस्तुओं की भाँति जन्म-स्थिति-प्रलय के अधीन नहीं हैं । भगवान की सेवा के लिए अविमिश्रा चेष्टा न करने तक इन तीनों की उपलब्धि नहीं हो सकती । मिश्रा चेष्टा अर्थात् भक्ति के अतिरिक्त ज्ञान-कर्म आदि की चेष्टा से भगवद्वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती ।

यदि हम श्रेयःपथ का वरण न करें, सर्वक्षण भगवान की सेवा में ही व्यस्त न रहें, तो हम प्रेयपथ को ही श्रेष्ठ मानकर नरक के मार्ग में ही धावित होंगे । हम संसार के निकट कपटतापूर्वक कह रहे हैं कि हम विष्णु के उपासक

हैं – कृष्ण के दास हैं, किन्तु वास्तव में हम इन्द्रियों के ही दास हैं, स्त्री – पुत्र – कन्या आदि के ही दास हैं, अकर्मी या भोगी हैं । जब तक जीवों की भगवान के प्रति शुद्धा, अविमिश्रा या निष्काम सेवावृत्ति उदित नहीं होती, तब तक भगवान के विषय में हमें लेशमात्र भी ज्ञान नहीं हुआ है, ऐसा जान लेना चाहिए । हमारे हृदय में श्रीगौरसुन्दर की कृपा प्रविष्ट न होने के कारण ही हमारी ऐसी दुरवस्था हो रही है – हमारे हृदय में इतनी दुर्वासनाएँ जग रही हैं ।

जब तक हमें इसकी उपलब्धि नहीं हो जाती कि कृष्णसेवा तथा कार्ष्णसेवा हमारे लिए एकमात्र कृत्य है, तबतक हम वञ्चित ही रहेंगे । अपनी दुर्बुद्धि से हम कब छुटकारा पा सकते हैं ? जब हम निष्कपट होकर कार्ष्ण (कृष्णभक्तों) की शरण ग्रहण करेंगे ।

जो निरन्तर भगवान की उपासना करते हैं, उनके आश्रय में ही, उनके हाथ से ही खुले चक्षुओं के द्वारा हमें भगवान का दर्शन सम्भव है । यदि नाटक में नारद के रूप में सजे व्यक्ति को ही असली नारद मान लें, यदि चूने के पानी को दूध मान लें, तो हम ठगे जायेंगे । जो सब समय भगवान की सेवा की ही चेष्टा करते हैं, जो पग – पग पर सम्पूर्णरूप से भगवान की सेवा करते हैं, ऐसे किसी महापुरुष की सेवा ही हमें शुद्ध कृष्णभजन प्रदान कर सकती है तथा हमें भगवान की अनुभूति प्रदान कर सकती है ।

जब तक हम मनोधर्म के द्वारा चालित होकर जड़ रूप – रस से आच्छन्न होकर इन्द्रियतर्पण में ही व्यस्त हैं, तब तक भगवान उपलब्धि नहीं हो सकती । कृष्ण, भक्त की अपनी सम्पत्ति हैं । अतः भक्त ही कृष्ण को दे सकते हैं । भोगों में उन्मुख चित्त में भगवान की अनुभूति नहीं हो सकती । केवल सेवोन्मुख चित्त में ही कृष्ण की अनुभूति सम्भव है । अपने को भगवान का सेवक मानकर सब समय उनकी सेवा करते – करते ही सेव्य की अनुभूति या प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त हो सकता है । भक्तिपथ में या सेवापथ में ही सेव्य भगवान का दर्शन सम्भव है, अन्य किसी उपाय से नहीं ।

368 **प्र० – कृष्ण – प्राप्ति का अर्थ क्या है ?**

उ० – कृष्ण – प्राप्ति का तात्पर्य इस जड़ जगत से सम्पूर्णरूप से विरक्त हो जाना है । मुक्त होने के बाद हृदय में कृष्ण का दर्शन ही कृष्ण – प्राप्ति है । जितनी भी प्राप्त करने की वस्तुएँ हैं, उनमें से कृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ एवं अन्तिम प्राप्ति की वस्तु हैं । प्रेम के द्वारा ही कृष्ण की प्राप्ति होती है । बिना प्रेम नाहिं

मिलें नन्दलाला ।

369 **प्र० – कृष्ण का आविर्भाव क्या है ?**

उ० – प्रत्येक जीव के हृदय में जो शुद्ध चेतन का भाव है, उसमें पूर्णचेतन का पूर्ण प्रकाश ही कृष्ण का आविर्भाव है । शुद्धचित्त में कृष्ण का उदय ही कृष्ण का जन्म है । वर्तमान समय में हम लोग जड़ विषयों में अभिनिविष्ट हैं । यदि हम किसी प्रकार से उस जड़भाव को, कर्ताभिमान को या विषयासक्ति को दूर कर सकें, तभी हमारी नाप लेने की बुद्धि या संसार से छुट्टी हो सकती है ।

370 **प्र० – क्या भगवान अचिन्त्य वस्तु हैं ?**

उ० – यह बात सत्य है कि भगवान श्रीकृष्ण अचिन्त्य हैं, किन्तु वे केवल अचिन्त्य नहीं हैं, सेवोन्मुख चिन्त्य हैं । श्रीकृष्ण निर्गुण होने पर भी गुणात्मा हैं, समस्त कल्याणमय गुणों के सागर हैं । वे एक ही साथ चिद्-गुणों से गुणी हैं तथा मायिक गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण हैं । उनमें समस्त गुण हैं । वे ही सम्पूर्ण जगत के आधार हैं । जगत उनकी मूर्ति नहीं है, बल्कि जगत के भीतर मूर्तिमान वे ही हैं ।

इन्द्रियज्ञान के द्वारा जिस किसी भी वस्तु की उपलब्धि होती है, वह भोग की वस्तु है । जगत कृष्ण नहीं है, बल्कि कृष्ण जगत के आधार हैं । जबतक हम उन्हें प्रणाम नहीं करेंगे अर्थात् जब तक हम अपना अहंकार का परित्याग नहीं करेंगे, तब तक हम उनके पास नहीं जा सकते । श्रीहरि ब्रह्मवस्तु हैं । वे कोई सीमा-विशिष्ट वस्तु नहीं हैं । अतः हम उन्हें माप या भाग करके ले नहीं सकते ।

371 **प्र० – हम हरिकथा कहाँ सुनेंगे ?**

उ० – हरिभक्तों के मुख से ही हरिकथा सुननी चाहिए । जो सब समय भगवान की सेवा करते हैं, उन साधुओं के श्रीमुख से भगवान की वीर्यवती कथाओं को सुनते-सुनते हम भगवान की शक्ति या उनकी महिमा को जान सकते हैं । हृदय देकर तेजस्वी साधुओं के मुख से हरिकथा श्रवण करने से हमारे मन में भी दृढ़ता आयेगी । जिससे हम क्रमशः श्रद्धा, रति और प्रेमभक्ति प्राप्तकर कृतार्थ हो सकते हैं । तब बाह्य जगत की शक्ति हमें पराजित नहीं कर सकती ।

372 **प्र० – असली साधु कौन है ?**

उ० – बड़ी-बड़ी जटाओं को धारण करने से, त्यागी सजने से या बहुत

बड़ा गृहस्थ बनने से ही किसी को साधु नहीं कहा जा सकता । सब समय भगवान की कथाओं में निरत रहने वाले व्यक्ति का नाम ही साधु है । जो नित्यकाल सब समय भगवान के लिए ही चेष्टा करते हैं, जिनकी समस्त चेष्टाएँ ही कृष्णके लिए होती हैं, वे ही असली साधु हैं । हरिकथा किसे कहते हैं ? जिससे भगवान को सुख होता है, ऐसी कथाओं का नाम ही हरिकथा है । ऐसी हरिकथा ही जिनका जीवन है, जो हरिकथा छोड़कर रह नहीं सकते, वे ही साधु हैं । जिसकी कथा कृष्ण को सुख प्रदान करती है, कृष्ण के सुख के लिए ही जो हरिकथा कहते हैं, जिनके हृदय में कर्ता अभिमान या वक्ता अभिमान नहीं है, जिनके हृदय में कृष्णदास का अभिमान होता है, ऐसे कृष्णसेवा में रत भक्त ही साधु हैं । कर्मी, ज्ञानी या योगी कोई भी साधु नहीं हैं । केवल निष्काम भक्त ही साधु है ।

373 **प्र०–क्या भक्तों का देह भगवान का मन्दिर है ?**

उ०–जीवों का देह भगवद् मन्दिर है, चेतनमय मन्दिर है । ईंट, पत्थर, लकड़ी के द्वारा बनाये गये मन्दिर में लेप्या, लेख्या आदि अर्चा विग्रह रखे जाते हैं, परन्तु भगवान के भक्तों के चिन्मयदेह रूपी मन्दिर में श्रीभगवान नित्य विराजमान रहते हैं । भक्तों का महाप्रसाद ग्रहण करना भी भगवान के मन्दिर की रक्षा की चेष्टामात्र है ।

374 **प्र०–भागवत–पाठ कौन कर सकता है ?**

उ०–श्रीमद्भागवत की सेवा ही जिसका एकमात्र कार्य या जीवन है, वे प्रतिपग में प्रतिग्रास में, प्रत्येक श्वास में हरिसेवा करते हैं । श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवद्–वस्तु नहीं है, बल्कि सेवा की वस्तु है–उपास्य वस्तु है । इसलिए वेतन लेकर पाठ करने वाले या ठेका लेकर कभी भी भागवत–पाठ नहीं कर सकते । अतएव सब समय ध्यान रखना चाहिए कि भागवत पाठक २४ घण्टे ही निष्कपट रूप से भगवान की सेवा में लगे रहते हैं या अन्य कार्य करते हैं । A stipend holder or a contractor can not explain bhagavat. First of all refrain from approaching the professional priest. See whether he devotes his timefully to the Bhagavator not.

पुराणतीर्थ होने से ही भागवत पाठ नहीं किया जा सकता । **'भक्त्या भागवतं ग्राह्यं न बुद्धया न च टीकया ।'** अर्थात् केवल भक्ति के द्वारा ही

भागवत का पाठ किया जा सकता है, बुद्धि या टीकाओं के द्वारा नहीं । जो भागवत पाठ करेगा, वह स्वयं भी भागवत होना चाहिए । धन का लोभ, प्रतिष्ठा का लोभ या किसी प्रकार का जागतिक आकर्षण होने पर वह भागवत-पाठक होने पर भी भागवत बहुत दूर होते हैं । उसके मुख से भागवत सुनकर भागवत के वास्तव सत्यवस्तु भगवान के प्रति लोगों का चित्त आकृष्ट नहीं हो सकता ।

जो स्वयं भागवत नहीं है, जिसका जीवन भागवत की शिक्षाओं से गठित नहीं है, उसके मुख से श्रीमद्भागवत का पाठ नहीं हो सकता । क्योंकि वह व्यक्ति स्वयं ही वञ्चित है, इसीलिए भागवत-पाठ का अभिनय करने पर भी वह दूसरों की वञ्चना ही करता है ।

स्कूल-कालेजों के शिक्षक या अध्यापकों के साथ जैसा सम्बन्ध होता है, भागवत-पाठक के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं होता । जो अध्यापक छात्रों को अच्छी प्रकार से समझा सकते हैं, वे उत्तम अध्यापक कहे जाते हैं । उनका जीवन कैसा भी क्यों न हो, इससे कुछ आता-जाता नहीं । परन्तु भागवत-पाठक के लिए ऐसा विचार नहीं है । भागवत-पाठक आचारवान् प्रचारक होंगे । शास्त्रों में ऐसा ही वर्णन है-

आपनि आचरि धर्म जीवेर सिखाय ।
आपने ना कैले धर्म शिखान ना जाय ।।

(चैतन्यचरितामृत)

अर्थात् जो आचार्य होता है, वह स्वयं ही आचरणकर जीवों को सिखाता है । क्योंकि स्वयं आचरण न करने पर किसी को सिखाया नहीं जा सकता । जिसका चरित्र खराब है, जिसके हृदय में काम प्रबल है, जिसके हृदय में प्रतिष्ठा या धन की कामना है, वह कभी भी श्रीमद्भागवत का पाठ नहीं करता । श्रीमद्भागवत पाठ के छल से वह केवल इन्द्रिय-तर्पण ही करता है ।

375 **प्र०-कैसे गुरु का आश्रय ग्रहण करना चाहिए ?**

उ०-जो गुरुदेव सब समय हरिभजन करते हैं, सौभाग्यवान होने पर ही ऐसे गुरु का चरणाश्रय प्राप्त होता है । हमें ऐसे गुरु का चरणाश्रय करना चाहिए, जो शत प्रतिशत भाग ही भगवान की सेवा में नियुक्त हैं, अन्यथा हम उसके आदर्श के अनुसार शत प्रतिशत भगवान की सेवा में रत नहीं रह सकते ।

अनाचारी वाक्यसार वक्ता (Platform speaker) अथवा व्यवसायी पुरोहित (Professional priest) गुरु नहीं हो सकते । दुर्भाग्यवशतः ऐसा

गुरु प्राप्त होने पर भी हरिभजन नहीं होगा, उनसे हमारा मंगल नहीं होगा। गुरु निष्काम, जितेन्द्रिय, शास्त्रज्ञ तथा भगवान की अनुभूति सम्पन्न होना चाहिए। शास्त्र कह रहे हैं-

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेयः उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥
(श्रीमद्० ११/३/२१)

376 **प्र०-प्रेयःपन्थी एवं श्रेयःपन्थी के विचारों में क्या पार्थक्य है ?**

उ०-श्रेयः कथा (आत्मकल्याण सम्बन्धी कथाएँ) अनेक समय प्रेयः (विषयभोग सम्बन्धी कथाओं) की भाँति हृत्कर्णरसायन नहीं भी हो सकती अर्थात् केवल हृदय एवं मन को अच्छी नहीं भी लग सकती, किन्तु प्रेयः कथा सर्वदा ही हृत्कर्णरसायन होगी ही। श्रोता अनेक समय सोचता है कि मुझे जैसा अच्छा लगता है, वक्ता के मुख से वैसा ही निकले। किन्तु श्रेयःपन्थी (आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति) सोचते हैं कि इस समय अरुचिकर होने पर भी निरपेक्ष सत्य कथाओं का मुझे श्रवण करना चाहिए।

प्रेयःपन्थी सर्वदा ही स्वसुख अन्वेषण में ही व्यस्त रहते हैं, किन्तु श्रेयःपन्थी सब समय कृष्ण को सुखी करने की चेष्टा में ही तत्पर रहते हैं। प्रेयःपन्थी श्रीव्यासदेव का अनुसरण नहीं करते। किन्तु श्रेयःपन्थी महाजनों के द्वारा प्रदर्शित पथ का ही अवलम्बन करते हैं-महाजनो येन गतः स पन्थाः अर्थात् उनका विचार होता है कि महाजनों का जो मत है, वही मत सार है। श्रेयःपन्थी श्रौतपन्थी या अवरोहवादी हैं, किन्तु प्रेयःपन्थी लोग अश्रौतपन्थी या आरोहवादी हैं।

377 **प्र०-असली परोपकार क्या है।**

उ०-अनन्त कोटि जीव विष्णु विमुख होकर अनन्त कोटि रूपों में विष्णु से विद्वेष करने के कारण ही इस जेलखाने में या महामाया के दुर्ग में आ गिरे हैं। इनमें से यदि एक व्यक्ति को भी बचाया जा सके अर्थात् एक व्यक्ति को भी यदि कृष्ण के प्रति उन्मुख कर सकें, तो अनन्त कोटि अस्पताल एवं विद्यालय आदि स्थापन करने की अपेक्षा अनन्त परोपकार का कार्य होगा। मैं यदि भारतवर्ष का अधिवासी हूँ, तो कार्यतः मेरे अनित्य अभिमान से भारतवर्ष का interest (स्वार्थ) देखना मेरा कर्तव्य है, किन्तु यदि मैं विदेश में जन्म ग्रहण करूँ, तो भारतवर्ष के विरुद्ध होने पर भी वहाँ के interest में कार्य करना

ही मेरा कर्तव्य हो जायेगा । श्रीचैतन्यदेव या उनके भक्तों की ऐसी देशगत, कालगत, पात्रगत अचैतन्यप्रसूत क्षुद्र साम्प्रदायिकता नहीं है । वे लोग देश का जो उपकार करते हैं, देशभक्ति का जो आदर्श दिखाते हैं, उससे एक व्यक्ति का (परिणाम में अकल्याणकारी) सामयिक उपकार एवं दूसरे व्यक्ति का अपकार या हिंसा नहीं होतीहै । उस उपकार का या उस देशसेवा का फल - समग्र देश, समग्र पात्र तथा समग्र काल प्राप्त कर सकते हैं । यह केवल कहने की ही बात नहीं है, बल्कि यही सबसे बड़ी सत्य बात है ।

Flatterer (खुशामदकारी) असली शिक्षक नहीं हैं । वे गुरु नहीं हैं, प्रचारक नहीं हैं, शिक्षक नहीं हैं । जो प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए या अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए जगत के अनन्त कोटि रोगियों की रुचि के अनुसार ही बोलते हैं या प्रेयः के मत के अनुसार ही मत दिया करते हैं, वे लोग शुभानुध्यायी नहीं हैं, बल्कि शुभानुध्यायी के विरुद्ध मतावलम्बी हैं । ऐसे लोगों से कथा नहीं सुननी चाहिए । इससे अपना एवं दूसरों का अकल्याण ही होता है, सर्वनाश होता है ।

378 **प्र० – क्या मन विश्वासघातक है ?**

उ० - अवश्य ही । अवसर पाते ही यह हमारा सर्वनाश कर देगा । इस पागल मन या बदमाश मन की काम - क्रोध आदि की दासता करने की बहुत रुचि होती है । जगतवासियों को काम - क्रोध आदि की सेवा में या माया की सेवा में नियुक्त करने के लिए यह बदमाश मन उपदेष्टा का आसन ग्रहण कर लेता है । यह बहिर्मुख मन हरि - गुरु - वैष्णवों के प्रति विद्वेष करवाने के लिए सर्वदा ही व्यस्त रहता है । इसलिए हमें मन की बात न सुनकर साधु - गुरु - शास्त्रों की ही बात सुननी चाहिए ।

379 **प्र० – सत्यकथा सब लोग क्यों नहीं सुनते ?**

उ० - यह बात बिल्कुल सत्य है कि जगत में बहुत से लोग सत्यकथा को ग्रहण नहीं करते, क्योंकि सत्यकथा प्रेयः नहीं, श्रेयः है । कितने ही लोग धर्मवीर, कर्मवीर का नाम लेकर जगत के लोगों का सिर खा गये हैं, इसलिए उन्हें समझाने के लिए हमें शत - शत गैलन रक्त खर्च करना पड़ रहा है । तथापि असली सत्य बात को बहुत ही कम लोग धारण कर पा रहे हैं । अच्छे संस्कार न रहने पर या अच्छा भाग्य न रहने पर सत्यकथा - कृष्ण की कथा सुनने की इच्छा नहीं जाग सकती । श्रेयः एवं प्रेयः - ये दोनों ही चीजें मनुष्य को आश्रय

करके रहती हैं । किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति या सज्जन लोग इन दोनों ही वस्तुओं के तत्त्व को जानकर यह विचार करते हैं कि श्रेय: ही मुक्ति का कारण तथा प्रेय: बन्धन का कारण है । भाग्यशाली व्यक्ति ही प्रेय: को छोड़कर श्रेय: का आश्रय ग्रहण करते हैं । विवेकहीन अल्पबुद्धि सम्पन्न व्यक्ति योग अर्थात् अलब्ध वस्तु की प्राप्ति एवं क्षेम अर्थात् लब्ध वस्तुओं की रक्षा के लिए ही प्रार्थना करते हैं । शास्त्र कहते हैं - श्रेय: कथा सुनने वाले लोग बहुत ही कम मिलेंगे । यदि दो - चार लोग मिल भी जाएँ, तो सुनकर भी अनेक लोग उसकी उपलब्धि नहीं कर सकते ।

श्रेय: विषय के तत्त्वविद् निपुण वक्ता जगत में अति दुर्लभ हैं । और यदि भगवान की कृपा से ऐसे उपदेष्टा प्राप्त हो भी जाएँ, तो ऐसे आचार्य के अनुगत श्रोता और भी दुर्लभ हैं । जो निरपेक्ष नहीं हैं, ऐसे अनन्त कोटि वक्ता नरक में चले जाएँगे, निर्भीक होकर जो निरपेक्ष सत्यकथा बोली जाती है, सैकड़ों जन्मों या सैकड़ों युगों के बाद भी कोई न कोई उस सत्यकथा को अवश्य ही समझ पायेगा । बहुत कष्ट से अर्जित सैकड़ों गैलन रक्त खर्च किये बिना एक व्यक्ति को भी सत्यकथा समझायी नहीं जा सकती ।

380 **प्र० - क्या श्रीचैतन्यदेव केवल बंगालियों के ही ठाकुर हैं ?**

उ० - श्रीकृष्णचैतन्यदेव साक्षात् भगवान हैं । वे सम्पूर्ण जगत के ईश्वर हैं । नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ही श्रीचैतन्यदेव के रूप में जगत - कल्याण के लिए अवतीर्ण हुए । अत: वे समस्त जगतवासियों के ही उपास्य हैं, इस विषय में अधिक क्या कहा जाय । इसीलिए कहता हूँ कि श्रीचैतन्यदेव केवल बंगालियों के ही ठाकुर नहीं हैं, वे मनुष्यमात्र के ही ठाकुर हैं - विश्वब्रह्माण्डवासी समस्त जीवों के ठाकुर हैं । यहाँ तक कि वे ब्रह्मा - शिव आदि देवताओं के भी ठाकुर हैं । वे परम पुरुषोत्तम, परमेश्वर वस्तु हैं ।

381 **प्र० - परमार्थ जगत में किसे सफलता प्राप्त होती है ?**

उ० - भगवान् के अतिरिक्त और दूसरी वस्तु नहीं है । जो ऐसा विचार करते हैं कि भगवान के अतिरिक्त दूसरी वस्तु भी है, उनका विचार खण्डितधर्म से युक्त है ।'सदेव सौम्येमिदमग्रमासीत् एकमेवाद्वितीयम्' - इस वाक्य के अनुसार वस्तु दस - पाँच नहीं हैं, केवल एक ही है । Absolute Truth is only one without a second. जो सोचते हैं - Absolute Truth challangeable, वे सफल नहीं होते, किन्तु हम Personal Godhead

के उपासक हैं । हम Impersonality के उपासक नहीं हैं । ऐसे भगवान के शरणागत हमारी सफलता अनिवार्य है । सविशेष विष्णुवस्तु के उपासक लोग विषयविग्रह ब्रजेन्द्रनन्दन को धारण कर सकते हैं - 'सद्यो हृद्यवरुध्यते' श्रीमद्भागवत का यह श्लोक ही इसका प्रमाण है । वे स्वयं भक्तिधर्म का आचरण कर जीवों को सिखाते हैं । वे ही इसका अनुभव कर सकते हैं । आचार्यवान् पुरुषो वेद - यह उपनिषद मन्त्र इसी का गान कर रहा है । विषयविग्रह श्रीकृष्ण एवं आश्रयविग्रह मेरे श्रीगुरुपादपद्म - इन दोनों के आश्रय में एवं इनके आशीर्वाद से असंख्य विपदाओं के मस्तक पर पैर रखकर चलें तो हम अवश्य ही सफल हो सकेंगे । श्रीगुरुपादपद्म के आश्रित सेवक लोग कभी भी विफल - मनोरथ नहीं हो सकते ।

अभक्त - सम्प्रदाय अवश्य ही काल के प्रभाव से पतित हो जाते हैं, किन्तु भगवान के भक्तों का कभी भी पतन नहीं हो सकता । अभक्तलोग ही पतित होते हैं और जहाँ पर कपटभक्ति होती है, वे सब ढोंगियों का दल भी पतित हो जाता है । इसके अतिरिक्त मनोधर्मी (Mental Speculationists) भी पतित हो जाते हैं ।

382 **प्र० - हमें कृष्ण का दर्शन क्यों नहीं हो रहा है ?**

उ० - गुरुपादपद्म का दर्शन न होने से कृष्णदर्शन या कृष्णसेवा नहीं हो सकती । गुरु के मुख से उत्तम रूप में हरिकथा श्रवण नहीं करने के कारण हमें कृष्ण का दर्शन नहीं हो रहा है । श्रवण ठीक होने से कीर्तन भी ठीक होगा, कीर्तन ठीक होने से अच्छी प्रकार से स्मरण या कृष्ण की स्फूर्ति होगी । हमें गुरु के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण करना होगा । क्योंकि कृष्ण ही आश्रयविग्रह होकर सौभाग्यवान् जीवों के निकट गुरुरूप में प्रकट होते हैं । इसलिए हमें सर्वप्रथम गुरु के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करना होगा । अर्थात् सर्वप्रथम हमें लघु होना होगा । इसका नाम ही आश्रय है । आश्रय तो ग्रहण करना ही होगा । किन्तु यदि मैं आश्रय ग्रहण न करूँ तो क्या होगा ? भगवान की इच्छा से ही सद्गुरु की प्राप्ति होती है । भगवान की दया पाने से ही सब हो जायेगा । उनकी दया न होने पर सैकड़ों चेष्टाएँ करने पर भी कुछ नहीं होगा । उनकी दया ही मुख्य वस्तु है । यदि हृदय में निष्कपट आर्ति हो, यदि हम वास्तव में केवल उन्हें ही चाहें, तो निश्चित ही हमें उनकी दया प्राप्त होगी । भाग्यक्रम से ही सद्गुरु की प्राप्ति होने पर, वे किस प्रकार से समस्त इन्द्रियों से कृष्ण की

सेवा करते हैं, यह देखना होगा, तभी हमारे लिए सुविधा होगी । श्रीगुरुदेव के मुख से उपदेश श्रवण करने पर भी यदि जीव उन उपदेशों का अपने जीवन में यथायथ पालन न करे तो वह विषय-भोग के अतिरिक्त और क्या करेगा ? जागतिक विषयों में अधिक आसक्त हो जाने पर श्रवण नहीं होगा और श्रवण उत्तम रूप से न होने पर मंगल भी नहीं होगा ।

383 **प्र०-क्या गुरुदर्शन होने के बाद भी लघुदर्शन रहता है ?**

उ०-कभी नहीं । गुरु या श्रेष्ठ अभिमान हो जाय तो फिर गुरुदर्शन नहीं हो सकता । ऐसी अवस्था में लघु होने पर भी जीव की गुरु होने की इच्छा हो जायेगी । उसके फल से गुरुदर्शन के बदले योषित्-दर्शन या भोग्यदर्शन प्रबल हो जाने के कारण जीव का सर्वनाश हो जायेगा ।

गुरुदर्शन होने पर सर्वत्र ही गुरुदर्शन होगा, उस समय और लघुदर्शन नहीं रहेगा । जिस प्रकार आँखों में नीला चश्मा लगाने से सब कुछ नीला ही दिखाई देता है, ठीक उसी प्रकार गुरुदर्शन, दिव्यज्ञान हो जाने पर सभी के प्रति पूज्यबुद्धि, गुरुबुद्धि या गुरुज्ञान होगा । यह जगत् जगदीश की सेवा का उपकरण या जगदीश का सेवक है । अतः मेरे लिए यह जगत् गुरु या पूज्य है । गुरुदर्शन प्रबल होने पर कृष्णदर्शन सहज ही हो जायेगा ।

पिता की भोग्या जननी जैसे मेरे लिए सेव्य होती है, उसी प्रकार जगत्पिता जगदीश्वर का भोग्य या सेवक यह जगत मेरे लिए पूज्य, सेव्य अर्थात् गुरु है ।

यदि कोई वास्तव में गुरुपदाश्रय करता है, और प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा करता है, तो वह निश्चितरूप में कृष्णसेवा या कृष्ण के विषय में दिव्यज्ञान या दीक्षा प्राप्त करेगा ।

जिस कार्य को करने से विषयी एवं योषित् (स्त्री) को और न देखना पड़े, ऐसा ही कार्य करना होगा । तब कृष्णयोषित् के प्रति परमपूज्या गुरुज्ञान किया जा सकता है । तब 'मैं योषित् का भोक्ता हूँ' ऐसी दृष्टि दूर होने पर भगवान् के प्रति सेवावृत्ति उदित होगी । तभी कृष्ण का सम्पूर्णरूप से दर्शन होगा तथा तभी मैं योषित् का पति हूँ, ऐसा विचार पूर्णरूप से दूर हो जायेगा । गुरुपादपद्म का दर्शन करने के बाद भी यदि फिर से योषित् का दर्शन हो, तो समझ लेना चाहिए कि पतन हो गया । तभी गुरु सजने की दुर्बुद्धि हो जायेगी एवं साधक का सर्वनाश हो जायेगा । इसीलिए कहता हूँ कि जो अपना मंगल

चाहते हैं, वे दृढ़भाव से श्रीकृष्ण के पादपद्मों का आश्रय ग्रहण करें एवं प्राण देकर गुरुसेवा करें तो उनका मंगल अवश्य ही होगा । गुरुनिष्ठ भक्त का कभी भी पतन नहीं होता । गुरुनिष्ठ भक्त कृष्ण के पादपद्मों में पहुँचेंगे ही ।

384 **प्र० – गृहस्थ का क्या कर्तव्य है ?**

उ० – गृहस्थ भक्त लोग भगवान के सुख के लिए ही साधु – गुरुओं का संग एवं उनकी सेवा, आदर और प्रीतिपूर्वक करेंगे । तभी पारमार्थिक गृहस्थ होने की योग्यता प्राप्त होगी । गृहस्थ भक्त यदि भक्त – भागवत एवं ग्रन्थ – भागवत – इन दोनों भागवतों की सेवा संग या आलोचना न करें, तो उनका मंगल हो ही नहीं सकता । मैं सम्पूर्णरूप से कृष्णसेवा करूँगा – ऐसा संकल्प लेकर घर में रहना ही मंगलजनक है, अन्यथा हरिसेवा – विहीन गृह तो नरक का द्वार स्वरूप है । हरिभजन के अनुकूल संसार होने पर ही गृहस्थ आश्रम ग्रहणीय एवं प्रशंसनीय है और यदि प्रतिकूल संसार हो, तो गृह अन्धकूप के समान परित्यज्य है । सेवापरायण पारमार्थिक व्यक्ति के गृहवास एवं मठवास में कोई भेद नहीं है । किन्तु गृह के प्रति आसक्त या गृहव्रती का गृहवास तथा कृष्णभक्तों का गृहवास – इन दोनों प्रकार के गृहवासें को एक नहीं किया जा सकता । जिन्होंने गुरु – कृष्ण को ही अपना जीवन बनाया है, ऐसे शुद्धभक्तों का संग तथा उनकी सेवा के फल से ही गृहासक्ति या गृहव्रतधर्म नष्ट हो सकता है । निष्कपटरूप से गुरुसेवा के अतिरिक्त गृहासक्ति के हाथ से मुक्ति पाने का और कोई उपाय नहीं है । गुरु के आनुगत्य में कृष्णसेवा करने के लिए ही गृह में रहना होगा । अत्याहार, प्रयास, प्रजल्प नियमाग्रह, जनसंग तथा लौल्य से पारमार्थिक गण सर्वदा दूर ही रहेंगे । गृहस्थ के भजन में उत्साह, दृढ़ता, निश्चयता, धैर्य, हरिकथा – श्रवण – कीर्तन में रुचि या यत्न एवं गुरुकृष्ण की सेवा में निष्ठा अवश्य ही रहेगी ।

अवैध स्त्रीसंग, अपनी स्त्री के प्रति अत्यन्त आसक्ति या स्त्रैणभाव और दुःसंग त्याग करना एवं वाक्य, मन, क्रोध जिहा, उदर एवं उपस्थ के वेग को दूर करना पारमार्थिक गृहस्थ का कर्तव्यहै ।

गृहस्थभक्त पाप कार्य तो करेंगे ही नहीं, यहाँ तक कि भक्तिबाधक पुण्यकर्मों से भी सावधान रहेंगे । क्योंकि पापकार्य करेंगे, तो हरिभजन नहीं होगा और यदि पुण्यसंग्रह करने की इच्छा हुई, तो भी हरिभजन नहीं होगा । इसका ध्यान रखना चाहिए कि गृहस्थभक्त कहीं नाम – भजन का अभिनय दिखाकर

हरि-गुरु-वैष्णवों की सेवा से उदासीन न हो जाएँ । क्योंकि गृहस्थभक्त के लिए यह शठता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । ऐसा करने से वे क्रमशः संसार में ही आसक्त हो जायेंगे । गुरु-कृष्ण की सेवा न करने पर जीवों की भगवान के प्रति प्रीति नहीं हो सकती । जो सबकुछ त्यागकर सब समय सम्पूर्णरूप से कृष्ण की सेवा में नियुक्त हैं, उनकी भगवान की सेवा में सहायता करने के लिए गृहस्थ भक्त सदैव ही चेष्टा करते रहेंगे ।

385 **प्र०-क्या मठ बनाकर रहना ही हमारा कार्य है ?**

उ०-स्वयं मठ बनाकर आराम से रहने के लिए चेष्टा न कर जीवन्त मठ बनाने के लिए प्रयत्न करना ही बुद्धिमत्ता है । यदि किसी एक श्रद्धालु व्यक्ति को श्रीगुरुदेव के चरणकमलों में आकर्षित किया जा सके, तभी जीवन्त मठ बनाया जा सकता है । गुरु की महिमा और गुरु की सेवा की बात कहकर जीवों को गुरुपादपद्म में आकर्षित करना ही सबसे बड़ा मंगलजनक कार्य है । इसलिए जीवों के कल्याण के लिए गैलन-गैलन रक्त खर्च करने पर गुरु एवं कृष्ण अवश्य ही प्रसन्न होंगे । अतः तन-मन-वचन से ऐसे जगत-मंगलजनक कार्य के व्रती होना ही बुद्धिमत्ता है । इसी में जीवन की सार्थकता भी है ।

हरिकीर्तन से गुञ्जित हरिसेवामय मठ साक्षात् वैकुण्ठ है । इसलिए मठवास ही धामवास है । मठ में हरिकथाओं की आलोचना प्रबल होनी चाहिए। केवल खाने-रहने के लिए ही मठ करने से कोई लाभ नहीं है । हरिकथाओं का प्रचार करने के लिए ही मठ करने की आवश्यकता है । इसी से अपना एवं दूसरों का मंगल होगा ।

गुरुनिष्ठ भक्त ही जीवन्त साधु या Living source हैं । ऐसे जीवन्त साधुओं के पास ही हरिकथा सुननी होगी । तभी हम गुरुदेवतात्मा हो सकते हैं ।

गुरुनिष्ठाहीन या गुरुसेवा से वञ्चित व्यक्ति जीवन्मृत (जीते जी मरा) है । ऐसे अवैष्णव का संग नहीं करना ही उचित है । इससे हमारा अमंगल ही होगा ।

386 **प्र०-क्या गुरुकृपा ही भगवान की कृपा-प्राप्ति का उपाय है ?**

उ०-श्रीगुरुनित्यानन्द की कृपा से ही हम लोग कृष्णनाम, कृष्णमन्त्र और नित्यमंगल का उपदेश प्राप्त कर सकते हैं । श्रीगुरुनित्यानन्द की कृपा के बिना श्रीगौरचन्द्र और श्रीराधागोविन्द की कृपा प्राप्त नहीं हो सकती । हमारे पूर्व

गुरु श्रीनरोत्तम ठाकुर ने ऐसा लिखा है । श्रीगुरुदेव की कृपा से ही जीव के संसार-बन्धन का नाश होता है और उसे प्रेम सम्पत्ति प्राप्त होती है ।

भजनशिक्षादाता नित्यानन्द से अभिन्न श्रीगुरुपादपद्म श्रीगौरांगदेव के अन्तरंग निजजन हैं । ऐसे नित्यानन्द की सेवा आदर एवं प्रीतिपूर्वक करने पर सर्वार्थसिद्धि हो जाती है ।

जिनका हृदय जड़ आसक्तियों से कठोर हो गया है, वे अघदमन श्रीकृष्ण का नाम शुद्धरूप से नहीं ले सकते । किन्तु यदि हम सचमुच ही श्रीगुरुमुख से हरिनाम श्रवण करें, तो नामप्रभु हमें निश्चय ही पागल कर देंगे । श्रीगुरुदेव मेरे दैन्य एवं आर्ति को देखकर मुझ पर अवश्य ही अकपट कृपा करेंगे, तभी मेरे मुख से श्रीहरिकीर्तन प्रबलवेग से बाहर निकलेगा ।

387 **प्र०–प्रभो, क्या आप गुण्डिचा (मन्दिर) जायेंगे ?**

उ०-गुण्डिचा मनुष्य का हृदय है । चित्त दर्पण होने पर ही वह भगवान का वसतिस्थल होता है । आपके विचारों के गुण्डिचा में मेरी जाने की इच्छा नहीं है । क्योंकि मैं अभी तक अपना हृदय मन्दिर मार्जन नहीं कर सका । मेरा पुरुष अभिमान और प्रभुत्व अभिमान प्रबल हो गया है, जिससे मैं हताश हो गया हूँ । मेरा आशाबन्ध कम हो गया है । मुझे Insincere लोगों का संग ही अच्छा लगता है, इसलिए ऐसे लोगों से ही मेरा मिलन होता है । I have no intension to come in contact with Sri Rupa and Sanatan. मैं आदर पूर्वक अपनी विपत्ति को स्वयं ही बुलाता हूँ । इस प्रकार यह देह रहने तक हम असुविधाओं के सागर में ही डूबे रहेंगे । इसलिए हम अनेक समय सोचते हैं कि Let us be metamorphosed into Charvakism. Discomforts (असुविधाएँ) भगवान की कृपा है, इसे हम नहीं समझ पाते । इसीलिए हमारी घर जाने की इच्छा होती है । श्रीकृष्ण के चरणकमल ही हमारा नित्यघर है । कृष्ण-चरणकमलों में ही eternal health of the soul अवस्थित है ।

388 **प्र०–हमारा मंगल कैसे होगा ?**

उ०-विषय-पिपासा या पाप-प्रवृत्ति को आदरपूर्वक ग्रहण नहीं करना चाहिए । पाप-आचरण तो दूर की बात, यहाँ तक कि नैतिक पुण्यमय आचरणों को भी त्यागकर भगवान के शरणागत होकर हरिभजन करने पर मंगल हमारे हाथ में होगा । जगाइ-माधाइ ने श्रीमन्महाप्रभु के चरणकमलों का आश्रय

ग्रहण करने के बाद पुनः पाप नहीं किये । हरिभजन ही परम प्रयोजन है- ऐसे विचारयुक्त व्यक्ति ही दूसरे व्यक्तियों की दुर्गति को समझ सकते हैं ।

हरिभजन करने पर नित्यजीवन प्राप्त होता है । जो हरिभजन करते हैं, वे मरते नहीं हैं । भक्तों के काम, क्रोध आदि शत्रु नहीं रहते । बहिर्मुख जीव रूप-रस-शब्द-गन्ध-स्पर्श आदि के लिए ही लालायित रहते हैं । हरिभजन में प्रवृत्ति रहने पर इन्द्रियों को बलपूर्वक दमन करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती । क्योंकि निष्कपटरूप से हरिभजन आरम्भ होने पर भगवान की कृपा से इन्द्रियों के विषदाँत टूट जाते हैं । मायाबद्ध अतिवृद्ध व्यक्ति का भी विषयों से मोह होता है । किन्तु हरिभजनकारी व्यक्ति के लिए **"विश्वं पूर्णसुखायते"** अर्थात् वे जगत को दुःखपूर्ण नहीं देखते तथा उनके लिए **"विधि महेन्दादिश्च कीटायते"** अर्थात् हरिभक्त इन्द्र होना तो बहुत दूर की बात है, वे चतुर्मुख ब्रह्मा भी होना नहीं चाहते । इस जगत में कोई भी कीट होना नहीं चाहता, किन्तु हरिभजन होने पर कीट होकर रहना भी अच्छा है । श्रीचैतन्यदेव के भक्तों की कृपा होने पर देवताओं का भी मंगल हो जाता है ।

स्वरूपसिद्धि ही आवश्यक है । नहीं तो मृत्यु के समय जागतिक वस्तुओं का चिन्तन करने पर पुनः संसार में आना होगा । भगवान के भक्तों का संग न होने पर हम लोग एक संकीर्ण सम्प्रदाय या दल कर बैठते हैं ।

Individually adjustment with the Absolute person must be sought after.

389 **प्र०- कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड क्या है ?**

उ०- किये गये कर्मों का फल मैं ही पाऊँगा- यही कर्मकाण्ड है तथा कर्म का फल मैं नहीं पाऊँगा तथा ईश्वर भी नहीं पायेंगे- यही ज्ञानकाण्ड है ।

390 **प्र०- भाग्य क्या है ?**

उ०- अनन्तकाल से ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते-करते किसी जीव का संसार क्षयोन्मुख होने पर उस जीव की भक्ति के प्रति अल्पमात्रा में जो रुचि होती है, वही भाग्य है ।

391 **प्र०- कर्मी, ज्ञानी तथा भक्तों के विचार कैसे होते हैं ?**

उ०- कर्मी भोगी होते हैं । ज्ञानी त्यागी या प्रछन्न-भोगी होते हैं तथा भक्त भगवान के सेवक होते हैं ।

शुष्कज्ञानियों की विचारधारा होती है- मैं ब्रह्म के साथ मिलकर एक हो

जाऊँगा, भोग सामग्री जगत को दे जाऊँगा । निर्विशेषवादी ज्ञानियों की चेष्टा सर्वदा ही भगवद् भक्तों, भगवद् भक्ति तथा भगवान के ऊपर आक्रमण करने की ही होती है । ऐसे निर्विशेषवादियों का विचार होता है कि काशी में रहकर जुआ खेलें या कुछ भी करें, मरने पर अवश्य ही हम शिव हो जायेंगे ।

कुकर्मियों की विचारधारा होती है - दूसरों को कष्ट देकर केवल हमलोग ही भोग करेंगे सत्कर्मियों की विचारधारा होती है - पुण्य संग्रह के लिए हमलोग दान, ध्यान, पुण्य और साधुसेवा करेंगे । तथा अपने वंशधर एवं कुटुम्बियों के लिए धन सञ्चय कर जायेंगे । किन्तु भगवान के भक्तों का विचार होता है - जो हरिभजन कर रहे हैं या भविष्य में हरि - गुरु - वैष्णवों की सेवा करेंगे, उनके लिए अर्थादि सञ्चय करेंगे । हरिभजन या हरिसेवा में ही सब धन खर्च हो, यही शुद्धभक्तों की विचारधारा है ।

392 **प्र० – सर्वश्रेष्ठ उपकार क्या है ?**

उ० - कृष्ण में मति हो - ऐसी शुभाकांक्षा या आशीर्वाद जगत के लिए मंगलजनक है । जीव की कृष्ण के प्रति मति लगना ही सर्वश्रेष्ठ उपकार है ।

सबको कृष्ण भक्ति दान करना ही सर्वश्रेष्ठ दान या सबसे बड़ा altruism है ।

भक्तों का चित्त सर्वदा ही ऐसे परोपकार के लिए व्यग्र रहता है । भगवान को जानना ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है । शास्त्र कहते हैं - विद्या भागवतावधि ।

प्रभु कहे – कोन विद्या विद्यामध्ये सार ?
राय कहे – कृष्ण भक्ति बिना विद्या नाहि आर ।।
(चै. च.)

वर्तमान समय में जो Godlesseducation (निरीश्वर शिक्षा) प्रचारित एवं प्रसारित हो रही है, उसके द्वारा जगतवासियों का किसी प्रकार कल्याण नहीं हो रहा है, बल्कि अकल्याण ही हो रहा है और भविष्यमें भी अकल्याण ही होगा ।

श्रीचैतन्यदेव की दया वितरित करने पर ही मनुष्य - जाति का सर्वश्रेष्ठ उपकार होगा ।

393 **प्र० – परिकर – वैशिष्ट्य किसे कहते हैं ?**

उ० - कृष्णचन्द्र के नित्यसिद्ध - पार्षद भक्तवृन्द को ही परिकर वैशिष्ट्य,

विशिष्ट् परिकर या मुख्य परिकर कहते हैं । जो सम्पूर्णरूप से प्रभु का मनोऽभीष्ट पूर्ण करते हैं, वे ही मुख्य परिकर हैं । जो जड़ जगत में रहकर भी श्रीगौरसुन्दर के पादपद्मों का आश्रय ग्रहणकर साधन करते-करते कृष्णभजन में अग्रसर होते हैं, वे गौण परिकर होते हैं । वे भी स्वरूपसिद्धि के बाद वस्तुसिद्धि में साक्षात् परिकर या मुख्य परिकरों के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

394 **प्र०-भगवान् श्रीगुरुगोविन्द क्या निग्रह भी करते हैं ?**

उ०-अधोक्षज वस्तु श्रीगुरुगोविन्द हमारे नित्य प्रभु हैं । प्रभु शब्द का अर्थ है-जो हमें निग्रह एवं अनुग्रह करने में समर्थ हैं । 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तु समर्थः ईश्वरः ।' प्रभु केवल अनुग्रह ही करते हैं निग्रह नहीं करते, ऐसी बात नहीं है । वे निग्रह भी कर सकते हैं । जो भगवान् से विमुख हैं, वे दाम्भिक हैं । ऐसे लोगों पर निग्रहकर उनका संशोधन करने के लिए ही भगवान् का अवतार होता है । परन्तु अनुग्रह एवं निग्रह दोनों ही दयामय की दया है । परन्तु उनमें से एक (निग्रह) गौण दया है और दूसरी मुख्य दया है ।

बद्ध, विमुख, धृष्ट जीव भगवान के निग्रह के योग्य हैं और कृष्णोन्मुख जीव भगवान के अनुग्रह के पात्र हैं । सरल-चित्त दीन-हीन साधक भक्तों का चित्त दुर्बल होने पर भी वे भगवान के अनुग्रह के पात्र हैं, किन्तु कुटिल चित्तवाले अहंकारी व्यक्ति कपटी होने के कारण निग्रह के योग्य हैं ।

इस जड़ जगत में नित्यत्व एवं नित्य आनन्द का अभाव है । यहाँ पर केवल अमंगल एवं निरानन्द ही है । यहाँ पर देखा जाता है कि अभी आकाश साफ है, अगले ही क्षण मेघों से ढक जाता है । तत्पश्चात् वर्षा, आँधी-तुफान आदि होने लगता है । किन्तु वैकुण्ठ में ऐसे निग्रह का कोई भी कार्य नहीं है, वहाँ पर केवल नित्य एवं पूर्ण आनन्द विराजमान है ।

395 **प्र०-हम संसार से कैसे बच सकते हैं ?**

उ०-वर्तमान समय में हमलोग विपत्ति में पड़े हुए हैं । बद्धावस्था में हम २४ घण्टे केवल अपने अभावों को दूर करने तथा इन्द्रियतर्पण की चेष्टा में ही व्यस्त हैं । जड़ इन्द्रियों के द्वारा अपने सुख की प्राप्ति के लिए जो चेष्टा होती है, उसका परिणाम केवल मृत्यु ही है । इस संसाररूप मृत्यु से बचकर हरिभजन करने के लिए श्रीगुरुपादपद्म का आश्रय करना ही सबका कर्तव्य है । गुरुपदाश्रय करके दीक्षा आदि ग्रहणरूप कार्य ही भक्तिराज्य में प्रवेश का द्वार है । हमें महाजनों का अनुसरण करते हुए भक्तिराज्य में अग्रसर होना होगा ।

जिस प्रकार बलिराजा ने सर्वस्व समर्पण कर भगवान की सेवा की थी, उसी प्रकार उनका अनुसरण करते हुए हमें भी श्रीगुरुगौरांग के पादपद्मों में सर्वस्व समर्पण कर नित्यकाल शरणागत होना होगा । शरणागत होकर आदर एवं प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा तथा नामसेवा करने पर ही संसार से हमारा उद्धार हो सकता है । इसीलिए श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है–

तारे कृष्ण भजे, कर गुरुर सेवन ।
मायाजाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण ।।
प्रभु कहे – वैष्णवसेवा, नामसंकीर्तन ।
दुइ कर, शीघ्र पाबे श्रीकृष्णचरण ।।
साधु – शास्त्रकृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय ।
सेइ जीव निस्तरे, माया ताहारे छाड़य ।।

अर्थात् गुरुसेवा करते हुए कृष्ण का भजन करने पर मायाजाल छूट जाता है तथा कृष्ण के चरणों की प्राप्ति होती है । प्रभु बोले – वैष्णवसेवा और नाम संकीर्तन करो । ऐसा करने पर तुम शीघ्र ही श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमलों को प्राप्त कर लोगे । साधु एवं शास्त्रों की कृपा से यदि जीव कृष्णोन्मुख होता है, तो उसका उद्धार हो जाता है, माया उसे छोड़ देती है ।

396 **प्र० – किस विषय में चेष्टा करनी होगी ?**

उ० – हम कहते हैं कि सब समय हरिकथा सुनो । साधुसंग में रहकर विषयोन्मुख चित्त को कृष्णोन्मुख करो, तभी मंगल होगा ।

भाग्य में जो है, वह अपने आप होगा । इसके लिए अलग से चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं है । यदि हमें अलग से चेष्टा करनी ही है तो हरिभजन के लिए करनी होगी ।

जो व्यक्ति हमें विषयसुख प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करता है, विषयी होने के कारण हम भी उसी शत्रु को अपना बन्धु मानते हैं । किन्तु जो विषयसुख के लिए हमें निषेध करता है, जो संसार करने या संसार में आसक्त होने से हमें निषेध करता है, ऐसे निःस्वार्थ बन्धु साधु – गुरु की बात हम लोग नहीं सुनते । इस प्रकार हम अपने असली बन्धु को ही अपना शत्रु मानते हैं । ऐसा हमारा दुर्भाग्य है !

397 **प्र० – आपलोग मठ में लीलाकीर्तन क्यों नहीं करते ?**

उ० – श्रीकृष्णलीलाओं का श्रवण – कीर्तन करने में हमें कोई आपत्ति

नहीं हैं । श्रीहरि की लीलाओं का ही श्रवण-कीर्तन करना होगा, तभी बद्धजीवों के कर्मवीरत्व की कहानी या ग्राम्यकथाओं के श्रवण-कीर्तन में स्वाभाविक रुचि या आग्रह दूर होगा । इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ।

लीलाकीर्तन तथा श्रृंगाररस के कीर्तन में वैशिष्ट्य है । अनर्थयुक्त जीव गौरलीला या कृष्ण की बाल्यलीलाओं का कीर्तन या श्रवण कर सकते हैं । किन्तु ऐसा न कर श्रीराधाकृष्ण की गूढ़लीलाओं को सुनने और कीर्तन करने से कल्याण के बदले अकल्याण ही होगा ।

कीर्तन एकमात्र श्रीगुरुदेव के मुख से ही सुनना चाहिए । वास्तविक भक्त का विचार होता है कि मैं केवल श्रीगुरु-मुखानिःसृत हरिकथा एवं श्रीशुकमुख-विगलित श्रीभागवत की कथा ही श्रवण-कीर्तन करूँगा । मैं गुरु के मुख से या गुरुनिष्ठ शुद्ध मुख से ही गौरविहित कीर्तन या कृष्ण-नाम-रूप-गुण-लीलाओं का ही कीर्तन एवं श्रवण करूँगा । इसके अतिरिक्त किसी से भी श्रवण नहीं करूँगा ।

अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति से ही कीर्तन एवं श्रवण करना होगा । उनके अतिरिक्त अन्य लोगों से श्रवण करने पर भी मंगल नहीं होगा ।

श्रीराधागोविन्द की गूढ़लीलाओं का श्रवण एवं कीर्तन दोनों ही प्रधान उपासना या नित्य भजन है । यह भजनलीला सर्वसाधारण के सामने गान करना अनुचित तथा अपराध है । 'आपन भजन कथा ना कहिबे यथा तथा' - आचार्यों के इस वाक्य का प्रत्येक मंगलाकांक्षी व्यक्ति के लिए पालन करना कर्तव्य है । जहाँ पर पाँचमिशाली लोग उपस्थित रहते हैं, वहाँ पर नाम तथा प्रार्थना एवं दास्यरस के कीर्तन करना ही उचित है । जहाँ पर केवल रसिक भक्त ही उपस्थित हैं, वहीं पर यदि अधिकार हो तो रसकीर्तन करना चाहिए तथा रसकीर्तन श्रवण के समय अपने-अपने स्वरूपोचित भजनभाव का अनुभव करना चाहिए । अन्यथा हित के स्थान पर अहित ही होगा । ऐसा करने पर यदि लीलाकीर्तन-पद्धति उठ भी जाय तो उठने दो । इससे भी लोगों का उद्धार ही होगा । अर्थ की लालसा तथा इन्द्रियसुख प्राप्ति की आशा से जहाँ तहाँ रसगान होने देना तो नितान्त कलि का कार्य है ।

398 **प्र०-जड़ जगत के साथ परजगत का क्या पार्थक्य है ?**

उ०-यह जड़ जगत उस अप्राकृत नित्य जगत का हेय और असम्पूर्ण प्रतिबिम्ब है । इस जगत की विचित्रता में अनित्य, खण्ड तथा हेय

धर्म है । क्योंकि इस जगत की विचित्रता उस नित्य जगत की विचित्रता की प्रतिच्छवि है । वहाँ पर अप्राकृत पात्र, अप्राकृत स्थान एवं अप्राकृत या अखण्डकाल का नित्य वास्तव अधिष्ठान है । वहाँ पर विषयवस्तु का अद्वितीयत्व, किन्तु आश्रयवस्तु का बहुत्व होने के कारण ऐक्यतान का अभाव नहीं है । विषय के बहुत्व स्वीकार में ही दोष है, विषय की शक्ति की विचित्रता स्वीकार करने पर किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं हो सकती ।

399 **प्र० – कर्मफल भी क्या भगवान की कृपा है ?**

उ० – बुद्धिमान व्यक्ति अपने कर्मफल को भगवान की अनुकम्पा मानकर उनका भोग करते – करते तन – मन – वचन से भगवान में आत्मसमर्पणपूर्वक जीवन धारण करते हैं । कितनी ही बड़ी विपत्ति क्यों न हो, उसे वे अपना कर्मफल मानकर ग्रहण करते हैं । इसके लिए वे भगवान को दोषारोप नहीं करते, बल्कि उनकी कृपा मानकर मस्तक पर धारण करते हैं । इस प्रकार उनकी भगवान में और भी अधिक प्रीति बढ़ जाती है । यही भागवतीय शिक्षा है ।

400 **प्र० – अप्राकृतत्व की उपलब्धि कैसे होगी ?**

उ० – अप्राकृत विषय कभी भी प्राकृत ज्ञान – बुद्धि – विचार के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं करते । अर्थात् अप्राकृत विषय कभी भी अप्राकृत ज्ञान – बुद्धिविचारों के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकते । जो अप्राकृत विषय के सामने सम्पूर्णरूप से आत्मसमर्पणकर अप्राकृत तत्त्व में प्रविष्ट हो गये हैं, एकमात्र उनके सामने आत्मसमर्पण करने पर ही अप्राकृत तत्त्व के वास्तव स्वरूप की उपलब्धि हो सकती है । इसलिए श्रुतियों ने कहा है –

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

(अर्थात् उन भगवद् वस्तु का विज्ञान (प्रेमभक्तिसहित ज्ञान) प्राप्त करने के लिए वे यज्ञीय समिध हाथ में लिये हुए वेदतात्पर्यज्ञ और कृष्णतत्त्वविद् सद्गुरु के पास कायमनोवाक्य के साथ पूर्ण समर्पित भाव से जायेंगे ।) गीता में भी कहा है –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन ।।

अर्थात् ज्ञान के उपदेश देनेवाले गुरु के निकट दण्डवत् प्रणाम द्वारा, संगत प्रश्न द्वारा और सेवा द्वारा उस ज्ञान को समझो । तत्त्वदर्शी ज्ञानीगण तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश देंगे ।

अप्राकृत-तत्त्व, अधोक्षज-वस्तु या वास्तवसत्य-सर्वज्ञ है । सर्वज्ञ स्वराट वस्तु की सभी बुद्धिमान व्यक्ति ही सेवा करने के लिए स्वाभाविकरूप से ही उन्मुख रहते हैं । जो इसमें विमुखता दिखाते हैं, वे ही इस कारागारस्वरूप जगत में गिरकर दुःख पाते हैं ।

करुणामय वास्तव सत्य पतित व्यक्तियों के उद्धार के लिए-उनके विकृत विचारों को परिवर्तित करने के लिए अपने महामुक्त प्रतिनिधियों को इस जगत में भेज देते हैं ।

401 **प्र०-हम किसके अनुगत होंगे ?**

उ०-कृष्ण के इन्द्रियतर्पण में विघ्नकारी किसी भी व्यक्ति का कृष्णराज्य में प्रवेश का अधिकार नहीं है । इसलिए हम कभी भी ऐसे लोगों का आनुगत्य नहीं करेंगे । हम किसी को भी अपने ऊपर प्रभुत्व नहीं करने देंगे । एकमात्र विष्णु एवं उनके सेवकवर्ग ही हमारे ऊपर सम्पूर्णरूप से अपना प्रभुत्व करेंगे । यदि हम उदारता के नाम पर विष्णु एवं वैष्णवों के अतिरिक्त दूसरे किसी व्यक्ति को अपने ऊपर शासन करने दें या गुरु-कृष्ण के साथ दूसरे किसी की समानता करेंगे, तो हमें समझ लेना चाहिए कि निश्चय ही माया ने हमारे ऊपर अपना प्रभुत्व जमा लिया है । हम तथाकथित मुक्ति को पैरों की ठोकर से दूर करेंगे । सायुज्य मुक्ति तो अपराध की पराकाष्ठा है । मायावादी अपराधी होते हैं । अतः वे कदापि कृष्णनाम उच्चारण नहीं कर सकते । वह कृष्णनाम उच्चारण का जो अभिनय करते हैं, उससे कृष्ण के अंग बिंध जाते हैं । हम कुतर्क को ही अपना गन्तव्य विचार नहीं करेंगे । हम तर्क के द्वारा अपने वचनों का उपसंहार नहीं करेंगे । हम तर्क के द्वारा कभी भी तर्कातीत वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती । इसलिए श्रीहरि की कथाओं को जानने के लिए तर्क को छोड़कर उनके भक्तों के अनुगत होना अति आवश्यक है । हम सर्वदा समस्त अवस्थाओं में समस्त इन्द्रियों के द्वारा श्रीहरि के दास्य में नियुक्त रहेंगे । हम आध्यक्षिक नहीं होंगे और आध्यक्षिकों का आनुगत्य भी नहीं करेंगे ।

402 **प्र०-आध्यक्षिक किसे कहते हैं ?**

उ०-दो पथ हैं-श्रौतपथ तथा तर्कपथ । श्रौतपथ का नाम अवरोह

पन्था है तथा तर्कपन्थ का नाम आरोह पन्था है । श्रौतपथ में कर्ण प्रदान को अधोक्षज सेवा तथा तर्कपथ में इन्द्रिय परिचालना को आध्यक्षिकता कहते हैं । जो अक्ष अर्थात् इन्द्रियों का अवलम्बन किये हुए हैं, जो जागतिक या इन्द्रियों ज्ञान के द्वारा भ्रमित होने पर भी आत्मश्लाघा (अपनी प्रशंसा) की पताका उठा रहे हैं, जो उनके इन्द्रियतर्पण-परता की भूमिका में युक्तिजाल बनाते हैं, वे ही आध्यक्षिक हैं । आरोह प्रणाली ही आध्यक्षिकता है । सूर्य से आयी हुई किरणें जब हमारे नेत्र-गोलकों में पड़ती हैं, तभी हम सूर्य की किरणों की सहायता से सूर्य का दर्शन करते हैं । यह अवरोह प्रणाली में सूर्यदर्शन है । परन्तु जब सूर्य की किरणों की सहायता परित्यागकर स्वाधीनरूप से कृत्रिम आलोक के द्वारा सूर्य दर्शन की चेष्टा करते हैं, तो उस समय सूर्यदर्शन नहीं होता । यह शेषोक्त प्रणाली ही आध्यक्षिकता या आरोहवाद है । आध्यक्षिकता ही रावण के द्वारा अभिनन्दित प्रणाली है । आध्यक्षिकता में बहिर्मुख लोगों का इन्द्रियतर्पण या समर्थन है । आध्यक्षिक लोग हेतुवादी या प्रच्छन्न तार्किक हैं । आध्यक्षिकता का त्यागकर श्रीकृष्ण के पादपद्मों में निष्कपट भाव से शरण ग्रहण करने पर ही हम गुरु-वैष्णवों की कृपा से कृष्णतत्त्व एवं शुद्धभक्ति की बातें समझ सकते हैं ।

403 **प्र०-क्या ध्यान कृत्रिमभाव से होता है ?**

उ०-कभी नहीं । 'कीर्तन प्रभावे स्मरण हइबे, से काले भजन निर्जन सम्भव' अर्थात् कीर्तन के प्रभाव से स्वाभाविकरूप से स्मरण होता है, तभी निर्जन भजन सम्भव है । विक्षिप्त चित्त से ध्यान सम्भव नहीं है । कृत्रिम ध्यान का मार्ग तो एक प्रकार से प्रच्छन्न आत्मेन्द्रिय-तर्पण ही है । अप्राकृत वस्तु का कीर्तन के माध्यम से ध्यान स्वाभाविक एवं अकृत्रिम हो सकता है । पूर्ण चेतन के साथ अणुचेतन का पाँच प्रकार का सम्बन्ध है । उन समस्त सम्बन्धों के अभिधेयरूप में शब्दब्रह्म की उपासना से जो स्वाभाविक राग या आकर्षण प्रकाशित होता है, उसी के द्वारा चेतन का सहज ध्यान सम्भव है । उस ध्यान में विक्षेप, आवरण या कृत्रिमता नहीं है । कृष्ण के सेवक सम्प्रदाय का ध्यान ऐसा ही स्वाभाविक होता है ।

404 **प्र०-क्या श्रीचैतन्य चरितामृत लीलाग्रन्थ है ?**

उ०-श्रीचैतन्य चरितामृत केवल श्रीचैतन्यदेव का लीलाग्रन्थ-मात्र नहीं है । बल्कि यह एक अति अद्भूत महादार्शनिक विचारोंवाला ग्रन्थ है । इसमें महाप्रभु की लीलाओं के साथ-साथ दर्शन की भी व्याख्या है । श्रीकृष्ण की

द्वितीय लीला ही श्रीचैतन्यलीला है तथा श्रीचैतन्य की द्वितीय लीला ही कृष्णलीला है । श्रीमद्भागवत के पथ का अनुसरण करके ही श्रीकविराज गोस्वामी प्रभु ने यह ग्रन्थ लिखा है ।

405 **प्र० – तर्कपन्थी कौन हैं ?**

उ० – जो Challenging mood लेकर Absolute Truth पर आक्रमण करते हैं, वे ही तर्कपन्थी हैं । तर्कपन्था – **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया** – इस विचार का विरुद्ध पन्था है । एक पन्था है – हम वास्तव सत्यकीर्तनकारी गुरुदेव से श्रवण करेंगे तथा भगवान के उन्मुख या उनके सम्मुख होने की चेष्टा करेंगे । दूसरा पन्था है – हम अपने इन्द्रियज ज्ञान के बल से अतीन्द्रिय वास्तव सत्य को प्राप्त कर लेंगे । इनमें से प्रथम श्रौतपन्था है तथा दूसरा तर्कपन्था है । अन्वयभाव से जो गृहीत होता है, वे श्रौतपथ तथा जो व्यतिरेक भाव से गृहीत होता है, वह तर्कपथ है । पाँचों दर्शन ही तर्कपथ में प्रतिष्ठित हैं । केवलमात्र वेदान्तदर्शन ने ही श्रौतपथ ग्रहण किया है । शंकराचार्य ने लोगों को मोहित करने के लिए श्रौतपथ के नाम पर वेदान्त दर्शन में तर्कपथ की ही चर्चा की हैं । आध्यक्षिक ज्ञान के बढ़ जाने पर वह तर्कपथ को प्राप्त हो जाता है ।

वैष्णवलोग जितनी भी कथाएँ कहते हैं, अपने द्वारा रचित कल्पित कथाएँ नहीं कहते । वे सम्पूर्णरूप से गुरुपादपद्म को दिखा रहे हैं । अर्थात् वे गुरुमुख से श्रवण की हुई कथाओं को ही कहते हैं । गुरु दस – पाँच नहीं होते। मन्नाथः, श्रीजगन्नाथः, मद्गुरु श्रीजगद्गुरुः । Absolute Truth requires no challenge from any body.

406 **प्र० – महाप्रभु के समय तो बहुतों ने गुरु का कार्य किया था ?**

उ० – हाँ । वे सब भगवान के पार्षद कृष्णप्रेष्ठ थे । वे परस्पर अभिन्न थे । उन सभी ने कृष्णसेवा की ही बात कही है ।

407 **प्र० – सभी धर्मों में तो वह गुरु हो सकता है ?**

उ० – सब धर्मटर्म छोड़ दो । जिस प्रकार गुरुपादपद्म अद्वितीय हैं, उसी प्रकार धर्म भी एक ही है । उसका नाम है – आत्मधर्म । आत्मधर्म के अतिरिक्त सब देहधर्म या मनोधर्म हैं । जगत में देहधर्म और मनोधर्म के नाना मत और नाना पथ सुने जाते हैं, किन्तु आत्मधर्म के सम्बन्ध में यह सब नहीं सुना जाता । आत्मधर्म अद्वितीय है, किन्तु उसमें विचित्रताओं का अभाव नहीं है ।

वह विचित्रताओं से रहित धर्म नहीं हैं, वह सम्पूर्ण जागतिक आवरण एवं सीमारहित विशुद्ध निर्मल आत्मा की स्वाभाविक स्वच्छन्द वृत्ति है ।

408 **प्र० – हम लोग वास्तव सत्य कैसे जान पायेंगे ?**

उ० – बहिर्मुख व्यक्ति की श्रद्धा, भक्ति तथा रुचि – सभी कुछ बहिर्मुखी होती है । मनुष्य ऐसी श्रद्धा, भक्ति तथा रुचि के माध्यम से कभी भी सत्य वस्तु को नहीं पा सकता । जब वास्तव वस्तु स्वयं ही कृपाकर अवतीर्ण होते हैं, तभी वे स्वयं ही अपने को जना देते हैं । किस वस्तु को प्राप्त करना चाहिए, अकपट सेवोन्मुख व्यक्ति को चैत्यगुरु कृपापूर्वक जना देते हैं । विशुद्ध आम्नायधारा के माध्यम से ही वास्तव सत्य वस्तु प्रवाहित होते हैं ।

409 **प्र० – भगवान को तो कोई – कोई निर्विशेष कहते हैं ?**

उ० – वास्तव सत्य वस्तु निर्विशेष नहीं हैं । परमेश्वर तो चिद्विलासी हैं । उनका अप्राकृत रूप, गुण, लीला आदि सभी कुछ है । उनकी initiative लेने की सामर्थ्य है । ईश्वर की स्वतन्त्रता है । वे ज्ञानशक्ति, इच्छा शक्ति तथा क्रियाशक्ति के परिचालक पूर्णविग्रह हैं । हममें जो Knowing, feeling, willing है, वह उनमें पूर्णमात्रा में है । वे जो Fountain head हैं, इसे भूलने के कारण ही कृष्ण – माया हम पर आक्रमण करेगी, हमारे विचारों में भूल करायेगी, असत् विवेक को ही विवेक कहकर हमें भ्रान्त कर देगी ।

विशुद्धसत्त्व में उनका आविर्भाव होता है । कृष्ण जिस पर दया करते हैं, उसी का हृदय विशुद्ध – सत्त्वोज्ज्वल होगा । विशुद्धसत्त्वोज्ज्वल हृदय में जो दर्शन होता है, वह असली दर्शन या असली सच्चिदानन्द अनुभूति है ।

410 **प्र० – प्रचार कौन कर सकते हैं ?**

उ० – जिन्हें अनुभूति हो गयी है, जो भगवान के दर्शन कर चुके हैं, वे ही प्रचारक हो सकते हैं । असंख्य प्रचारक उनके ही अनुगत होकर प्रचार कर सकते हैं । श्रीव्यासदेव ने जब पूर्णपुरुष के दर्शन किये, तभी उनका हृदय शान्त हुआ तथा उन्होंने श्रीमद्भागवत का प्रचार किया । आत्माराम शुकदेव, नवयोगेन्द्र आदि सभी ने परिव्राजक के रूप में आत्मधर्म की बातों का ही प्रचार किया । परममुक्त पुरुषगण ही हरिकथा का प्रचार करते हुए भ्रमण करते रहते हैं । श्रीमहाप्रभु एवं उनके पार्षदों ने सर्वत्र ही हरिकथाओं का प्रचार किया ।

हजारों प्रश्न उत्पन्न होंगे, एक हरिकथा अच्छी प्रकार से सुनने पर सभी प्रश्नों के उत्तर मिल जायेंगे । अधीर होने से कुछ नहीं होगा ।

411 **प्र०–हमलोग किस प्रकार से भगवान के लिए प्रस्तुत हो सकते हैं ?**

उ०–श्रीगुरुपादपद्म की सेवा से ही कृपा प्राप्त होती है एवं गुरु की कृपा प्राप्त करके ही भगवान की प्राप्ति के लिए तैयार हुआ जा सकता है । गुरुसेवा तथा शब्दब्रह्म की सेवा से ही हृदय में बल मिलेगा ।

412 **प्र०–हम सद्गुरु कैसे पायेंगे ?**

उ०–भगवान् हृदय में चैत्यगुरु के रूप में तथा बाहर महान्त गुरु के रूप में विराजमान रहते हैं । यदि हम निष्कपटता से रहेंगे, तो भगवान ही हमें महान्त गुरु से मिलवा देंगे । हम हजार–हजार लोग आवेदन–पत्र लेकर उपस्थित हो सकते हैं, किन्तु मंजूर करने वाले मालिक तो वे ही हैं । वे क्यों नहीं मंजूर करेंगे, हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वे हमारे बागान (बगीचे) के माली नहीं है । हमें तो सहिष्णु होकर उनकी कृपा की अपेक्षा करनी होगी–अन्याभिलाषिताशून्य होकर उनकी सेवा में तत्पर रहना होगा । यदि हम निष्कपट कृपा चाहेंगे, तो वे अवश्य ही कृपा करेंगे । उनकी कृपा से ही हम सद्गुरु पायेंगे । **'कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने, गुरु–अन्तर्यामी रूपे शिखाय आपने ।।'** अर्थात् यदि कृष्ण किसी भाग्यवान् व्यक्ति पर कृपा करते हैं, तो अन्तर्यामी चैत्यगुरु के रूप में स्वयं ही उसे शिक्षा प्रदान करते हैं ।

413 **प्र०–क्या हरिकीतन प्रतिक्षण करना चाहिए ?**

उ०–हरिकथाओं का कीर्तन करना ही विश्राम है । इसी से समस्त प्रकार का श्रम या क्लेश दूर हो जाते हैं । कीर्तन छोड़कर एक मुहूर्त के लिए भी अन्य कार्यों के लिए चेष्टा करना ही भगवद्–विमुखता है । महाभागवत तथा उनके अनुगत सभी लोग सर्वक्षण अच्छी तरह से हरिकथा कीर्तन करते हैं, उनका अन्य कोई काम नहीं होता । श्रीचैतन्यदेव ने भी आदेश दिया है–**कीर्तनीयः सदा हरिः ।**

सभी अवस्थाओं में तन–मन–वचन से भगवान का कीर्तन ही जीवित अवस्था में मुक्ति का लक्षण है ।

414 **प्र०–हम तो परोपकार को ही धर्म मानते हैं । इस विषय में आपका क्या मत है ?**

उ०–परोपकार अच्छी चीज है किन्तु इसमें दो स्थानों पर बहुत बड़ा

दोष है । एक तो व्यक्तरूप में इसमें निरीश्वरता का आवाहन है, दूसरा-इसमें पशुजाति या दूसरे प्राणियों के प्रति हिंसा है ।

Absolute Integer (चरम पूर्ण वस्तु) neglect (उपेक्षा) करके जो कुछ भी किया जाय, उसका कुछ भी मूल्य नहीं है । हम परमार्थ को सुविधावाद की सेवा में नियुक्त करने के पक्षपाती नहीं हैं । साधु से जागतिक सेवा करवा लेने की चेष्टा में साधुत्व के प्रति आदर नहीं है । मानव जीवन का कार्य केवल ऐसा सामान्य Altruism (परोपकार) नहीं है । मानव जीवन का और भी एक बहुत बड़ा कार्य है-भगवान की सेवा । भगवान की सेवा के द्वारा ही चिरकाल के लिए दुःख दूर हो जायेंगे तथा चिरकाल के लिए सुखी हुआ जा सकता है । इसीलिए हमारा मनोरथ है कि हम सारे जगत को कृष्णभक्त करेंगे ।

भगवान की सेवा ही चेतन का धर्म-आत्मा का धर्म-नित्यधर्म या परधर्म है । भगवान चैतन्यदेव ने जगत में परमधर्म की कथाओं का ही प्रचार किया है । उसी से जगत का सम्पूर्णरूप से उपकार तथा कल्याण होगा । श्रीचैतन्यदेव ने कहा है-

भारतभूमिते हैल मनुष्य जन्म यार ।
जन्म सार्थक करि कर पर-उपकार ।।

अर्थात् भारतभूमि में जिसका मनुष्य रूप में जन्म हुआ है, वह भगवान का भजनकर अपने जीवन को सार्थक बनाकर परोपकार करें ।

श्रीचैतन्यदेव ने देश एवं जीवों के उपकार की बात ही कही है । किन्तु उनके देश एवं जीव तथाकथित समाज कल्याण प्रार्थी व्यक्तियों की भाँति क्षुद्र, संकीर्ण, अस्थायी, परिवर्तनशील या आकाश-कुसुम के समान काल्पनिक मात्र नहीं हैं । उनके द्वारा कथित उपकार पर अर्थात् श्रेष्ठ है, अपर अर्थात् निकृष्ट या अनित्य नहीं है । मानव जाति ने अपनी क्षुद्र विचारबुद्धि से परोपकार के लिए देश एवं जीवों की उन्नति के लिए जो उपाय किये हैं, कर रहे हैं तथा भविष्य में भी जो असंख्य उपाय करेंगे, उनके द्वारा कभी भी देश एवं जीवों का वास्तविक उपकार या कल्याण नहीं होगा । वे तो सब प्रस्तावित अनित्य उपकार के प्रयास मात्र हैं । महाप्रभु ने वास्तविक पर उपकार की प्रणाली कही है-

वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।

श्रीमद्भागवत की प्रणाली ही चैतन्यदेव के द्वारा आविष्कृत तथा परिष्कृत प्रणाली है । वही प्रणाली कल्याणप्रद और तीनों तापों का नाश करने

वाली है । जगत में ऋषि-मुनियों के द्वारा जितनी भी परोपकार की प्रणालियाँ बना दी गयी हैं, उनसे क्षणिक सुख या प्रेयः तो प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु वह आत्मकल्याणकारी या श्रेयोदानकारी नहीं है अर्थात् उससे तीनों तापों का नाश नहीं होता । तापों का मूल कारण क्या है, इसे जानना आवश्यक है । क्योंकि कारण का नाश किये बिना कार्य का नाश सम्भव नहीं है । बटवृक्ष के जड़ को उखाड़े बिना हजारों बार उसकी शाखाओं को काटने पर भी वह पुनः उग आता है । मनुष्य के द्वारा कल्पित जो हजारों परोपकार की प्रणालियाँ हैं, वे हाथों के द्वारा समुद्र के जल को बाहर फेंककर समुद्र को सुखाने के समान ही है । यदि हजारों लोग युगों-युगों तक ऐसा प्रयास करते रहें, तो भी समुद्र कभी सूखेगा नहीं । हाँ, यह देखा जायेगा कि उस उपाय का अवलम्बन करने पर एक स्थान पर बहुत परिमाण में पानी जमा हो गया है । उसी प्रकार जगत के त्रितापरूप समुद्र मनुष्य के द्वारा कल्पित परोपकार के उपायों के द्वारा कभी सूखेगा नहीं, लोगों को मिथ्या प्रलोभन देना तथा स्वयं मिथ्या प्रलोभन में पड़ना ही होगा ।

श्रीमद्भागवत में वर्णित प्रणाली के बिना कभी भी त्रितापों का विनाश नहीं हो सकता । इन तापों की अनन्त विचित्रताएँ हैं, हम कभी भी ऐसे कल्पित उपायों के द्वारा अनन्त तापों में से एक को भी जड़ से नाश नहीं कर सकते । भगवद्विस्मृतिरूपी आवरणात्मिका तथा विक्षेपात्मिका अविद्या ही हमारे समस्त तापों का मूल कारण है । उस कारण के नाश हुए बिना ताप वैचित्र्यरूप कार्य का भी नाश नहीं होगा । भगवान की सेवा का प्रचार किये बिना कभी भी देश का दुःख नष्ट नहीं होगा । भगवान की सेवा की कथाओं का प्रचार होने पर ही समस्त देशों के समस्त लोगों का सार्वकालिक कल्याण होगा ।

415 **प्र०-विष्णु की सेवा करने से किस प्रकार से जगत की सेवा एवं परोपकार हो सकता है ?**

उ०-विष्णु व्यापक वस्तु हैं । वे परब्रह्म अर्थात् सर्वापेक्षा वृहत् वस्तु हैं । उनकी सेवा करने से ही उनके अन्दर स्थित निखिल वस्तुओं या सबकी सेवा हो जायेगी । किसी विशेष अश्व का सेवक सभी अश्वों का सेवक या किसी अन्य प्राणी का सेवक नहीं हो सकता, किसी विशेष देश का सेवक समस्त देशों का सेवक नहीं हो सकता, किसी विशेष समय का सेवक सार्वकालिक सेवक नहीं हो सकता । यदि कोई बकरी या मछली को मारकर जिह्वा की सेवा करता है, तो वह एक तरफा सेवा या प्रीति होती है, उससे बकरी या मछली की सेवा या

प्रीति नहीं होगी । किसी मनुष्य या किसी विशेष देश की सेवा करते समय दूसरे मनुष्य या दूसरे देश पीड़ित होते हैं । किन्तु विष्णु की सेवा करने से समस्त वस्तुओं की ही सेवा हो जाती है, उससे सभी प्रसन्न हो जाते हैं । श्रीचैतन्य महाप्रभु की दया अमन्दोदया, सार्वजनीन दया है । वह समस्त देशों, समस्त कालों तथा समस्त पात्रों के लिए परम मंगलदायक है ।

416 **प्र० – महामन्त्र में हरे राम है, वे कौन से राम हैं ?**

उ० – ऐश्वर्य पर विचार से जो सेवोन्मुखता है, उसमें हरे राम से दशरथी राम को ही समझा जाता है, किन्तु माधुर्य पर भक्त राधारमण को ही राम के रूप में जानते हैं । वे नन्दनन्दन हैं । जहाँ पर राम शब्द से राधारमण की सेवा विहित होती है, वहाँ पर हरा शब्द के सम्बोधन-पद में पराशक्ति के आकर विग्रह श्रीराधारानी को ही समझा जाता है ।

श्रीराधारानी का एक नाम हरा है । **कृष्णमनो हरति इति हरा** अर्थात् राधा, जो कृष्ण के मन को हरण करती हैं अर्थात् राधा । हरा शब्द के सम्बोधन में हरे होता है । हरि शब्द के सम्बोधन में भी हरे होता है । राम तीन हैं – सीतारमण, रेवतीरमण अर्थात् बलराम तथा राधारमण राम अर्थात् राधानाथ कृष्ण ।

417 **प्र० – वास्तव सत्य का अनुसन्धान हम कैसे पा सकते हैं ?**

उ० – सविशेषविग्रह भगवान ही वास्तव सत्य हैं । वे ही एकमात्र समस्त कारणों के कारण हैं । वास्तव सत्य स्वप्रकाश हैं, वे अचेतन नहीं हैं, परन्तु स्वतः कर्तृविशिष्ट हैं । वे स्वयं को स्वयं ही प्रकाशित करते हैं । अभिज्ञता की प्रणाली या आरोह पन्थाके द्वारा वास्तव सत्य का सन्धान नहीं पाया जा सकता । वास्तवसत्य तृतीय मान (third dimension) के अन्तर्गत वस्तु नहीं हैं । जो तृतीय मान के अन्तर्गत हैं, हम केवल उसी को ही माप सकते हैं, वह हमारे अधीन भोग्य वस्तु है । जिसे मापा जाय, वही माया है । जैसे सूर्य को देखने के लिए हमारे नेत्रों की आवृत अवस्था दूर होना अति आवश्यक है, उसी प्रकार वास्तव सत्य की धारणा करने के लिए हमारे अन्तर्निहित अतीन्द्रिय शक्ति के उदित होने तक अपेक्षा करना आवश्यक है । जिस प्रकार रात्रि के समय हजारों शक्तिसम्पन्न वैद्युतिक दीपों के द्वारा भी नहीं देखा जा सकता, परन्तु सूर्य के उदित हो जाने पर वैद्युतिक प्रकाश के द्वारा सूर्यदर्शन की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसी प्रकार वास्तव सत्य वस्तु को भी किसी प्रकार

के इन्द्रियज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता । आवृत अवस्था में वास्तवसत्य के स्वरूप को नहीं जाना जा सकता, श्रीगुरुमुख से ही सत्यवस्तु के विषय में श्रवण करना चाहिए । इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ।

418 **प्र०–सत्य कौन है, इसे समझने से पहले किस प्रकार से हम शरणागत हो सकते हैं ?**

उ०–सर्वप्रथम शरणागत नहीं होने पर सत्य वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती । जबतक हम शरणागत नहीं होंगे, तबतक हम धर्मसम्मूढ़चित्त तथा संशयात्मा होकर विनाश के पथ पर ही दौड़ते रहेंगे । इसीलिए अर्जुन कृष्ण से कह रहे हैं–शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।

जिनके चरणों हम शरणागत होंगे, वे यदि मर्त्य व्यक्ति हुए, तो वे पारमार्थिक गुरु कहलाने योग्य नहीं हैं । मर्त्यजीव अर्थात् जिसे हम माप सकते हैं, ऐसे अधीन भोग्यवस्तु पारमार्थिक गुरु नहीं हैं । उसके चरणों में शरणागत होने पर हम कभी भी वास्तव सत्य के निकट नहीं जा सकते । श्रीगुरुदेव कृष्ण की शक्ति–कृष्णतत्त्ववित्–कृष्ण से अभिन्न तथ कृष्ण के ही द्वितीय स्वरूप या प्रकाश हैं ।

419 **प्र०–ये ही सद्गुरु हैं, इसे हम कैसे समझ सकते हैं ?**

उ०–आपलोग अपनी बुद्धि के विचार से जिसे गुरु के रूप में ग्रहण करेंगे, ऐसा आरोपित व्यक्ति कभी भी गुरु नहीं हो सकता । ऐसा गुरु आपके वशीभूत वस्तु होगा–आपके इन्द्रियज्ञान के अधीन होगा । स्वयं कृष्ण जिन्हें आपके गुरु के रूप में भेजेंगे, वे स्वयं ही आपके पास बाहर में महान्तगुरु के रूप में प्रकाशित होंगे ।

420 **प्र०–गीता तथा श्रीमद्भागवत में क्या वैशिष्ट्य है ?**

उ०–श्रीमद्भागवत निरपेक्ष वास्तव सत्य का प्रचारक है। वह निर्मत्सर सज्जनों का परमप्रिय वस्तु है। गीता Infant class का course अर्थात शिशु श्रेणी का पाठय है। श्रीमद्भागवत उच्च श्रेणी का अर्थात Post Graduate श्रेणी का (परमार्थिक बी.ए. परीक्षोत्तीर्ण गणों का) पाठय है। जो पारमार्थिकता की कोई बात नहीं जानते, उन्हें प्रवेशिका–परीक्षा के उपयोगी करने के लिए गीताशास्त्र है तथा जिन्होंने पराविद्या में M.A., Ph.D. की है, श्रीमद्भागवत् में उनका सम्पूर्ण अधिकार है ।

निरपेक्ष सज्जनगण गीता और भागवत में किसी प्रकार का भेद नहीं

देखते । जगतमें जितने भी श्रेष्ठ विशेषण हैं, व्याकरण में जितने भी तमप् प्रत्यय हैं, वे सभी भागवत के चरणों में शोभा पाते हैं । भागवत में आत्म धर्म की बात है । श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान का अवतार है । श्रीमद्भागवत असमोर्ध्व पदवी को कोई एक केश के बराबर भी हिला डुला नहीं सकता । परमार्थ राज्य में नए प्रवेश इच्छुक लोगों के लिए पारमार्थिक विद्यालय के शिशु श्रेणी के लिए गीता ग्रन्थ निर्दिष्ट हो सकता है और जिन्होंने गीता का अध्ययन समाप्त कर लिया है वे ही परमार्थ विद्यालय में उच्चशिक्षा प्राप्ति के लिए महाभागवतों के निकट भक्तिपूर्वक श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का श्रवणकर अच्छी प्रकार से पाठ एवं विचारकर प्रचुर मात्रा में लाभवान् हो सकते हैं।

श्रीमद्भागवत साक्षात भगवान का अवतार अधोक्षज वस्तु है । उसे हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा माप नहीं सकते । जो जितनी ही दुर्लभ एवं परम सत्य है, वह उतनी ही सुरक्षित होती है । विमुख लोगों के समक्ष भागवत अपने को प्रकाशित नहीं करती ।

421 **प्र० – चैत्यगुरु क्या करते हैं?**

उ० – भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में चैत्यगुरु के रूप में अन्तर्यामीरूप में अवस्थान करते हुए जीव की सत् – असत् वृत्तियों को नियमित करते हैं, ऐसे प्रयोजक कर्त्ता के रूप में चैत्यगुरु परिलक्षित होते हैं। चैत्यगुरु महान्त गुरु का निर्देश करते हैं। इसके अतिरिक्त महान्तगुरु के सेवक – सम्प्रदाय वर्त्मप्रदर्शक गुरु का कार्य करते हैं।

शास्त्रकारी, शास्त्रव्याख्याकारी, शास्त्रशासनानुमोदित अनुष्ठानकारी व्यक्ति अनर्थयुक्त, अनभिज्ञ एवं बालिशों के चञ्चल चित्त को सुष्ठुगति प्रदान करते हैं। ऐसे शिक्षागुरु दिव्यज्ञानप्र दाता – गुरु(दीक्षागुरु) की प्राप्ति से पूर्व सहायता करते हैं। इसलिए उन्हें वर्त्म या पथप्रदर्शकगुरु कहते हैं। चैतन्यगुरु की कृपा के बिना वर्त्म प्रदर्शक गुरु, दीक्षागुरु तथा शिक्षागुरुवर्ग की चरणसेवा प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती। कृष्णप्रसादज सुकुति अर्थात् कृष्ण की कृपा नहीं होने तक जीव चैत्यगुरु की निष्कपट कृपा प्राप्त नहीं कर सकते। जीवों के हृदय में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की कामना प्रबल होने पर वे भक्तिप्रार्थी नहीं हो सकते। भाग्यक्रम में भगवान् के चरणों में आश्रय ग्रहण करने की इच्छा होने पर चैत्यगुरु कृपाकर दीक्षागुरु तथा शिक्षागुरु के प्रति विश्वास प्राप्त करने के लिए कृपा प्रदान करते हैं।

चैत्यगुरु की कृपा से ही महान्तगुरु निर्दिष्ट होते हैं। चैत्यगुरु की कृपा दो प्रकार की होती है। उन दो प्रकार की कृपा के माध्यम से कोई आध्यक्षिक तो कोई अधोक्षज भगवान् के सेवक हो जाते हैं। जड़में प्रतिष्ठित होकर जिन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया है कि इन्द्रियतर्पण ही जीव का एकमात्र आराध्य वस्तु है, उनका ही नाम अन्याभिलाषी है। वे श्रेय:-पथ के पथिक न होकर क्षणिक सुखप्रद प्रेय: पथ के पथिक हैं। यही चैत्यगुरु की कपट कृपा है कपटी ही कपट कृपा पाते हैं। परन्तु निष्कपट भक्ति के इच्छुक सज्जन लोग चैत्यगुरु की निष्कपट कृपा पाकर धन्य हो जाते हैं। जो भगवान का सेवक होने के अतिरिक्त अन्य कुछ चाहता है, वे कपटी के अतिरिक्त और क्या हैं?

शिक्षागुरु दीक्षागुरु के वास्तव ज्ञानलब्ध शरणागत शिष्य को ही शिक्षा प्रदान करते हैं। इसलिए शिक्षागुरु का बहुत्व होने पर भी अद्वयज्ञानदाता दीक्षागुरु के साथ मतभेद नहीं होता, बल्कि वे दीक्षागुरु के असली बन्धु होते हैं।

दिव्यज्ञान प्राप्ति के पश्चात् जीव का स्वरूप उदित हो जाने पर जो हरिसेवा की प्रणाली की शिक्षा देते हैं, ऐसे उपदेशकों का नाम ही शिक्षागुरुवर्ग हैं। ऐसे सेनावाहिनी के अग्रगामी वर्त्मप्रदर्शक गुरु शिक्षागुरु का ही पूर्वभाव है, बीच में दीक्षादाता महान्तगुरु अवस्थान करते हैं।

भगवान् चैत्यगुरु के रूप में जिनके निष्कपट मंगल की इच्छा करते हैं, वे ही भगवद्भक्त को महान्तगुरु या सद्गुरु के रूप में जानने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। भगवान के अनुग्रहक्रम से जीव महाभागवत श्रीगुरुदेव का दर्शन पाकर अपने जीवन को धन्य करने में समर्थ हो जाता है।

422 **प्र०–मन्त्र ग्रहण करके भी हमारा मननधर्म दूर क्यों नहीं हो रहा है?**

उ०-हमने मन्त्र ग्रहण नहीं किया है। मन्त्र देने का मतलब कान में फूँक देना नहीं है। दिव्यज्ञान का नाम दीक्षा है। यह दिव्यज्ञान हमारे जन्म-जन्मान्तर के समस्त अविद्या-अज्ञान के भवन को चूर्ण-विचूर्ण कर वहाँ पर अधोक्षज-ज्ञान के नित्यवास्तव भित्तिमय भवन का निर्माण कर देता है। दिव्यज्ञान देते समय भगवान ब्रह्मा से कहा था-मैं ही वास्तव सत्य हूँ। यह वास्तवसत्य शक्ति द्वारा सञ्चरित होता है। वह शक्ति ही गुरु है। क्षुद्र-क्षुद्र Agent या Messenger जगत में आते रहते हैं। किन्तु जो सब महाशक्तिशाली

Messengers sent by god to suit the adoptablity of all the recipiets उन Sole Agents का नाम गुरु है। उन Expert से ही Relation होता है। ऐसे गुरु ही हमारे मननधर्म को दूरकर हमारी चेतना की वृत्ति में युगान्तर ला सकते हैं।

गुरुदेव से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह जड़ ज्ञान नहीं है, वह ज्ञान साक्षात् Absolute knowledge या कृष्ण, पूर्णज्ञान, साक्षात् सम्विद् विग्रह है । मन्त्र पूर्णचेतन वस्तु है। मन्त्र मननधर्म से हमारा उद्धार कर सकता है, पापपुण्यमय मनोधर्म से उद्धारकर पारमार्थिक योग्यता प्रदान कर सकते हैं, मन्त्र की ऐसी शक्ति है ।

423 **प्र० – आत्मा का धर्म क्या है ?**

उ० – आत्मा अज वस्तु है, उसकी जननी कोई नहीं है । आत्मा की वृत्ति भोग या त्याग चाहना नहीं है–'देहि देहि' (दो, दो) की बात आत्मा में नहीं है । आत्मा परतत्त्व का Associated counterpart है । परतत्त्व के सुख की कामना या उसका दास्य ही आत्मा की वृत्ति, धर्म या स्वार्थ है ।

424 **प्र० – विलास तथा विराग का अर्थ क्या है ?**

उ० – वि पूर्वक लस् धातु से विलास शब्द निष्पन्न हुआ है । विलास का अर्थ है – इन्दियों की क्रिया । विराग – विषयराग या इन्द्रियचालना से अलग होकर रहना है । विलास के आधिक्य में विराग का अभाव तथा विराग के आधिक्य में विलास का अभाव है । इस जगत में विलास या जड़सविशेषवाद एवं विराग या जड़ निर्विशेषवाद दोनों ही अप्रयोजनीय हैं । विलास भगवत्सेवा तथा विराग – कृष्णप्रीति के लिए भोग – त्याग है । शान्त के जो दो गुण हैं – कृष्णनिष्ठा, तृष्णात्याग, इसी का नाम कृष्णभक्तों का विराग है । तथा नित्यनवनायमान भाव से चिल्लीलामिथुन का इन्द्रितर्पण करना ही विलास है ।

425 **प्र० – क्या शब्द का नित्यत्व है ?**

उ० – अप्राकृत शब्दब्रह्म का निश्चय ही नित्यत्व है । कुण्ठराज्य में शब्द तथा शब्दी में भेद है । अतः इस जगत में जड़ शब्द अनित्य हैं । वैकुण्ठ जगत में नाम तथा नामी एक वस्तु हैं – शब्द तथा शब्दी में कोई भेद नहीं है ।

426 **प्र० – जत मत तत पथ (जितने मत, उतने पथ) – क्या यह बात सत्य है ?**

उ० – मत मनोधर्म है । भिन्नरुचिर्हि लोकाः – असंख्य लोगों के असंख्य

प्रकार के मन के विचार या रुचि है । लोगों की रुचि के अनुसार जा पथ सृष्ट हुआ है, हो रहा है या होगा, वह कभी भी आत्मधर्म या सनातनधर्म नहीं है । जगत में मनोधर्मपरक अनेक मतों की सृष्टि हुई है तथा होगी, किन्तु शास्त्रसम्राट श्रीमद्भागवत कह रहे हैं–

स वै पंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ।।

जगत में जितने भी मत, उतने पथ–सभी अक्षजज्ञानप्रसूत मत या उनके अनुकूल पथ हैं । किन्तु श्रीहरि के प्रति जो अप्रतिहता तथा अहैतु की भक्ति है, वही समस्त जीवों का परमधर्म या आत्मधर्म है । आत्मा केवल इसी के द्वारा ही प्रसन्न होती है । अन्यान्य धर्ममतों तथा पथों के द्वारा देह या मन की कुछमात्रा में प्रसन्नता होने के कारण देहधर्मी या मनोधर्मी मानव इन सब प्रेयःमत या प्रेयःपथ को ही असली मत या पथ मान लेते हैं ।

सत्य सत्य Living source से परमसत्य की कथाओं को सुनना चाहिए, तभी जीव का नित्य वास्तव चरम मंगल हो सकता है । अन्यथा मनुष्य प्रतिमुहूर्त ही विपथगामी होगा ।

427 **प्र०–क्या शुद्धभक्तों के संग की विशेष आवश्यकता है ?**

उ०–निश्चय ही । कनिष्ठ अधिकारी या कोमल श्रद्धावाले व्यक्ति वास्तव में श्रीमूर्ति की उपासना नहीं समझ सकते । उनकी श्रीमूर्ति में प्राकृत या जड़बुद्धि सम्पूर्णरूप से दूर नहीं होती । वे भक्तों के प्रकृततत्त्व या मर्यादा को समझ नहीं सकते । इसीलिए साधुगुरु कोमल श्रद्धावाले कनिष्ठाधिकारियों को शुद्धभक्तों का संग करने के लिए कहते हैं । शुद्धभक्तों के संग के बिना मानव का कभी भी नित्य वास्तव चरम मंगल नहीं हो सकता और न ही उनकी यथार्थ मूर्तिपूजा होती है ।

428 **प्र०–कोई कोई कहते हैं कि श्रीमूर्तिपूजा एक means to an end अर्थात् साध्य प्राप्त करने का उपायमात्र है, क्या यह बात ठीक है ?**

उ०–कभी नहीं । यह भी एक प्रकार का प्रकाण्ड Blasphemy (अपराध) है । श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है–

प्राकृत करिया माने विष्णु कलेवर ।
विष्णुनिन्दा नाहि आर इहार उपर ।।

ईश्वरेर श्रीविग्रह – सच्चिदानन्दाकार ।
से विग्रहे कह – सत्त्वगुणेर विकार ।।
श्रीविग्रह ये ना माने सेइ त पाषण्ड ।
अस्पृश्य, अदृश्य सेइ या यमदण्डय ।।

अर्थात् यदि कोई विष्णु के कलेवर या मूर्ति को प्राकृत अर्थात् जड़ मानता है, तो इससे अधिक विष्णुनिन्दा और नहीं हो सकती । ईश्वर का विग्रह सच्चिदानन्दमय होता है, जो इस विग्रह को मायिक सत्त्वगुण का विकार कहता है तथा जो श्रीविग्रह को नहीं मानता, वह पाषण्डी है । वह अस्पृश्य, अदृश्य है तथा वह यमराज के दण्ड का अधिकारी है ।

विष्णुमूर्ति चिन्मयी होती है, अन्यान्य देवताओं की भाँति मानवकल्पित नहीं होती । शास्त्र कहते हैं–

नाम, विग्रह, स्वरूप – तिन एकरूप ।
तिने भेद नाहि, तीन चिदानन्दरूप ।।

अर्थात् भगवान का नाम, उनका विग्रह और उनका स्वरूप तीनों एक समान हैं, उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है । तीनों ही चिदानन्दरूप होते हैं ।

कृष्णविग्रह साक्षात् कृष्ण ही हैं । श्रीविग्रह भगवान का अर्चा – अवतार है । हमारे हृदयदेवता ही कृपाकर बाहर में श्रीमूर्ति के रूप में प्रकाशित होते हैं ।

429 **प्र० – आचार्य कौन हैं ?**

उ० – आचार सवं प्रचार – परायण भगवद् – भक्त ही आचार्य हैं । आचार्य निरपेक्ष और मुक्त होते हैं । वे स्वयं सम्पूर्णरूप से असत्संग त्याग और निरन्तर कृष्णचर्चा का महान आदर्श दिखाकर जो निर्भीक तथा निरपेक्षरूप से सभी को असत्संगत्याग की बात कहकर उनका असत्संग छुड़ा सकते हैं, वे ही आचार्य हैं ।

यदि प्राण न दिया जाय, तो प्रचार नहीं हो सकता । जो प्राण दे सकते हैं, वे ही प्रचार कर सकते हैं ।

430 **प्र० – परतन्त्र जीव की स्वतन्त्रता कहाँ से आयी ?**

उ० – हमलोग सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान के अणु चिदंश हैं । इसीलिए पूर्ण वस्तु भगवान के गुण हममें अणुमात्रा में विद्यमान हैं । कृष्ण में पूर्णस्वतन्त्रता है तथ जीव में आंशिकरूप में स्वतन्त्रता है । विमुखता दो प्रकार की हो सकती है – एक भोगोन्मुखी तथा दूसरी त्यागोन्मुखी । पथ दो हैं – एक जड़विलास का

पथ तथा दूसरा चिद्विलास का पथ । कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष या तटस्थ अवस्था में स्थित नहीं रह सकता । वह या तो भोगों की ओर, नहीं तो भगवान की सेवा की ओर जाता है ।

यदि सब समय भजन किया जाय, तो माया का आवरण नहीं रह सकता । भजन सब समय होना चाहिए । भजन में किसी प्रकार का छिद्र या दोष होने पर वहीं से उसी छिद्र या दोष का आश्रयकर माया हमें विपत्ति में डाल देती है ।

431 **प्र० – हमारा प्रभुत्व अभिमान या भोक्ता अभिमान कब कटेगा ?**

उ० – जबतक हम भगवत्सेवक अभिमान में प्रतिष्ठित नहीं हो जाते, जबतक हमारे हृदय में वैष्णवी प्रतिष्ठा नहीं आ जाती, तबतक हम जगत को अपने भोग्य वस्तु के रूप में देखते हैं, जिससे 'ईशावास्य' जगत् दर्शन नहीं होता । ऐसी अवस्था में प्रभुत्व का अभिमान हमारे बुद्धि मे घुसा रहता है । हमारी भोग की प्रवृत्ति – हमारी दुर्बुद्धि दूर हो सकती है, केवल दिव्यज्ञान के द्वारा ।

432 **प्र० – हमारी भगवान के प्रति निर्भरता क्यों नहीं आ रही है ?**

उ० – जब तक अपनी शक्ति के ऊपर, अपनी आत्मम्भरिता के ऊपर, अपनी अभिज्ञता के ऊपर निर्भर रहने की बुद्धि रहती है, तबतक मनुष्य भगवान के चरणों में शरणागत नहीं हो सकता । प्रपत्ति या शरणागति न आनेतक हम आरोहवाद को ही महत्व देंगे । जब हमें अनुभव होगा कि हमारी शक्ति अति तुच्छ है, हमारा अहंकार किसी काम का नहीं है तथा हमारी चेष्टाएँ व्यर्थ हैं, तभी हम शरणागत होकर अवरोहवाद को ग्रहण कर सकेंगे । जब हमारे हृदय में भगवान के आश्रय की महिमा उदित होती है, तभी शरणागति या अवरोहवाद हृदय में उदित होता है । अतः जो जहाँ पर है, वहीं पर रहकर साधु (कृष्णभक्तों के) मुखद्वार से अवतीर्ण वैकुण्ठवार्ता (हरिकथा) को श्रवण करना चाहिए । तभी सभी समस्याओं का समाधान हो सकेगा तथा भगवान के प्रति निर्भरता आ जायेगी ।

433 **प्र० – भगवान कौन हैं ?**

उ० – भगवान अधोक्षज वस्तु हैं । अधोक्षज शब्द का अर्थ है – जड़ इन्द्रियों से अतीत Godhead is He who has reserved the absolute right of not being exposed to present human senses. उसी को भगवान कहते हैं, जो कभी मनुष्य या प्राणीजगत के

भोगोन्मुख जड़ इन्द्रियों के अधीन नहीं होते । उन्होंने यह अधिकार सम्पूर्णरूप से अपने ही हाथ में रखा है ।

434 **प्र०–जीव बद्ध क्यों हुआ ?**

उ०–जीव की free will है, अर्थात् जीव की स्वतन्त्र इच्छा है । उसी का अपव्यवहार होने के कारण वह बद्ध हो गया है ।

435 **प्र०–तो "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुढ़ानि मायया।।" (अर्थात् कृष्ण ही परमात्मा के रूप में समस्त जीवों के हृदय में अवस्थित हैं। यन्त्रारूढ़ वस्तु जिस प्रकार घूमती रहती है, उसी प्रकार समस्त जीव ईश्वर के नियन्त्रण में धर्मवशतः जगत में घूमते रहते हैं।) गीता के इस वाक्य की सार्थकता ही क्या रही?**

उ०–गीता का यह श्लोक तो इसी बात का समर्थन कर रहा है। विष्णु ही समस्त जीवों के नियन्ता हैं तथा ईश्वर हैं। जीव जो-जो कर्म करते हैं, ईश्वर उसी के अनुरूप उन्हें फल प्रदान करते हैं । जीव हेतुकर्त और भगवान प्रयोज्यकर्ता है । अपने द्वारा किये गये कर्मों का कर्ता होकर फलभोग के

अधिकारी होते हैं एवं भावी कर्मों के उपयोगी होते हैं। वास्तव में उन समस्त फलभोगों में एवं कार्यकरण में प्रयोज्यकर्ता के रूप में ईश्वर का ही कर्तृत्व है। ईश्वर फलदाता हैं तथा जीव फलभोक्ता है।

436 **प्र०–क्या जीव स्वतन्त्रता का सद्व्यवहार या असद्व्यवहार भगवान की प्रेरणा से करते हैं ?**

उ०–यदि भगवान की प्रेरणा से होता, तो उसके द्वारा भगवान की ही सेवा होती, भगवान की विस्मृति नहीं होती।

437 **प्र०–तो फिर सबकुछ भगवान की इच्छा से ही होती है या सभी भगवान की कृपा है–यह सिद्धान्त कैसे हो सकता है?**

उ०–श्रीमद्भागवत इसका उत्तर दे रहे हैं–

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्।।

अर्थात् जो व्यक्ति अपने किये कर्मों के फल को भगवान की कृपा मानता है और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे

निर्विकार मन से भोग करते हुए तन-मन-वचन से स्वयं को भगवान के चरणों में समर्पित करता हुआ जीवन धारण करता है, वे ही मुक्ति के आश्रयस्वरूप इन चरणकमलों के अधिकारी हैं ।

इस जगत से जिसकी छुट्टी पाने की योग्यता हो गयी है, वह विचार करता है कि यदि परम मंगलमय भगवान के ऊपर दोषारोप करूँ तो सेवा प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण मैं कभी भी माया से मुक्त नहीं हो पाऊँगा। किन्तु जो सेवोन्मुख होकर समस्त असुविधाओं को भगवान का अनुग्रह या दया मानकर भगवान के प्रति और भी अधिक आकर्षित हो जाते हैं, वे ही अनायास ही मुक्तिपद के अधिकारी होते हैं।

438 **प्र०—हम लोग जो पाप करते हैं, क्या वह भी भगवान की दया है?**

उ०—नहीं, ऐसा नहीं है। पाप करने की प्रवृत्ति हमलोगों की परीक्षा के लिए ही रखी है। जिस प्रकार शिशु की रुचि की परीक्षा के लिए माता-पिता उसके सामने पैसा, अन्न, भागवतशास्त्र आदि रखते हैं तथा शिशु अपनी रुचि के अनुसार ही ग्रहण करता है। दया के सागर भगवान बहिर्मुख मानव की बुद्धि के अनुसार निर्दय जैसे लगते हैं। किन्तु दयामय भगवान का सभी कुछ उसी प्रकार दया ही है, जिस प्रकार पिता का चुम्बन तथा थप्पड़ दोनों ही शिशु के प्रति दया है। यदि भगवान की दया दण्ड जैसी लगे तो समझना चाहिए कि Serving temper (सेवोन्मुखता) या Attraction for God (भगवान के प्रति अनुरक्ति) में कमी आ रही है। भगवान सभी के आश्रय हैं। जो उनके पास यह आशा लेकर जाता है कि मैं भगवान का आश्रय पाऊँगा, भगवान अपने प्रति उसकी अनुरक्ति की परीक्षा लेने के लिए उसे अनेक कष्ट प्रदान करते हैं। डाक्टर ने छूरी से मेरे फोड़े को काट दिया, इससे यदि मैं उसे निर्दय मान लूँ, तो यह मेरी भूल होगी। उसी प्रकार अज्ञ लोग अपने असली मंगलाकांक्षी भगवान को अमंगलकारी तथा निर्दय मानने की भूल कर बैठते हैं। माया ने इस जगत में नाना प्रकार की प्रलोभन की वस्तुएँ सजाकर रखी हैं। हम उन वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होकर कभी स्वेच्छाचारी असत्कर्मी, कभी लोगों के कल्याणजनक कार्य करने के नाम पर सत्कर्मी हो जाते हैं। कभी हम निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान को ही अच्छा मानने लगते हैं । तथा कभी शाक्यसिंह बुद्ध एवं शंकराचार्य के मत का आदर करते हैं । इन सबके द्वारा हमारा मंगल नहीं होगा। जीव का मंगल तो केवल भगवान की कथाओं में नियुक्त होने पर ही होगा। इसके अतिरिक्त

कल्याण का अन्य कोई उपाय नहीं है। भगवान किसी की भी स्वतन्त्रता में बाधा नहीं देते। वे चेतनधर्म के हन्तारक नहीं हैं। यदि वे चेतना के वैशिष्ट्य में बाधा देते, तो यह उनकी निर्दयता का ही परिचय होता । वे केवल चेतनवृत्ति को चेतनवृत्ति के सत् एवं असत् व्यवहार के विषय में ज्ञानमात्र प्रदान करते हैं। वे ही श्रीचैतन्य के रूप में बता रहे हैं - जैमिनि ऋषि के अभ्युदयवाद तथा शंकराचार्य के निर्भेद - ब्रह्मानुसन्धान की बातों के प्रति आकृष्ट मत होओ। उसमें चेतनता या स्वतन्त्रता का सद्व्यवहार नहीं है । हमें वही कर्म करने चाहिए, जिनसे भगवान की सेवा होती है। जिनमें भगवान की सेवा नहीं हो, ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए ।

439 **प्र० – हम अन्य कार्यों में क्यों व्यस्त हो रहे हैं?**

उ० – हमारे भाग फूट गये हैं। इसीलिए हम भगवान की सेवा छोड़कर अन्य कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं। भगवान की सेवा ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है, यह अटल सत्य हमारी बुद्धि में घुस नहीं रहा है। इसीलिए भगवान की सेवा की अपेक्षा अन्य कार्यों को ही हम श्रेष्ठ मान रहे हैं। बार - बार साधुसंग करने पर भी हमारी यह भूल दुर नहीं हो रही है। बहिर्मुख होने के कारण हमारी प्रवृत्ति माया में बद्ध होने की हो गयी है, जिस प्रकार मछली मछुआरे के द्वारा डाले गये चारा को खाती है। जो सब स्त्री - पुत्र - कन्या आदि का संग फिर कभी भी सम्भव नहीं है, उनके भोग के लिए ही हम अपना अमूल्य समय नष्ट करते हैं, सिर का पसीना पैरों में बहाकर भी हम उनके भोग का इन्धन जुटाते हैं। हम आम का पेड़ लगाते हैं, बहुत कष्टपूर्वक विषय - सम्पत्ति खरीदते हैं, परन्तु उसका फल हमें नहीं, किसी अन्य को ही प्राप्त होगा, जिसके साथ फिर कभी हम नहीं मिल पायेंगे, जो हमारे द्वारा कष्टपूर्वक अर्जित सम्पत्ति को एक दिन उड़ा देगा।

निर्भीक होकर जो निरपेक्ष सत्य कथा बोलता है, शत-शत जन्मों के बाद तथा शत-शत युगों के बाद भी कोई न कोई इसका निगूढ़ सत्य तत्त्व समझ सकता है । शत-शत गैलन रक्त खर्च न होने पर्यन्त एक व्यक्ति को भी सत्यकथा समझायी नहीं जा सकती ।

श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'